-: सर्वोदय साहित्य माला : तिहत्तरवाँ ग्रन्थ :-

# मेरी कहानी

[ पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा ]

हिन्दी-सम्पादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

नस्करण
अक्तूबर १९३६ . ३०००
नववर १९३६ ३०००
सस्ता संस्करण
अक्तूबर १९३८ ४०००
मूल्य
ढाई रुपये

मुद्रक—
एन एन भारती,
'हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस'
नई दिल्ली।

कमला को

—जिसकी अब याद ही रह गई—

# तीसरे संस्करण के लिए

मुझे खुशी है कि 'मेरी कहानी' का तीसरा सस्करण, और सो भी बहुत सस्ता, इतनी जल्दी प्रकाशित करने का दिन आगया। यह इसकी लोक-प्रियता का अच्छा प्रमाण है। इसमें मैंने नीचे लिखे मुताबिक सुधार करने और वढाने की कोशिश की है—

१—पिछले सस्करणो मे जहाँ-कही सख्त उर्दू-फारसी के शब्द आगये थे उनकी जगह वोलचाल की हिन्दी के शब्द डाले गये हैं।

२—श्री महादेव देसाई ने गुजराती अनुवाद में वहुत उपयोगी फुटनोट दिये हैं, जिनसे वहुत-सी वाते साफ हो जाती हैं। उनमे से अधिकाश इस सस्करण मे जोड दिये गये है।

३—कुछ पद्यानुवाद वदल दिये गये हैं और कुछ नये दाखिल किये गये हैं।

इतनी विशेपताओ के वाद भी इस सस्करण का दाम सिर्फ २।।) रक्खा गया है। आशा है, मण्डल के इस उद्योग की हिन्दी-भाषी भाई-वहन यथोचित कद्र करेगें।

इसे सस्ता वनाने मे श्री जवाहरलालजी ने अपनी रॉयल्टी आधी करके तथा 'हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस' ने छपाई के दर मे कमी करके मण्डल को जो सहायता पहुँचाई है उसका मण्डल वहुत कृतज्ञ है। श्री महादेवभाई के गुजराती अनुवाद से मैंने जो पूर्वोक्त लाभ उठाया है उसके लिए उनका भी अभार प्रदर्शित करना जरूरी है।

इस सस्करण की तैयारी में मुझे अपने साथी श्री सुधीन्द्र वी० ए० 'साहित्यरत्न' की भी ठीक सहायता मिली है।

गाधी-जयन्ती
चरखा द्वादशी, १९९५

हरिभाऊ उपाध्याय

# पहले संस्करण की भूमिका

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठको के हाथो में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मै अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ में नही आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूँ। एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत नही अच्छा रहता, फिर दूसरी ओर जिम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में श्री जवाहरलाल जी की 'आत्म-कथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की जिम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनो संस्करणो के अनुवाद और संपादन के बाद ही यह जिम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन् उसे स्वीकार कर लिया और इस खयाल से कि काम जल्दी और समय पर खत्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी खत्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मै डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुलशङ्करजी असावा तथा भाई शङ्करलालजी वर्मा (मन्त्री-

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'कांग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनो के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मै इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (असेम्बली सदस्य) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गी (प्रधान मत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेन्च उद्धरणो का अग्रेजी भाषान्तर स्वय मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (गवालियर) ने किया है। इसके लिए मै इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादो का सशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटविहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-सशोधन और कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी सशोधन आदि में शुरू से ही सहायता दी है। अत इन दोनो का भी मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में भी। मै सरल और बोल-चाल की भाषा—जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के जरिये मै उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफसोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मै शुरू से अखीर तक उसे निवाह न सका। फिर

भी जहाँ तक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा ख़याल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कहीं-कहीं ग़लतियाँ और मतभेद की आशंका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठकों से मेरा अनुरोध है कि जो भूलें उनकी निगाह में आवें उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मिहरबानी करें, जिससे दूसरे संस्करण में उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढ़ि-ग्रस्त लोगों को यह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फ़ार्म ख़ुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आई तो मुझे बड़ा सन्तोष मिलेगा; क्योंकि मैं वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को, पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूँ।

गांधी-आश्रम, हटूंडी (अजमेर)
गांधी जयन्ती १९३६

हरिभाऊ उपाध्याय

# प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ एकाध आखिरी बात और चन्द मामूली ह्रेरफेर के अलावा, जून १९३४ से फरवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का खास मकसद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊं, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनो की हिन्दुस्तान की उन घटनाओ की ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढनेवालो का खयाल रखकर जो मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नही है, लेकिन अगर पढनेवालो का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगो का आया है। विदेशी पाठको का खयाल करके लिखता तो शायद मैंने इससे मुख्तलिफ रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातो पर ज्यादा जोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातो को इसमें मैंने यो ही टाल दिया है, उन-पर जोर देता, और दूसरी जिन बातो को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हे महज सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालो को उनमें से ज्यादातर बातो से दिलचस्पी न हो जिन्हे मैंने तफसील में लिखा है और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बाते हो जिनके लिए बहस-मुबाहसे की कोई गुजाइश नही है, लेकिन मै समझता

हूँ कि आज के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्त्व जरूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलो और व्यक्तियों के बारे में बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवत बाहरवालो के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढते हुए, इस बात का खयाल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय मे लिखी गई है जो मेरी जिन्दगी का खास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूँ, क्योंकि दूसरो को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावो का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग उठते थे। इसमें जहाँ तक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नही। यह बात कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कही अधिक महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक है। इसलिए मैं यह चेतावनी देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकांगी—इकतर्फा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ की बिलकुल उपेक्षा करदी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियो का जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नहीं हो पाया है। किन्ही बीती हुई घटनाओ के असली विवेचन में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे नजदीक भूतकाल की घटनाओ का ठीक-

ठीक अध्ययन करना चाहते है, उन्हे इसके लिए किसी दूसरे साधनो का सहारा लगाना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथायें उन्हे छूटी हुई कडियो को जोडने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सके।

मैंने अपने कुछ साथियो की, जिनके साथ मुझे बरसो काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है, साथ ही समुदायो और व्यक्तियो की भी शायद और भी कडी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमे के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नही सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामो मे पडते है, उन्हे आपस मे एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते है, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी मे डालनेवाले प्रश्नो को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते है, और न अपने सामने की समस्याओ का मर्म ही जान सकते है आपस के मतभेदो और उन सब बातो के प्रति, जिनमें मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यो न हो, मुकाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमे किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नही है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओ के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल में मै न तो इस स्थिति मे था कि इनकी इच्छी तरह विवेचना कर सकूं, न मै अपने मन मे यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने इसमें उस सम्बन्ध में कुछ

बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्रमात्र रह गई है।

बेडनवीलर,
२ जनवरी, १९३६।

# विषय-सूची

# मेरी कहानी

# कश्मीरी घराना

"अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी। क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और अगर अपनी तारीफ करें, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम कोली

माँ-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो, यों भी वह सिर पर चढ़ जाता है—फिर हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा। और जब लड़का ऐसा हो जो शुरू के ११ साल तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर दुलार की खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहनें हैं, जो उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी है और हम हरेक के बीच मे काफी साल का फर्क है। इस तरह अपने बचपन मे मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हम-उम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ, क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नही भेजा गया। मेरी पढ़ाई की जिम्मेदारी खानगी मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर मे किसी तरह का अकेलापन न था। हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमे चचेरे भाई वगैरा और दूसरे नजदीकी रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारों में आमतौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र मे मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज मे पढ़ते थे। उनकी

नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक नहीं हुआ था। इस तरह इतने बड़े परिवार में, मैं और भी अकेलापन महसूस करता था और ज्यादातर अपने ही खयालों और खेलों में ही मुझे अकेले अपना वक्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज्यादा हुए होंगे १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे दौलत और नामवरी हासिल करने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों में उनका बड़ा नाम था। फ़र्रुखसियर जब कश्मीर गया, तो उसकी नज़र उनपर पड़ी। और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। यह १७१६ के आस-पास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका खानदानी नाम था वह बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल ग़ायब हो गया और हम सिर्फ़ नेहरू रह गये।

इसके बाद ऐसा डावाँडोल ज़माना आया कि जिसने हमारे कुटुम्ब के जीवन में उतार-चढ़ाव आये, जिनमें वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के बादशाह के नाम-मात्र के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के ग़दर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भरी-जवानी में ही वह मर गये थे।

१८५७ के ग़दर से दिल्ली से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम कागज़ात और दस्तावेज़ तहस-

नहम होगये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोडनेवाले और कई लोगो के साथ वहांसे चल पडा और आगरे जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अंग्रेजी जानते थे। इस अंग्रेजी जानने की बदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक मौत,से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगो के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चो का हुआ करता है। इत्तिफाक से कुछ अंग्रेज सिपाही उन्हे रास्ते में मिले। उन्हे शक हुआ कि, हो-न-हो, यह लड़की किसी अंग्रेज की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनो सरसरी तौर पर मुकदमा करके सजा ठोक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नजदीकी पेड पर जरूर फांसी पर लटका दिये गये होते। मगर खुश-किस्मती से मेरे चाचा के अंग्रेजी जानने ने मदद की, जिससे इस फैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख्स गुजरा, जो मेरे चाचा वगैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरो की जान बचाई।

कुछ बरसो तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को मेरे पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने के बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमें वह मुगलो का दरबारी लिबास पहने और हाथ मे एक टेढी तलवार लिये हुए हैं। उनमे वह एक मुगल सरदार-से दिखाई देते है, हालांकि उनकी सूरत-शकल कश्मीरियों की-सी ही थी।

१. एक अजीब और मजेदार संयोग है कि कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए हैं।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आ पडी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफी बडे थे। बडे चाचा बंशीधर नेहरू, थोडे ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगो से बहुत-कुछ जुदा पड गये। छोटे चाचा नन्दलाल नेहरू, राजपूताना की एक छोटी रियासत, खेतडी के दीवान हुए और वहां दस बरस तक रहे। बाद में उन्होने क़ानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनो का आपस में बडा प्रेम था और उसमें बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावत मेरी दादी के बहुत लाडले थे। वह बूढी थी और बडी दबंग भी। किसी की ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे, मगर बूढी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बडी जोरदार औरत थी। अगर किसीने उनकी मर्जी के खिलाफ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिए।

मेरे चाचा नये हाईकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तब से इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और यहीं, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचा जी की वकालत धीरे-धीरे चलती गई और वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के बडे वकीलों में गिने जाने लगे।। इस बीच मेरे पिता भी कानपुर में और इलाहाबाद के कॉलेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उनको अरबी फारसी और उर्दू की तालीम दी गई थी। अंग्रेजी की शिक्षा काफी बडी उम्र के बाद शुरू हुई। [illegible] फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे

और अरवी में भी कुछ दखल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्जत से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाकत हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज मे वह ज्यादातर हँसी-खेल और घूमामस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हे सजीदा विद्यार्थी किसी तरह नही कह सकते थे। पढने-लिखने की वनिस्वत खेल-कूद और शरारत का शौक वहुत था। कॉलेज में सरकश लडको के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिवास की तरफ हो गया था, और सो भी उस वक्त जव कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और वम्वई जैसे वडे शहरो को छोडकर इसका चलन नही हुआ था। वह तेज-मिजाज और अक्खड थे, तो भी उनके अँग्रेज प्रोफेसर उनको वहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलो से वचा लिया करते थे। वह उनको स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी वुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास मे भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से वाद अक्सर वह अपने एक प्रोफेसर का जिक्र प्रेम-भरे शब्दो में किया करते थे। यह थे मि॰ हैरिसन, जो म्योर सेन्ट्रल कॉलेज इलाहावाद के प्रिन्सिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होने वडे जतन से सम्हालकर रक्खी थी। यह उन दिनो की है, जव कि वह कॉलेज मे पढते थे।

कॉलेज की परीक्षाओ मे वह पास होते चले गये। मगर कोई खास नामवरी उन्होने हासिल नही की। आखिर को वी॰ ए॰ के इम्तिहान में वैठे। मगर उसके लिए उन्होने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला परचा किया तो उससे उन्हे विलकुल सन्तोप नही हुआ। उन्होने सोचा, जव पहला ही परचा विगड गया है तो अव पास होने की क्या उम्मीद? उन्होने वाकी परचे किये ही नही और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनो विश्वविद्यालय की परीक्षाये आगरा मे हुआ करती थी)। मगर वाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हे वुलाया और

बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला परचा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफ़ी की जो आगे के परचे नहीं किये। ख़ैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए ख़तम हो गई और बी० ए० पास करना आख़िर रही गया।

अब उन्हें काम-धंधा जमाने की फ़िक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुञ्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्णपदक भी मिला। क़ानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की ज़िला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोड़कर मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मज़ा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक़्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का ख़ास शौक़ था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगल के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मेदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचा पण्डित नन्दलाल साहब गुज़र गये। इससे पिताजी को ज़बरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुज़र जाने से परिवार का एक मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परि-

वार की ओर पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्राय सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इस लिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हें मिल गये और उन्हें उनमें अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गई। मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती सफलता में नामवरी हासिल करली, परन्तु उसकी कीमत उन्हें यह देनी पड़ी थी वकालत पेशे के ही मानो अधीन होगये। उनके पास न सार्वजनिक और न खानगी कामों के लिए वक्त रहता था—यहां तक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेजी-दाँ लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचने में लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और, जहां तक विचारों से ताल्लुक है, वह कांग्रेसवादी रहे। उसके कामों में वह कोई खास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक्त नहीं था। हां, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कामों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नहीं। उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था न [illegible] इनकी [illegible] जानकारी ही थी। [illegible] और [illegible] में शामिल होना नहीं, [illegible], जिसमें [illegible] किसी दूसरे के इशारे पर चलना पड़ता हो। [illegible] [illegible]

गर्व और आत्मावलम्बन का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक़्क़तों का मुक़ाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपने को बचाये रखते थे। और उन दिनों तो कांग्रेस में लड़ाई का मौक़ा भी बहुत कम था। बात दर असल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी पर अपना पैर मज़बूती से जमा लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे और वह किसी की मेहरबानी से नहीं, और न किसी की ख़िदमत करके, बल्कि ख़ुद अपने दृढ़ संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेज़ों और उनके तौर-तरीक़े के क़द्रदाँ भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसीके लायक़ हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज़्यादा वे और कर ही क्या सकते थे। हाँ, एक और खयाल भी उनके दिमाग़ में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज़्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढ़ी नहीं कि ख़र्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानो जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से

नहीं होते थे, उनपर भी अंग्रेज लोग अपना कब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नहीं घुसने देते थे। सार्वजनिक बगीचों और दूसरी जगहों में भी बेञ्चें और कुर्सियां रिज़र्व रक्खी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता तो मुझे बड़ी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे एक चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेजों से और ज्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक था। यूरेशियन तो अपने को शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज अफसरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते थे। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफर में हुआ करते थे।

हालांकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहांतक मुझे याद है, किसी अंग्रेज के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकायें अंग्रेज थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेजों की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। दिनभर काम में पड जाने और उनके बीच दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी जबरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं पर्दे की ओट में छुपकर और इन लोगों की ओर झांकता और यह जानने की कोशिश करता कि ये बड़े लोग आपस में क्या-क्या कहा करते हैं। अगर उस वक्त ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो मैं

खींचकर बाहर लाया जाता और, मैं सहमा हुआ, कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास दौड़ा गया, और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं।"

मैं पिताजी की बहुत इज्जत करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरों के मुकाबिले में इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं भी अपने दिल में यह मनसूबे बाधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहाँ मैं उनकी इज्जत करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे डरके काँपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह बर्ताव होता था, उसके प्रति मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा भी आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनों में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशकिस्मती से उनमें हँसी-मजाक का माद्दा बड़े जोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपपर जब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई उनकी सयम-शक्ति भी बढ़ती गई। और फिर शायद ही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५–६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज मैंने पिताजी की मेज पर दो फाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी

ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़े ज़ोरों की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। आखिर पेन मिल गया और मैं गुनहगार करार दिया गया। पिताजी बहुत गुस्सा हुए और मेरी खूब जी भर के मरम्मत की। आखिर पिटकर शर्म से अपना-सा मुँह लिये मैं माँ की गोद में दौड़ा गया। पिटा इतना था कि कई दिन तक मेरे बदन पर क्रीम और मर-हम लगाने पड़े थे।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूँ मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो मुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमें और शामिल होगया था। मगर माँ के साथ ऐसा न था। उससे मैं बिल्कुल नहीं डरता था। क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब कुछ किये-धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं माँ को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी ख़याल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, कद में छोटी और नाटी थीं और मैं जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊँचा होगया था और अपने को उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी माँ के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

एक और शख्स जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुंशी मुबारक अली थे। वह बदायूं के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेजी फौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और खासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आंखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खज़ाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफ-लैला के और दूसरे किस्से-कहानियां या १८५७ और १८५८ की गदर की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी इन्तकाल कर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथायें भी मैं सुना करता था, जोकि मेरी मां और चाचियां सुनाया करती थी। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थी। उनके पास इन कहानियों का तो मानो खज़ाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक बातों और दन्तकथाओं की मुझे काफी जानकारी होगई थी।

धर्म के मामले में मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्त्व नहीं देते थे। हां, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थी। हालांकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखा-देखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी

कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ आता था। कभी-कभी मैं अपनी माँ या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली, जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियाँ चलाते थे, दिवाली, रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारों दीये जलाये जाते, जन्माष्टमी, जिसमें कि जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगाठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था), दशहरा और रामलीला, जिसमें कि स्वाँग और जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नकल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मरसियें गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहनकर बड़ी मसजिद में नमाज के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सिवैयाँ और दूसरी बढ़िया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षा-बन्धन, भैया-दूज वगैरा छोटे त्योहार भी हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्योहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मानते। इनमें खास नौरोज यानी वर्ष-प्रतिपदा का त्योहार है। उस दिन हम सब नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े [illegible] से हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे लिया करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवो मे मुझे एक सालाना जलसे में ज्यादा दिलचस्पी रहती थी, जिसका खास मुझीसे ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गाठ का उत्सव। इस दिन मै बडे उत्साह और रग मे रहता था। सुबह ही एक बडी तराजू मे मैं गेहूँ और दूसरी चीजो के थैलो से तोला जाता और फिर वे चीजे गरीबो को बाँट दी जाती और बाद को नये-नये कपडो से सजा-धजाकर मुझे भेट और तोहफे नजर किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता था। मगर मुझे इस बात का बडा दु ख होता था कि वर्ष-गाठ साल में एक बार ही क्यो आती है ? वास्तव मे मैंने इस बात का आन्दोलन खडा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाठ के मौके बरस में एक बार ही क्यो और अधिक क्यो न आया करे ? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्षगाठे हमको अपने बुढापे के आने की दु ख-दायी याद दिलाया करेगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्ते-दार या किसी दोस्त की शादी मे बरात भी जाया करते। उस सफर में बडी धूम रहती। शादी के उत्सव में हम बच्चो की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थी और हम आजादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने मे कई कुटुम्बो के लोग आकर रहते थे और उनमे बहुतेरे लडके और लडकियाँ भी होती थी। ऐसे मौको पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बडे-बूढो की डाँट-फटकार भी जरूर पड जाती थी।

हिन्दुस्तान मे क्या गरीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियो मे धूम-धाम और फजूल-खर्ची करते हैं उनकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़जूल-खर्ची के अलावा उसमे बडे भद्दे ढग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमे न कोई सुन्दरता होती है, न कला।

(कहना नहीं होगा कि इसमें अपवाद भी होते हैं) इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज़ लेकर फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी मुफ़लिसी उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी बड़ी उदास नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौक़ा मिल जाता है, जोकि उनकी मेहनत-मशक़्क़त के रेगिस्तान में एक झरने का काम देता है। रोज़मर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द-उछाह दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौक़े मिलते हैं उनको ऐसा कौन निष्ठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा? हाँ, फ़िज़ूल-ख़र्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहख़र्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ़्ज़ हैं ये जो इस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, जिसे ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज़्यादा उदास और हँसी-ख़ुशी से ख़ाली मत बनाइए।

यही बात मध्यमश्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़िज़ूल-ख़र्ची को छोड़ दें तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है और यहाँ अपने सगे-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए लोग शादी के जलसों को जारी रखना चाहते हैं। इस और बेशक उस मुक़ाबिले की है और कुछ हालतों में भी, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे

आगे निकल गई हैं। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या कांग्रेस की बैठके।

और लोगो की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत मे, कश्मीरियो को एक खास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज, स्त्री-पुरुषो को एक दूसरे से न मिलने-जुलने देने का रिवाज, कभी नही रहा है। मैदान मे आने पर, वहाँ के रिवाज के मुताबिक, दूसरो से और गैर-कश्मीरियो से जहाँ तक ताल्लुक है, उन्होने इस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते है, उन दिनो यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस मे उन्होने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रक्खा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर मे आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियो की दावतो और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते है। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती है, लडके-लडकियाँ बहुत-कुछ बराबार की हैसियत से मिलते-जुलते है। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पडेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आजादी उन्हे नही थी।

इस तरह मेरा बचपन गुज़रा। कभी-कभी, जैसा कि बडे कुटुम्बो में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगडे हो जाया करते थे। जब वे बढ जाते तो पिताजी के कानो तक पहुँचते। तब वह गुस्सा होते और कहते कि ये सब औरतो की बेवकूफी के नतीजे है। मैं यह तो नही समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है, मगर मै इतना ज़रूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है, क्योकि लोग एक-दूसरे से बिगड़ कर बदमज़गी से बोलते थे और आपस में रूठे रहते थे। ऐसी हालत मे मैं बडा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पडते तो हम लोगो के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों का एक छोटा वाकया मुझे अभीतक याद है। मैं ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफी घबराहट और हलचल मच गई और वहां जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

: ३ :

## थियोसॉफी

जबकि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफी बड़े मकान में आगये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रक्खा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ था और एक तैरने का बड़ा-सा हौज। वहाँ ज्यों-ज्यों नई-नई चीजें दिखाई पड़तीं त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मजदूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज था। मैं तैरना जान गया और पानी में गिरने मुझे जरा भी डर मालूम नहीं होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बे-मौक़ा मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के बहुत दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नई चीज थी और हमारा नया मकान में बिजली की बत्तियां लगाई गई

थी। इलाहाबाद में उन दिनो ये नई बातें थीं। इन नहानेवालो के झुण्ड में मुझे बडा आनन्द रहता था और उनमें जो तैरना नही जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खीचकर डराने में बडा ही लुत्फ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का किस्सा याद आता है, जबकि उन्होने इलाहाबाद-हाईकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नही जानते थे और न जानना ही चाहते थे। वह पन्द्रह इन्च पानी में पहली सीढी पर ही बैठ जाते थे और कसम खाने को एक सीढी नीचे नही उतरते थे, और अगर कोई उन्हे आगे खीचने की कोशिश करता तो जोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नही थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कडा करके हौज के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनो बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमे मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरो की तरफ मेरी हमदर्दी थी। इस लडाई की खबरो को पढने के लिए मैं अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का पैदा होना। मेरे दिल में एक अर्से से एक रज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नही है जबकि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है,तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनो यूरप थे। मुझे याद है कि मैं उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मजाक में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नही हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफान खड़ा कर दिया। यूरप से लौटने पर उन्होंने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी, पण्डित बिशननारायण दर, जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंग्लैण्ड गये थे और वहां से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित्त भी कर लिया तो भी पुराने ख़याल के लोगों ने उन्हें जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी किस्म का ताल्लुक नहीं रक्खा। इससे बिरादरी में क़रीब-क़रीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारक-दल में मिल गये— यद्यपि उन सबको प्रायश्चित्त करना पड़ा था। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उसमें मानो सिर्फ रस्म अदा करना था एक गिरोह [illegible] ... और [illegible] [illegible] [illegible] ... थे।

[illegible]

लोगों को, खासकर बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को, छोड़कर गैर-कश्मीरियों, मुसलमानों तथा गैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज भी अभी बहुत बढ़ा नहीं है—हालांकि दिन-दिन बढ़ती पर है। मेरी दोनों बहनों ने गैर-कश्मीरियों के साथ शादी की और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हंगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, वरिक ज्यादातर वंश-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्त्व के संस्कारों को कायम रक्खें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और गैर हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदेंगे तो इन दोनों बातों को खो देंगे। इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या दरिया में खस के बराबर है।

सबसे पहला कश्मीरी ब्राह्मण, जिसने आधुनिक समय में, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की, वह था मिर्जा मोहनलाल 'कश्मीरी'। (वह अपने को ऐसा ही कहा करते थे) वह बड़े खूबसूरत और जहीन थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की। और जहाँ कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की। मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगों के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से शादी कर ली थी, इसीलिए उनको मिर्जा की उपाधि मिली थी। वह यूरप भी गये थे और तत्कालीन

युवती महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा का बड़ा रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे है।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ़० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फरासीसी या बेलजियन थी। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातो में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी, जो मुझे हिन्दी और सस्कृत पढ़ाने के लिए रक्खे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे बहुत कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हैरो में पढ़ी थी। क़ुसूर तो इनमें मेरा ही था। भाषायें पढ़ने में मेरी गति अच्छी नही थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही न थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत ने मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा, और मैंने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डाली—अलबत्ता बिना किसी उद्देश के। बच्चो और लड़को सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लुई कैरोल[1] की किताबें और किप्लिंग[2] की पुस्तकें मुझे बहुत पसंद थी। डॉन क्विक्ज़ोट[3] पुस्तक में गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभावने मालूम

१. अतिशय कल्पनोत्तेजक बालसाहित्य-लेखक। २ हिन्दुस्तान में जन्मा और भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथायें लिखने वाला एक साम्राज्यभक्त अंग्रेज लेखक। इग्लैण्ड और साम्राज्य विषयक इसकी अंधभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध हो जाता है। ३ यह एक स्पेनिश उपन्यास है जिसमें थोड़ी शक्ति पर हवाई क़िले बाँधनेवाले पात्र का अनुपम चित्र खींचा गया है।

हुए और फिजॉफ नान्सन की 'फारदेस्ट नार्थ'[1] ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाजा खोल दिया। स्कॉट,[2] डिकेन्स[3] और थैकरे[4] के कई उपन्यास मुझे पढे याद है। एच० जी० वेल्स[5] की साहस-कथायें, मार्क ट्वेन[6] की विनोद-कथायें और शार्लाक-होम्स[7] की जासूसी-कहानियाँ भी पढी हैं। 'प्रिजनर्स ऑफ जेन्डा[8]', ने मेरे दिमाग में घर ही कर लिया था। और जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट[9]' से बढकर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नही पढी। दूसरी किताबें भी मुझे याद है। वे है डू मॉरियर[10] की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढी थी, जोकि कई परिवर्त्तनो के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यो से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खडी करली थी और मै घण्टो प्रारम्भिक वस्तु-

१. पेरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुचने के पहले उत्तर में बडी दूर-दूर तक जानेवाला नार्वियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीडितो के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पडा था तब इसने भारी सेवा की थी। इसे शान्ति स्थापना के लिए नोबल प्राइज मिला है। थोडे ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है। २-३-४. प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। ५. प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा लेखक और सुधारक। ६. अमेरिकन हास्य रसज्ञ लेखक ७ कानन डाइल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूस पात्र। ८. एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास। ९. काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक जिसे पढकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते है। इस अंग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। १०—पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक (जिसके पिता फरासीसी और माता अंग्रेज थीं)। इसकी पुस्तके बालकों की कल्पना को उत्तेजित

विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे में थियोसॉफिस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'कामशरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और दिव्य पुरुषों के आसपास दिखाई देने वाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्व' इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लैवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफिस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के धम्मपद, पायथागोरस[१], तयाना के अपोलोनियस[२] और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था, और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है। यहीं से जिन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ से धर्म और परलोक के बारे में गंभीरता से सोचने लगा था। हिन्दू-धर्म, ख़ासकर, मेरी

---

करती हैं। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है।

१. ईसा पूर्व छठी सदी में एक यूनानी तत्ववेत्ता हुआ था। इसे सात्यवादी कह सकते हैं। पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानता था। इसकी दृष्टि में पशुओं के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफरत करते थे।

२. एक यूनानी तत्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते हैं यह हिन्दुस्तान में आया था। यह वेदान्ती था। —अनु०

नज़र में ऊँचा उठ गया था, उसके क्रिया-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे। मुझे 'कामशरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी-बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ मालूम होते हैं और नीचे को सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट सा मुझे दिखाई पड़ता। मैं नहीं जानता कि फ्रूइड[1] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज बेसेण्ट इलाहाबाद आई हुई थीं, और उन्होंने थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता था—अपने आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने में हो। मैं उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाज़त लेने गया तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तब से थियोसॉफिकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक-विश्वास से नहीं बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र जो उनके साथ सोसायटी में शरीक

१. इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानस शास्त्रवेत्ता। —अनु०

हुए थे कायम रहे, और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बना, और खुद मिसेज बेसेण्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया, और कुछ गूढ चिन्हों से परिचित कराया— जो कि शायद फ्री मेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं हर्ष से पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी डाढी बडी भव्य थी।

तीस बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा, और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका खयाल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफ़ी के उन दिनों में मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉ-फ़िस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ, और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी सगत के लायक न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफ़ी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया, और बहुत थोड़े ही अरसे में थियोसॉफ़ी मेरी जिन्दगी से बिल्कुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफ़ी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे ऐसा मालूम होता है कि थियोसॉफ़िस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं। वे खतरे की बनिस्बत आराम

आदमीसे दिखाई देते है। शहीदो के रास्ते जाने की वनिस्वत फूलो पर चलना पसन्द करते है। लेकिन हाँ, मिसेज़ वेसेण्ट के लिए मेरे दिल मे जीता-जागता आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना थी, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लडाई। जापानियो की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मे अखवारो मे ताज़ी खबरे पढने का मुन्तज़िर रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई कितावें मँगाई और उनमें से थोडी-बहुत पढी भी। जापान के इतिहास मे तो मानो मै अपने को गँवा बैठा था, लेकिन पुराने जापान के सरदारो की कहानियाँ चाव से पढता और लाफ्केडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावो से भरा रहता था। मै यूरप के पजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के भावो मे डूवा रहता। मै वडे-वडे वहादुरी के मनसूवे वाँधा करता था, कि कैसे हाथ मे तलवार लेकर मै हिन्दुस्तान को आज़ाद करने के लिए लड़ूँगा।

मै चौदह साल का था। हमारे घर मे रद्दोवदल हो रहे थे। मेरे वडे चचेरे भाई अपने-अपने काम-धन्धो मे लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन मे नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनायें मँडराया करती थी। और स्त्री जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी वढने लगी थी, लेकिन अव भी मै लड़कियो की वनिस्वत लडको के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था, और लडकियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के खिलाफ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतो में—जहाँ सुन्दर लडकियो का अभाव नही रहता था—या दूसरी जगह उनपर कही निगाह पड गई या वदन छू गया तो मेरे रोगटे खडे हो जाते थे।

१ जापानी लेखक जिसने जापान-जीवन के अनुपम चित्र चित्रित किये है। —अनु०

मई १९०५ मे जब मैं पद्रह साल का था, हम इग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, माँ, मेरी छोटी बहन और मैं, चारो एकसाथ गये।

## : ४ :

## हैरो और केम्ब्रिज

मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनो बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनो वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँ के विद्यालयो में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनो वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हैरो में दाखिल होने के लिए मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनो पन्द्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरप के दूसरे देशो की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियो में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बहुत सूना-सूना मालूम पड़ता था और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनो तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की जिन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में मशगूल रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मुझे दिल में यह ख्याल बना रहता कि मैं उन लोगों में से नहीं

हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होगे। कुछ हद तक मै सबसे अलग अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मै खेलो मे पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलो मे मै चमका-चमकाया तो कभी नही, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मै खेल से पीछे हटनेवाला भी न था।

शुरू में तो मुझे नीचे के दर्जे में भरती किया गया क्योकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फौरन ही मुझे तरक्की मिल गई। सम्भवत कई बातो मे, और खासकर आम बातो की जानकारी में, मै अपनी उम्र के लोगो से आगे था। इसमें शक नही कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मै अपने ज्यादातर सहपाठियो से ज्यादा किताबें और अखबार पढता था। मुझे याद है कि मैने पिताजी को लिखा था कि अँग्रेज लडके बडे मट्ठे होते है, क्योकि वे खेलो के सिवा और किसी विषय पर बात ही नही कर सकते। लेकिन मुझे इसमे अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जो मे।

इग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहा तक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर मे हुआ और उसमे लिबरलो की बडी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू मे हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की बाबत कई सवाल पूछे, और मुझे यह देख कर बडा अचरज हुआ कि उस दर्जे मे मै ही एक ऐसा लडका था जो उस विषय पर बहुत-सी बाते बता सका—यहाँ तक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मन्त्रि-मण्डल के सदस्यो की करीब-करीब पूरी फेहरिस्त बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाजो की शुरूआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और सन्तोस डुमो का था। इनके बाद ही फौरन फारमन लैथम और ब्लीरियो आये। जोश में आकर मैने हैरो से पिताजी को लिखा था कि मै हर

हफ़्ते के अख़ीर में हवाई-जहाज़ द्वारा उड़कर अपने हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

इन दिनों हैरो में चार या पाँच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहनेवालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौक़ा मिलता था लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोकप्रिय थे। मेरे जाने के बाद फ़ौरन ही वह वहाँ से चले गये। बाद में महाराजा कपूरथला के बड़े लड़के परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब हैं। यहाँ उनका मेल बिल्कुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीक़ों का मज़ाक़ उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे, और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हें देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस धमकी का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रांसीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीक़े कुछ ऐसे थे, कि फ्रांसीसी भाषा के दर्जे में उनका उस ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस मास्टर साहब यकायक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमें मालूम हुआ कि परमजीतसिंह की सोने की मूँठ की ख़ूबसूरत स्टिक् खो गई है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स मैदान में ईटन और हैरो का मैच हुआ और उसके बाद फ़ौरन ही वह स्टिक् उनके कमरे में रक्खी मिली। ज़ाहिर है, कि किसी

साहब ने मैच मे उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासो मे थोडे से यहूदी भी थे। यो वे मजे मे बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह में उनके खिलाफ यह खयाल जरूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' हैं और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजाने, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियो के खिलाफ कभी कोई भाव न था, और अपने जीवन में आगे जाकर तो यहूदियो मे मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मै हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नही चल सकता। विश्व-विद्यालय मुझे अपनी तरफ खीच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरे आती थी उनसे मै बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेजी अखबारो मे बहुत ही कम खबरे मिलती थी, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश मे, बगाल, पजाब और महाराष्ट्र मे बडी-बडी बाते हो रही है। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पडता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन बातो से मेरे ऊपर भारी असर पडा। लेकिन हॅरो मे एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मै इस बारे की बाते कर सकता। छुट्टियो में मै अपने कुछ चचेरे भाइयो तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तो से मिला और तभी मुझे अपने जी को हल्का करने का मौका मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला था वह जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरीबाल्डी-विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक

मे मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाकी दो किताबें भी खरीद लीं और उनमे गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़ी सावधानी के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आज़ादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हैरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्व-विद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हैरो से सिर्फ दो बरस रहकर वहां से चला गया। यह दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हैरो से ख़ुद अपनी मरज़ी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया तब मुझे बड़ा दुःख हुआ, और मेरी आखों में आँसू आ गये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहां सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह ख़याल आ जाता है कि हैरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था? क्या कुछ हद तक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था कि हैरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकता था, क्योंकि वहाँके वातावरण से घुल-मिल जाने के ख़याल से मैंने उस प्रथा का विरोध कभी नहीं किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू में कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र सत्रह बरस की या अठारह बरस के नजदीक थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अन्डर-ग्रेजुएट हूं, स्कूल के मुकाबिले में यहां मुझे जो चाहूं सो करने की काफी आज़ादी मिलेगी।

मै लडकपन के बन्धन से मुक्त होगया और यह महसूस करने लगा कि आखिर मै भी अब बडा होने का दावा कर सकता हूँ। मै ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनो और उसकी तग गलियो मे चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में मै तीन साल रहा। ये तीनो साल शाँति-पूर्वक बीते, इनमे किसी प्रकार के विघ्न नही पडे। तीनो साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी बहनेवाली कैम नदी की तरह चले। ये साल बडे आनन्द के थे। इनमे बहुत से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढता रहा। मैने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्ही विषयो तक महदूद न थी। केम्ब्रिज मे या छुट्टियो मे लदन मे अथवा दूसरी जगहो में मुझे जो लोग मिले, उनमे से बहुत-से विद्वत्ता-पूर्वक ग्रन्थो के बारे मे, साहित्य और इतिहास के बारे मे, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में बात-चीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढी-चढी बाते मुझे बडी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जब मैने कुछ किताबे पढी तब सब बाते समझने लगा, जिससे मै कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयो में से किसी के बारे में अपना घोर अज्ञान जाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्डशॉ[2] की भूमिकाओ तथा लॉज डिकिन्सन[3] की नई-से-नई पुस्तको के बारे मे बहस किया करते थे। उन दिनो केम्ब्रिज मे नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बडा अक्लमन्द समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयो पर बडे अधिकारी-रूप से, शान के साथ बातें करते

१. आधुनिक जर्मन तत्ववेत्ता—प्रचलित नीति और धर्म-मान्यताओ का शत्रु। २. आधुनिक प्रसिद्ध अग्रेज नाटघकार। ३. केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। —अनु०

थे और बातचीत के सिलसिले में ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एविंग और वीनिंगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में हम जितना जानते हैं, विशेषज्ञों को छोड़कर और किसीको उससे ज्यादा जानने की जरूरत नहीं है।

वास्तव में, हम बातें जरूर बढ़-बढ़कर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था, और मुझे इस बात में सन्देह है कि उनके सहवास में हममें से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था, मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन भावों से परे है। यह सब होते हुए भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आमतौर पर जिन तरीकों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रक्खा। उन दिनों मैं निश्चितरूप से एक झेंपू लड़का था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा भाव कुछ एक अस्पष्ट प्रकार के भोगवाद का था, जो कुछ अंश तक तो उस अवस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अंश तक आस्कर वाइल्ड और वाल्टर पेटर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की जिन्दगी की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और मनोरंजक, लेकिन मेरे मामले में इससे ज्यादा कुछ और बात भी

थी, क्योंकि मैं खास तौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नही थी और धर्म के दमनकारी बन्धनो को मैं पसद भी नहीं करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे स्टैण्डर्ड की खोज करता। उन दिनो मैं सतह पर ही रहना पसद करता था, किसी मामले की गहराई तक नही जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मै चाहता था कि मैं सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारु ढग से उसका उपभोग तो मैं नही करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यो समझूँ? साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बडी-बडी बाजियो का—जीवन के बडे-बडे आदर्शो का। १९०७ तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति मे उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमे वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की जिन्दगी तो बसर कर ही नही सकता था। ये सब बाते मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छायें, मेरे मन में अजीब खिचडी पकाती, भवर-सी पैदा कर देती। उन दिनो ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे उन दिनो मैं परेशान न था, क्योकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तब तक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पडते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजें देखनी थी, इतने नये क्षेत्रो की खोज करनी थी! जाडे की लम्बी रातो में हम लोग अगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-

धीरे इतमीनान के साथ रात में आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते, उस समय तक, जबतक अगीठी की आग बुझ कर हमें जाडे से कपा कर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश मे आजाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनो हम लोग जीवन की समस्याओ के साथ गम्भीरता के स्वाँग करके खेलते थे, क्योकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्यायें न हो पाई थी और हम लोग ससार के झमेलो के चक्कर मे नही फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवी शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनो में हमारा वह ससार मिटने को था—इसलिए कि जिससे ऐसे दूसरे ससार को जगह मिले जो दुनिया के युवको के लिए मृत्यु और विनाश एव पीडा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड कर आनेवाले जमाने को नही देख सकते थे। हमें तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए है और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन दूसरी अनेक भावनाओ की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनो मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैंने उन दिनो इन विषयो पर भली-भांति साफ तौर पर विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की जरूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरें भर थी जो मेरे मन में उठा करती थी और जिन्होंने अपने इसी दौरान में अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। उन बातो के ध्यान के बारे में मैं उन दिनो ऐसा परेशान नही होता था। उन दिनो तो मेरी जिन्दगी काम

और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज ऐसी जरूरी थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबो ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमें मैरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और योरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टो से मानो उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचल और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरो से और बगाल की जनता जिस ढग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञायें ले रही थी उनसे इग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियो में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान मे यह नया दल उन दिनो इन्ही नामो से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज मे जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था, मजलिस। इस मजलिस मे हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलो पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसे कुछ हद तक बेवजूद थी। पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओ की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नही। मैं अक्सर मजलिस मे जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहां शायद ही बोला होऊँ। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नही कर सका। कॉलेज में "मैगपी और स्टाम्प" नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी उसमे भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पडा। इस सभा मे यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पडेगा और मुझे अक्सर जुर्माना देना पडता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो पीछे जाकर भारत-मत्री

हो गये थे, बहुत बार इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेण्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हींसे सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर श्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को लाजवाब समझता था वैसा ही मैं समझने लगा था। क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी और संसार की बाबत बड़ा निश्चयात्मक था, आजकल का विज्ञान वैसा नहीं है।

मजलिस में और निजी बात-चीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लेते थे, यहाँ तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ करते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आगन-गूह के आग-बबूलों में से विरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों को भेंट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज़्ज़त तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानो हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी संस्कृति उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपाल कृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल

से हम अपने एक बैठने के कमरे मे मिले। वहाँ हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होने तो ऐसी गर्जना की मानो वह दस हजार की सभा मे भाषण दे रहे हो। उनकी आवाज इतनी भयानक थी कि मै उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढग से बातचीत की और उनकी बातो का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र पाल के मुकाबिले मे मुझे लालाजी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए, क्योकि उन दिनो उन्हे बगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नही लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा मे भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँ तक कि हममें से बहुतो को यही याद नही रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था।

हिन्दुस्तानियो में हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुँचने से कुछ पहले आक्सफोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनो मे मै उनसे लन्दन मे एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज मे मेरे समकालीनो में से कई ऐसे निकले जिन्होने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति मे प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक अहमद शेरवानी कम-बढ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इन दिनो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस है, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे। मेरे दूसरे समकालीनो मे से कोई मिनिस्टर बना और कोई इडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में ही गया। कभी-कभी हमें उनका 'इण्डियन-सोशलॉजिस्ट' नामका अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेबें 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी पड़ी थीं और वह प्राय हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इण्डिया-ऑफिस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत से हिन्दुस्तानियों को बरदाश्त करना पड़ता था, चाहे मन से हो या बेमन से, क्योंकि उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना गैरमुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी-हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें से बहुत से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था, और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम-दलवालों की तीव्र आलोचना की थी। वह संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के सभापति भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह वहाँ उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डब्लु० नेविन्सन कुछ समय तक

इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की खातिर-नवाज़ी को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज़ कतई गलत था, क्योंकि पिताजी अपनी राजनीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे, और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विकारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे, और गरम-दल के सख्त खिलाफ थे, हालाँकि मेरा खयाल है, वह तिलक की तारीफ करते थे।

ऐसा क्यों था ? कानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता-जाता नहीं जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज़दीक में दिखाई नहीं देती थी। उनको यह नहीं मालूम होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा उन आन्दोलनों की पुश्त में वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की ओर आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पाँत वगैरा को, कतई नापसन्द करते थे, और उन्हें उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढंग

की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था, और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से जरूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वे जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य भिड़ाकर पिताजी ने आक्रामक ढंग इख्तियार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम-दलवाले नौजवान थे, और पिताजी को इस बात ने बहुत चिढ़ाया कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफिक काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। जिन लोगों को वह बेवकूफ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे, और इसलिए वह जब कभी मौका मिलता उनपर टूट पड़ते थे। मेरा खयाल है कि कैम्ब्रिज छोड़ देने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक गुस्ताखाना खत लिखा, जिसमें मैंने यह भी सुझाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से

बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होंने करीब-करीब यहाँ तक सोच लिया था, कि मुझे फौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज मे रहता था तभी यह सवाल उठ खडा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनो तक उसमें एक खास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, वह विचार छोड दिया गया। मेरा खयाल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मै उस इम्तिहान मे बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहा ठहरना पडता। मैने केम्ब्रिज मे जब अपनी डिग्री ली तब मैं बीस वर्ष का था और उन दिनो इण्डियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस वर्ष से लेकर चौबीस बरस तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पडता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड मे इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्द ही घर लौट आऊँ। पिताजी पर एक बात का और भी जोर पडा और वह यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहो में रहना पडता। पिताजी और माँ दोनो ही यह चाहते थे कि इतने दिनो तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पडा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति मे गरम-दल की ओर झुकाव बढता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-शासन की मशीन का एक पुरजा बनने के ख़याल

को मैंने ऐसा बुरा नही समझा। आगे के सालो मे इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मैं लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी कानून की पढाई में बहुत समय नही लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हाँ उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैंने यो ही बिताया। कुछ आम किताबें पढी, फैबियन[1] और साम्यवादी[2] विचारो की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनो के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयर्लेण्ड और स्त्रियो के मताधिकार के आन्दोलनो में मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयर्लैण्ड गया तो सिनफिन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खींचा था।

इन्ही दिनो मुझे हॅरो के पुराने दोस्तो के साथ रहने का मौका मिला और उसके साथ मेरी आदते खर्चीली हो गई थी। पिताजी मुझे खर्च को काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं अक्सर उनसे भी ज्यादा खर्च कर डालता था, इसलिए उन्हे मेरे बारे में बडी चिन्ता हो गई थी।

१. २ १८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखने वालो की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते। यह आशा रखते हैं कि लेखो और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इससे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया—जमीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है और समाज की ही सत्ता उस पर होनी चाहिए—इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फैबियन सदस्य 'म्यूनिसिपल समाजवादी' नाम के पात्र हुए। अनु०

उन्हे अदेशा होगया था कि कही मै बुरे रास्ते तो नही पड गया हूँ। परन्तु दरहकीकत मै ऐसी कोई खास बात नही कर रहा था। मै तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कमअक्ल अँग्रेज़ो की देखा देखी भर कर रहा था जो बडे ठाठ-बाट में रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश-हीन आराम-तलबी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नही हुई। मेरे पहले के हौसले ठडे पडने लगे और खाली एक चीज़ जो बढ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियो में मैंने कभी-कभी यूरप के जुदा-जुदा देशो की भी सैर की। १९०९ की गरमी मे जब काउण्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कौन्सटेन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड कर वर्लिन आये तब मैं और पिताजी दोनो वही थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उडान थी। इसलिए उस अवसर पर बडी खुशियाँ मनाई गई और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। वर्लिन के टेम्पिलोफ फील्ड मे जो भीड इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ने ठीक समय पर आकर बडी वजादारी के साथ हमारी परिक्रमा की। ऐडलाँ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियो को काउण्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेट किया था। वह चित्र अब तक मेरे पास है।

कोई दो महीने वाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज़ देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उडा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले-पहल लगाये। मेरा ख़याल है कि उडाके का नाम कोंत द लाबेर था। अठारह बरस बाद, जब लिडबर्ग अटलाटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड कर पैरिस आया था, तब भी मै वहाँ था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के वाद फौरन ही जब मैं नार्वे सैर-सपाटे के लिए गया हुआ था तब मै वाल-वाल वच गया।

हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे से होटल में अपने मुकाम पर पहुँचे, और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसी ने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तिज़ाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज़ की या मुँह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से जो होटलवालों ने हमें उदारता-पूर्वक दिये थे, सुसज्जित होकर हम में से दो, एक मैं और एक नौजवान अँग्रेज़, पड़ोस के हिम सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफ़ानी धारा में जा पहुँचे। मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ पैर जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपट कर गिर गया। बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, मेरे पैर जम न सके, तूफ़ानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरे अँग्रेज़ साथी ने किसी तरह बाहर निकल कर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में मेरा पैर पकड़ने में कामयाब होकर उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे; क्यों कि हम से दो तीन-सौ गज़ की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय बात थी।

१९१२ की गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास करली और उसी शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज़्यादा इंग्लैंड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था। परन्तु अन्त में हमेशा के लिए लौटा और मुझे भय है कि जब बम्बई में उतरा तो अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

: ५ :

## वापसी पर देश का राजनैतिक वातावरण

१९१२ के अखीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरम दल वाले कुचल दिये गये थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति होगई थी और सरकार को कौंसिलो की मिन्टो-मॉरले योजना के मातहत माडरेटो को अपने वश करने में कामयावी मिल गई थी। प्रवासी भारतवासियो की समस्या के बारे मे, खास तौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयो की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी जरूर लीजाती थी। कांग्रेस माडरेटो के हाथ में थी। साल भर मे एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ लोगो का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिन की छुट्टियो में मै डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगो का उत्सव था। जहा सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुत वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमे किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सच्चाई और उनकी शक्ति से वहा आये उन थोड़े से व्यक्तियो में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलो पर

नज़दीकी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मेरे ऊपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे तब एक ख़ास घटना होगई। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। इस हैसियत से उन्हें अपने लिए एक फर्स्ट क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में ख़लल पड़ता था। इसीलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह उत्सुक थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटने वाले प्रतिनिधियों से ठसा-ठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ बसु जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर हुए, गोखलेजी के पास गये और यों ही उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूँ? यह सुन कर पहले तो गोखलेजी कुछ चौंके, क्योंकि बसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राज़ी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री बसु फिर गोखलेजी के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट में चले चलें तो आपको तकलीफ़ तो न होगी। गोखलेजी ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले बसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी। इसलिए अगर आपको तकलीफ़ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायें, और हम दोनों नीचे की दोनों बर्थों पर सो जायें। मेरा ख़याल है कि अन्त में यही हुआ बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़ कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी।

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम

में दिलचस्पी आने लगी। यूरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहा आकर पुरानी मेल-मुलाकाते कायम कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकाश लोगो के साथ-साथ जिस तरह की जिन्दगी बितानी पडती थी, उनकी सब ताजगी गायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश्य-हीन जीवन की नीरस खाना-पूरी मे ही फस रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरी दोगली, कम-से-कम खिचडी, शिक्षा इस बात के लिए उत्तरदायी थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियो से असन्तोष था। इगलैड की अपनी सात बरस की जिन्दगी मे मेरी जो आदतें और जो भावनाये बन गई थी वे जिन चीजो को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नही खाती थी। सौभाग्य से मेरे घर का वायु-मण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना भी काफी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनो मे वही साथी, जो उन्ही पुराने विषयो पर, आमतौर पर कानूनी पेशे-सम्बन्धी बातो पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले, और मेरे मन में जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बाते भी न थी।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही में लॉज़ डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमे उन्होने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिंदुस्तान के बारे मे कहा था कि, "ये दोनो जातियाँ (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यो नही सकती, महज इसलिए कि हिन्दुस्तानियो मे अंग्रेज ऊब जाते है, यही सीधा और कठोर सत्य है।" यह सभव है कि बहुत से अंग्रेज यही महसूस करते हो और इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है। दूसरी पुस्तक में फॉर्स्टर ने कहा है, कि हिन्दुस्तान मे हरेक

अंग्रेज यही महसूस करता है, और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें खुशी होती है और वे आज़ादी के साथ सांस लेने तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने फिरने लगते हैं।

आम तौर पर अंग्रेज एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं—उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक़ रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख़्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी दोनों ही तरह के हाकिम आजाते हैं। इस वर्ग के लोग आम तौर पर भद्दे और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ़्तर में दिन-भर मिसलों में, जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी ख़तम नहीं होतीं, सर खपाकर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहां से अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहां व्हिस्की पीकर 'पंच' तथा इंग्लैंड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं। किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी

हूँगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इस पर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए आप हिन्दुस्तान पर दोष मढते है, यहाकी आवोहवा को कोसते है और आमतौर पर आन्दोलन करने वालो को वददुआ देते है जो उनकी दिक्कते वढाते है। लेकिन यह महसूस नही कर पाते कि उनके मानसिक और सास्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

जब छुट्टियो और फर्लो के वाद भी अग्रेज हाकिमो की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफसर उनके साथ या उनके मातहत काम करते है वे उनसे वेहतर कैसे हो सकते है, क्योकि वे अग्रेजी नमूनो की नकल करने की कोशिश करते है। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अग्रेज हाकिमो के पास वैठ कर तरक्की, छुट्टी के कायदो, तवादिलो और नौकर तथा नौकरो की रिश्वतखोरी तथा वेईमानियो वगैरा के किस्सो को सुनने से ज्यादा जी घवडानेवाली वात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, वम्बई जैसे शहरो को छोडकर वाकी सब जगहो में इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगो की जिन्दगी पर, खास तौर पर अग्रेजी पढे-लिखे लोगो के जीवन पर, चढाई करके उसे अपने रग में रग दिया है। पेशवर लोग जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी उसके शिकार हो गये, और अर्द्ध-सरकारी विश्व-विद्यालयो के शिक्षा-भवन भी उससे न वच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते है जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगो से कतई कोई ताल्लुक नही है। उन दिनो राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगो तक महदूद थी। वगाल में १९०६ से राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने जरा

इन वस्तुस्थिति को झकझोर कर बंगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों में और कुछ हद तक जनता में भी नई जान डाल दी। आगे चल कर गांधीजी के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेज़ी से बढ़ने को था। परन्तु राष्ट्रीय मसला जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त होता है, और वह अपने में इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान खपा लेता है कि दूसरे भावों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे कुछ उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ़ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहा। फ़िजी में हिन्दुस्तानी मज़दूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ़ यानी ऐसे खास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन खड़ा होता तो मैं अपनी पूरी ताक़त से उसमें जुट कर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ़ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा लेकिन उसकी तरफ़ मेरा खास झुकाव न था। बाहर जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूँ। सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा

पड गया । यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु, चोट से मर कर मेरे पैरो पर गिर पडा और अपनी आँसू भरी बडी-बडी आँखो से मेरी तरफ देखने लगा। तबसे उन आँखो को मुझे अक्सर याद आजाती है।

उन शुरू के सालो में श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नही सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी, और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोडने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरो के लिए मेरे दिल मे बडी इज्जत थी, क्योकि उन्होने निर्वाह मात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधा काम करते है, फिर चाहे वह काम सोलहो आने ठीक दिशा मे भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महा-युद्ध शुरू हुआ और उसमे हमारा ध्यान लग गया हालांकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू मे उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नही पडा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता का पूरा स्वरूप अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफेन्स आफ रिएल्म एक्ट' की तरह जो 'भारत-रक्षा कानून' बना था, वह देश को जोर से जकडे हुए था। लडाई के दूसरे साल से ही षडयन्त्रो की और गोलियो से मारे जाने की खबरे आने लगी। उधर पजाब मे रगरूटो की जबरन् भरती की खबरे सुनाई देती थी।

यद्यपि लोग जोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे तो भी अंग्रेजो के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरें सुन कर क्या माडरेट और क्या गरम-दल वाले दोनो को ही खुशी होती थी। यह नही कि किसी को जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह

इच्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का गरूर उतर जाय। असल में यह भाव ऐसा ही था, जैसा कमज़ोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपने से ज़बरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर खुशी पैदा होती है। मेरा खयाल है कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिश्रित भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से, बेहयाई के साथ जो प्रचार लगातार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आगये, और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेन्ट ने होमरूल लीगें कायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने खासतौर पर मिसेज़ बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिन-दिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मंडल में बिजली-सी दौड़ गई, और हम जैसे अधिकांश नवयुवकों का दिल फड़कने लगा। नज़दीक भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मेद करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश भर में होमरूल आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ वे पुराने गरमदल वाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कांग्रेस से बाहर रहे जाते थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से बहुत से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लीगों ने छुआ तक नहीं।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से बहुतों में खलबली मच गई, जिनमें कई माडरेट लीडर भी थे। मुझे याद है कि नज़रबन्दी से कुछ दिन पहले इलाहाबाद में श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने [illegible] भाषणों को पढ़-

कर हम लोगो के दिल कैसे हिल जाते थे। लेकिन नजरवन्दी से ठीक पहले था उसके बाद मे श्री शास्त्री चुप हो गये। जब काम का वक्त आया तब वह हमें बिलकुल छोड गये, और एक ऐसे वक्त पर, जब सब से ज्यादा नेतृत्व की जरूरत थी। उनकी चुप्पी पर हममें बहुत मायूसी और नाराजगी फैली। तब से मेरे दिल मे यह विश्वास घर कर गया है कि श्री शास्त्री कर्मवीर नही है, और सकट-काल में उनकी प्रतिभा काम नही आती।

लेकिन दूसरे माडरेट लीडर आगे बढते गये। उनमे से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे, वे वही डटे रहे। मुझे याद है कि यूरोपियन डिफेंस फोर्स के ढग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग के लोगो मे से जिस नये इण्डियन डिफेंस फोर्स का सगठन कर रही थी, उनके बारे में बडी चर्चा होती थी। कई मामलो में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फोर्स के साथ वह व्यवहार नही किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ किया जाता था, और हममे से बहुतो को यह महसूस हुआ कि जब तक यह सब अपमान-जनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय, तब तक हमें इस फोर्स मे सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आखिर हम लोगो ने सयुक्त प्रात मे सहयोग करना ही तय किया, क्योकि यह सोचा गया कि इन हालतो से भी हमारे नौजवानो के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करे। मैंने इस फोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी, और उस तजवीज को बढाने के लिए हम लोगो ने इलाहाबाद मे एक कमेटी भी बना ली। इसी समय मिसेज बेसेन्ट की नजरबन्दी हुई, और उस क्षण के जोश में मैंने कमेटी के मेम्बरों को, जिनमें पिताजी, डाक्टर तेज बहादुर सप्रू, श्री० सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दें, और सरकार की

नज़रबन्दी वाले हुक्म के विरोध-स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले में दूसरे सब काम भी बन्द कर दें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा ख़याल है कि लड़ाई के वक़्त में ऐसा लड़ाकू काम करने के लिए हममें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होम-रूल लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद इन माडरेट नेताओं में से कुछने होम-रूल लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। मेरे पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद वाली शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिकारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के ख़िलाफ़ बग़ावत करती थी, परन्तु पुराने गरम-दल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी भाषा और उनके ढंग उन्हें बहुत खटकते थे। मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी की घटनाओं का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीक़ों से कुछ नहीं हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता तब तक इससे भी कोई कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आप में से तेज़-से-तेज़ के साथ क़दम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर में आल इंडिया कांग्रेस कमिटी की बैठक में वह ज्वाइंट कांग्रेस लीग योजना बनी जिसे १९१६ ईसवी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंज़ूर किया। इस बात से पिताजी बड़े ख़ुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित प्रयत्न का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट

दल के अपने पुराने साथियो से बिगाड करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मन्त्री की हैसियत से एडविन मान्टेगु ने हिन्दुस्तान मे जो दौरा किया तब तक, और दौरे के दरम्यान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मान्टेगु-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट[1] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू होगया। १९१८ में लखनऊ मे सूबे की एक विशेष कान्फ्रेंस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमें वह सदा के लिए माडरेटो से अलग होगये। माडरेटो को डर था कि यह कान्फ्रेंस मान्टेगु-चेम्सफोर्ड प्रस्तावो के खिलाफ कडा रुख अख्तियार करेगी। इसलिए उन्होने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावो पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया। तब से अबतक वे कांग्रेस के बाहर ही हैं।

माडरेटो ने जो ढग अख्तियार किया वह यह था कि वे कांग्रेस के अधिवेशनो तथा दूसरे आम जल्सो मे चुपचाप अलग होकर दूर रहे, और बहुमत के खिलाफ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि कोण भी न रक्खें और न उसके लिए लडे। यह ढग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा खयाल है कि देश में अधिकाश लोगो का यही आम खयाल था और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटो का प्रभाव जो प्राय सोलहो आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो कांग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सो में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था, और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा। इसके बदौलत पब्लिक की निगाह में उनकी इज्जत बढ गई।

१ 'कांग्रेस का इतिहास' प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, प्रकरण ४ देखिए। —अनु०

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे पब्लिक में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अँग्रेजी में तो होने नहीं चाहिएँ और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूँ। सम्भवतः यह १९१५ में हुआ। तारीख के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ याद नहीं है। प्रेस का मुँह बन्द करनेवाले एक कानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौका मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अँग्रेजी में। ज्यों ही मीटिंग खतम हुई मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उस पर वह खुश हुए हों सो बात नहीं। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया, और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दरअसल महज व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुत से नौजवानों को, यह भी आशा थी कि डॉक्टर सप्रू मुमकिन है, राजनीति में कुछ आगे कदम बढ़ायें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सब में उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा सम्भावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर में बह जाते थे।

उनके मुकाबिले में पिताजी बहुत ठडे मालूम पडते थे हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ इच्छा-शक्ति के कारण हमे उनसे बहुत कम उम्मेद रह गई थी, और कुछ वक्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदे थी। इसमे तो कोई शक नही कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओ के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ खीचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करते तथा उन पर यह जोर डालते थे कि वह जोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करे।

उस जमाने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नही था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ जो मेरा झुकाव था उसे पिताजी बडे गौर से देख रहे थे, खास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे मे मेरी नुक्ता-चीनियो को और कार्य के लिए की जाने वाली मेरी हठीली माग को। मुझे भी यह बात साफ-साफ नही दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए, और पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मै सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ जा रहा हूँ जिसको बगाल के नौजवानो ने अख्तियार किया था इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे। जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ न था। हाँ, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमे मौजूदा हालत को चुपचाप नही बरदाश्त करना चाहिए और कुछ-न-कुछ जरूर करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नही दिखाई देता था। लेकिन मै यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनो ही यह चाहते है कि विदेशी हुकूमत के खिलाफ अधिक लडाकू और आक्रामक रवैया अख्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटो की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर

द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं तबतक वह एक स्थिति को छोडकर दूसरी को कभी न अपनाते। आगे रक्खे जानेवाले हरेक कदम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वद्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लडने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नही हटाते थे। उन्होंने आगे जो कदम बढाया वह किसी उत्साह के झोके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरुप, और एक बार आगे कदम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हे पीछे मुडकर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति मे बाह्य परिवर्तन मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तब से वह कदम-ब-कदम आगे ही बढते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोडते गये। अन्त में १९१९ में पजाब मे जो दु खान्त काण्ड हुआ उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका, और उन्होंने गांधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बांध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शकायें उठ रही थीं दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनो के सार्वजनिक प्रश्नो पर शान्ति-पूर्वक बात-चीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बात-चीत में वह गुस्सा हो जाते और हमे बात जहा की तहा खतम कर देनी पडती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १९१६ में बडे दिन की छुट्टियो में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लडाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते

थे। उन दिनो उन्होने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था, और अपने को प्रवासी भारतीयो के मसले की सीमा तक बाँध रक्खा था। इसके बाद ही चम्पारन मे निलहे गोरो से होने वाले किसानो के दुःख दूर करने मे उन्होने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगो ने देखा कि वह हिन्दुस्तान मे भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार है और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनो इलाहाबाद मे सरोजिनी नायडू ने जो कई वक्तृत्वपूर्ण भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सरावोर होते थे और उन दिनो मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनो के गोलगोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ मे रोजर केसमेन्ट[1] ने अपने मुकदमे मे जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमे यह बताया कि गुलाम जाति वालो के भाव

१—रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशो में उच्च पद पर था। दक्षिण अमेरिका के पुटुमायो में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहाँ के निवासियो पर जो जुल्म किये थे उनकी जाँच करने के लिए १९१० में इसकी नियुक्ति की गई थी और उसकी रिपोर्ट से बड़ी सनसनी फैली थी। इसके बाद यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध में भाग न लेने के लिए, उसने अपने आयरिश भाइयो से अनुरोध किया। नवबर १९१४ में बर्लिन गया और वहाँ जर्मन सरकार के साथ ब्रिटिश के खिलाफ सुलह की। आयर्लैंड में १९१६ के ईस्टर सप्ताह में बलवे की तैयारी की बारह अप्रैल को जर्मनी से जहाज में गोला-बारूद भर कर आयर्लैण्ड के किनारे उतरा। जहाज और वह खुद दोनो पकड़े गये। 'राज्य के शत्रु' होने का इल्जाम इस पर लगाया गया और तीन अगस्त को उसे फांसी की सजा दी गई।

कैसे होने चाहिएँ ? आयर्लैण्ड मे ईस्टर के दिनो मे जो बगावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ खीचा, क्योकि जो निश्चित विफलता पर हसता हुआ ससार के सामने यह ऐलान करता है कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नही कुचल सकती वह सच्चा साहस नही था, तो क्या था।

उन दिनो ये ही मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबो के पढने से मेरे दिमाग मे साम्यवादी विचारो के अगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनो वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नही थे जितने दयापूर्ण और हवाई। युद्धकाल में तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेन्ड रसल[१] के लेख तथा ग्रथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारो और इच्छाओ से मेरे मन का भीतरी सघर्ष तथा अपने वकालात के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ गया। यो मै उसे चलाता रहा, क्योकि उसके सिवा मै करता भी क्या ? लेकिन मै अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर खासतौर पर आक्रामक ढग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालात का पेशा, दोनो एक साथ निभ नही सकते। सवाल सिद्धान्त का नही, समय और शक्ति का था। न जाने क्यो कलकत्ता के नामी वकील सर रासविहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खासतौर पर उन्होने मुझे यह सलाह दी कि मैं अपने पसन्द के किसी कानूनी विषय पर एक किताब लिखूँ। क्योकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपनेको 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होने यह भी कहा कि

१- लार्ड-पद छोडकर समाजवाद का प्रचार करनेवाला अग्रेज अध्यापक और समर्थ लेखक। महायुद्ध में युद्धनीतियो का विरोध करने के लिए इसने सजा भी पाई थी। —अनु०

इस किताब के लिखने में वह मुझे विचारों की भी मदद देंगे और उस किताब का संशोधन भी कर देंगे। लेकिन मेरे वकीली जीवन में उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरने वाली और कोई चीज नहीं हो सकती थी कि मैं कानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़-चिड़े हो गये थे। फौरन ही उन्हें गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिल्कुल अनाकर्षक नहीं मालूम होती थीं। एक मर्तबा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा खयाल है कि यह १९१८ की बात है, और उस समय की, जब माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में जोर-जोर से बातें तथा एक दूसरे पर हमला करने लगे, क्योंकि वह राजनीति में भिन्न-भिन्न फिरकों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों मशहूर तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वे कौन की तरह [illegible] और [illegible] से भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने [illegible] शुरू की। कुछ मास पहले ही गोखले का देहान्त हुआ था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और [illegible] में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर [illegible] [illegible] सुनते थे? [illegible] [illegible] और [illegible] दे। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। सर रासबिहारी [illegible]

लेकिन उन्होंने कोई नाराजगी नहीं दिखलाई। जाहिर है कि वह शास्त्री जी के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहां तक उन्होंने यह कहा कि जब तक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत-सेवक समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले में तिलक की तारीफ़ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा हैं।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—मुझे महात्माओं से चिढ़ है। मैं उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता।"

: ६ :

## हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया, और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख, रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकीर्ण और निर्जन घाटियों में, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ़ ले जाती हैं। घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, जोजीलाघाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ खाली कड़ी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ बरफ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं, और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी।

लेकिन दिन में धूप अच्छी पडती थी, और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमे चीजो की दूरी के वारे मे भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थी, हम उन्हे उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढता गया, पेडो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड दिया—सिर्फ नगी चट्टान और वरफ और हिम और कभी-कभी कुछ खुग-नुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जगली और सुनसान निवासो में मुझे अजीव सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमग का ठिकाना न था।

इस यात्रा मे मुझे एक वडा रूह कपादेनेवाला अनुभव हुआ। जोजीला-घाटी से आगे सफर करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल मे मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम व वरफ से ढका हुआ एक वडा पहाड पडता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या ? आठ मील होते ही क्या है ? जोश खूब था और तजुर्वे नदारद। हमने तय किया कि हम गुफा तक पहुँचने की कोशिश करेगे। अत हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हजार पाचसौ फीट की ऊँचाई पर थे, छोड दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड पर चढने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगो ने रस्सियो के सहारे कई बरफीली-नदियो को पार किया। हमारी मुश्किले बढती गई तथा सास लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालो के मुँह से खून निकलने लगा, हालाँकि उनपर बहुत बोझ नही था। इधर वर्फ पडने लगी और बरफीली-नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गई। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक कदम आगे बढने के लिए खास कोशिश करनी पडती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार

बजे छोडा था और बारह घंटे तक लगातार चढते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का इनाम मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारो ओर बरफ से ढकी हुई पर्वत-चोटियाँ थी। मानो देवताओ का मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताजा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आँखो से ओझल कर दिया। पता नही कि हम कितनी ऊँचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग कोई पदरह सोलह हजार फीट ऊँचाई पर जरूर होगे, क्योकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमे इस हिम-सरोवर को, जो सम्भवत. आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगो ने सोचा कि चढाई खत्म होने से हमारी मुश्किले भी खत्म हो गई होगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगो ने हँसते हुए यात्रा की यह मजिल भी तय करना शुरू की। इसमे बडा धोखा था, क्योकि वहाँ दरारें बहुत-सी थी और ताजा गिरनेवाली बरफ खतरनाक दरारो को ढक देती थी। इस नई बरफ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता। क्योकि मैने ज्योही उसके ऊपर पैर रक्खा, वह धसक गई और मैं धम से नीचे एक विशाल दरार मे, जो मुंह बाये हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बडी थी और कोई भी चीज उसमे बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारो वर्ष बाद तक भूगर्भ शास्त्रियो की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नही छूटी और मैं दरार की बाजू को पकडे रहा और ऊपर खीच लिया गया। इस घटना से हम लोगो के होश तो ठिकाने हो गये थे, पर फिर भी हम लोग आगे बढते ही गये। लेकिन दरारो की तादाद और उनकी चौडाई आगे जाकर और भी बढ गई। उनमे से कुछ को पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त मे हम लोग थके-मांदे निराश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाड़ो तथा ऊँची-ऊँची घाटियो ने मुझे ऐसा मुग्ध कर दिया कि मैने एक बार फिर वहाँ जाने का सकल्प किया। मैने कई योजनायें सोचीं, और कई यात्राओ के मनसूबे बाँधे और उनमे से एक के तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। वह थी तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलाश। यह अठारह बरस पहले की बात है और मै आज भी कैलाश तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले था। मै फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहा जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही। लेकिन मै राजनीति और सार्वजनिक कामो के जजाल मे अधिकाधिक उलझता गया। पहाड़ो पर चढने या समुद्रो को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलो में जाकर ही सतोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मै वहाँ जाने के मनसूबे गढा करता हूँ, क्योकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नही रोक सकता। और इसके अलावा जेलो में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या ? अत मै उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मै हिमालय पर चढकर उसे पार करूँगा और उस झील तथा कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूँगा। परन्तु इस बीच में जीवन की बालू दौडती जा रही है, जवानी अधेडपन मे तबदील हो रही है और कभी-कभी मै यह सोचता हूँ कि मै इतना बुड्ढा हो जाऊँगा कि कैलाश और मानसरोवर जा ही न सकूगा, परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे तब भी यात्रा करने मे हमेशा आनन्द ही आता है—

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृगो की पडती छाया-
साध्य गुलाबो से रजित है जिनकी भीषण दुर्गमता,
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलको पर बैठे अकुलाते,
शात शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता ![1]

१ वाल्तर दि ला मेयर के एक पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ७ :

# गांधीजी मैदान में : सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारखाने जगह-जगह फैल गये थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए मौके और सत्ता मिले। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शांतिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन और स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता में भी, और खासकर किसानों में भी, दिखाई पड़ते थे। पंजाब के देहाती इलाकों में ज़बरदस्ती रंगरूट भर्ती करने की ज़्यादती वहां के लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और 'कोमागाटा-मारूवाले'[1] तथा दूसरे लोगों पर षड्यन्त्र के

१ कोमा-गाटा-मारूवाली घटना थोड़े में इस प्रकार है —कनाडा में एक ऐसा कानून पास हुआ कि सिवा उन लोगों के जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज़ में सीधे यात्रा करें, दूसरे किसी को कनाडा में न उतरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज़

मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारो ओर फैली हुई नाराजगी को और भी बढा दिया था। जगह-जगह लड़ाई के मैदानो से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नही रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ गया था और उनमे भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानो मे भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख्तियार किया गया उसपर, गुस्सा बढ रहा था और आन्दोलन तेज हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नही हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहा दूसरी ओर इन्तजार भी कर रहे थे।

---

नहीं आना। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे हैं। अतएव उनके लिए इस कानून का यह अर्थ हुआ कि वहां बस जाने वाले कोई भी सिक्ख जो यहा थोडे दिन के लिए आये हो, वापस कनाडा नहीं जा सकते, न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियो को ही ले जा सकते थे। इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५ में बाबा गुरुदत्त सिंह ने 'कोमागाटा-मारु' नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज किराये किया और ६०० सिक्खो को उसमें वहाँ ले गये। इन्हे वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हे कलकत्ते में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधा पजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ गोलियाँ, चलाई गईं, कितने ही मारे गये, कइयो पर राजद्रोह और षडयन्त्र के मुकदमे चले। बाबा गुरुदत्त सिंह वहाँ से भाग निकले और छुपे रहे। १९२१ तक वे इधर-उधर घूमते रहे, फिर गाधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार खुद अपनेको गिरफ्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर जेल से छूटे। —अनु०

सारे देशभर में इन्तजार और आशा की हवा जोरों पर थी, लेकिन इस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल का दौर हुआ, जिनमें कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सजा देने की धारायें रक्खी गई थी। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था। यहाँ तक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उनका विरोध किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक स्वर में उनका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उनको कानून[1] बनवा ही डाला। और खास रिआयत सच पूछो तो यह की गई कि उसकी मीयाद महज तीन वर्ष की रखदी गई?

पन्द्रह बरस पहले इन बिल के जमाने पर और इनकी बदौलत जो हलचल मची उसपर जरा निगाह दौड़ाना यहा उपयोगी होगा। रौलट-कानून बन तो गया, मगर, जहाँ तक मैं जानता हूं, अपनी तीन वर्ष की जिन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया। हालांकि वे तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा कानून बनाया जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में एक तूफान पैदा कर दिया। इससे यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश्य सिर्फ़ खलबली मचाना था।

एक और मजेदार बात सुनिए। आज पन्द्रह साल के बाद ऐसे कितने ही कानून बन गये हैं जो रोज-ब-रोज बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये कानूनों और आर्डिनेन्सों के मुक़ाबिले

१ एक बिल वापिस लिया गया और दूसरा बिल पास होकर कानून बना। —अनु०

में, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आजादी का परवाना समझा जा सकता है। हाँ, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमें मांटेगु-चेम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक किस्त मिल चुकी है और अब, सुनते है, एक बड़ी किस्त और मिलनेवाली है। हम तरक्की जो कर रहे हैं !

१९१९ के शुरू मे गांधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दें। इस अपील की उन्होने, दूसरी अपीलो की तरह कोई परवा न की और उस हालत मे, गांधीजी को अपनी तबीयत के खिलाफ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा जो, उनके जीवन मे पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरो से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-कानून को न मानेगे। दूसरे शब्दो में उन्हे खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारों मे यह खबर पढी तो मुझे बड़ी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फौरन ही सत्याग्रह-सभा मे सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना, जेल जाना वगैरा पर—शायद ही गौर किया हो और अगर मैंने गौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एका-एक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है। क्योकि पिताजी इस नये खयाल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावो के बहाव मे बह जाने वाले न थे। कोई नया कदम आगे बढाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच

किया करते थे और जितना ही ज्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फायदा होगा? इससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी हमारी जाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पड़ा नहीं था और यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूंकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओं और बातों का खयाल रक्खे। मैं चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूं कि उनको तकलीफ न उठानी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यकीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रात मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटी। मैं सोचता रहता कि इनमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गत होगी, क्योंकि उनके खयाल में मुझे आगे-पीछे जेल जरूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और

ऐसा काम न करो जो पिताजी को नागवार हो। मुझे इससे दुख ही हुआ, मगर उसी समय देश में ऐसी घटनायें घट गईं जिनसे सारी हालत ही बदल गई, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कारंवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस याने—सारे हिन्दुस्तान मे हडतालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली और अमृतसर में पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुत से आदमियो का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद मे भीड के द्वारा हिंसा-काण्ड हो जाना—जालियावाला-बाग का हत्या-काण्ड—पंजाब मे फौजी कानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानो दूसरे प्रान्तो से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो एक गहरा परदा पड गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उस तक नहीं पहुँच पाती थीं। वहा से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और कोई वहा न जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ पहुँचता था, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ-साफ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बडी खबर का इन्तजार करते रहते थे। और हमारे दिल में कटुता भरती जारही थी। हममें से कुछ लोग फौजी कानून की परवा न करके खुल्लम खुल्ला पंजाब के उन हिस्सों मे जाना चाहते थे, लेकिन हमें ऐसा नही करने दिया गया और इस दर्मियान कांग्रेस की तरफ से दुखियो और पीडितों को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बडा संगठन बनाया गया।

ज्योही खास-खास जगहो से फौजी कानून वापस लिया गया और बाहर वालो को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच[1] के काम मे अपनी

सेवायें अर्पित कीं। पीड़ितों की सहायता का काम मुख्यतः पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यतः मेरे पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे वह पहला मौक़ा था उनके साथ और उनके नीचे काम करने का। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जलियाँवाला-बाग से और उस भयंकर गली से जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जाँच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार खुद जाकर उस बाग को देखा था और उसकी हर चीज की जाँच बड़े गौर से की थी।

यह कहा गया था, मैं समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग से निकलने के दूसरे दरवाजे भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खीं। यदि डायर का यही ख़याल था और दरअसल उसमें दरवाजा रहा होता तो भी इससे उसकी ज़िम्मेदारी कम नहीं हो जाती।

१. सरकार-नियुक्त हण्टर-कमेटी से असहयोग क्यों किया गया, इसका हाल 'कांग्रेस इतिहास' में पढ़िए। इसके बाद कांग्रेस ने खुद अपनी जाँच कमिटी बैठाई। कमिटी के सदस्य थे—गांधीजी, पं० मोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फजलुलहक़ और श्री सन्तानम्। पं० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गये। तब श्री जयकर ने कमिटी में उनका स्थान लिया। कमिटी की रिपोर्ट का सारा मसविदा गांधीजी ने बनाया था। —अनु०

मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा ख्याल रहा। कोई भी शख्स इतनी ऊँची जगह पर खड़ा होकर, जहाँ कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊँचे-ऊँचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ एक तरफ कोई सौ फीट के करीब कोई मकान न था, महज पाँच फीट ऊँची दीवार थी। गोलिया तड़ा-तड़ चल रही थी और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हजारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गई—जैसा कि हमारे बयानात तथा दीवार पर लगे गोलियो के निशानात से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढ़ कर भाग न सके। और जब यह सब खतम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलो के ढेर दीवार के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अन्त मे मैं अमृतसर से देहली रात की गाड़ी मे रवाना हुआ था। जिस डिब्बे मे मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ ऊपर एक 'बर्थ' खाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने उस खाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फौजी अफसर थे। वे आपस में जोर-जोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुँती थी। उनमे से एक बड़ी तेजी के साथ, मगर विजय के घमंड में, बोल रहा था और फौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग के 'बहादुर' डायर सा० है। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को खाक मे मिला दूं। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मै रुक गया। हण्टर-कमिटी में अपना बयान देकर वह

लाहौर से वापस आ रहा था। उनकी बातचीत और उसकी नगदिली को देखकर मेरे दिल को बडा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पजाब-जाँच के जमाने में मुझे गाधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर करीब-करीब हमेशा अपनी दलीलो से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हें मंजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओ ने मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूर-देशी थी। तब से उनकी राजनैतिक अतर्दृष्टि मे मेरी श्रद्धा बढती गई।

पजाब की दुर्घटनाओ और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर जबरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आने वाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति मे वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ चुके थे। उन दिनो इलाहाबाद से नरम दल का अखबार-'लीडर' निकल रहा था, उनसे उनको सतोष नही था और उन्होंने १९१९ में 'इण्डिपेन्डेन्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद में निकाला। यो तो इस अखबार को बडी सफलता मिली, लेकिन शुरु से ही उसमें एक बात की बडी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों पर—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था। और उनके रगडे-झगडो की चिन्ता ने मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को जाँच के सिलसिले में पजाब जाना और ठहरना पडा था। हमारी लम्बी

गैरहाजिरी मे पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी माली हालत भी बहुत विगड गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालाकि १९२०—२१ मे उसकी हालत बीच-बीच मे कुछ बेहतर होजाती थी, लेकिन ज्यो ही हम जेल गये उसकी हालत बदतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू में उसकी जिन्दगी खतम हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नही ली। हाँ, जेल में तथा बाहर और-और कामो में लगे रहने के कारण ही मै ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बडे दिनो में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होने माडरेट नेताओ के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन मे शामिल हो। चूंकि फौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा होगई थी, उन्होने लिखा—'पजाब का जख्मी और पीडित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेगे ?' मगर उन्होने उसका वैसा जवाब नही दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नही हुए। उनकी आँखें उन नये सुधारो की ओर लगी हुई थी जो माण्टेगु-चेम्सफोर्ड सिफारिशो के फल-स्वरूप आने वाले थे। उनके इनकार कर देने से पिताजी के दिल को बडा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटो के दिल की खाई और चौडी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गाधी-काग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नही कि प्रतिनिधियो मे अधिकाश और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड मे ज्यादातर लोग अगुवा बनने के लिए गाधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज मे 'महात्मा गाधी की जय' की आवाज बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नजर बन्दी से छूटे थे और सीधे

अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नई नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफ़त-डेपुटेशन में योरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान में खिलाफ़त-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उनके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से नाता जोडने की फ़िराक़ में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफ़त के नेताओं और मौलवियों और उलेमा की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफ़त-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके देहली पहुँचने से पहले, जो एड्रेस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक़ भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुँचे और उन्होंने उसका मज़मून पढ़ा तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ रद्दोबदल नहीं किया गया तो मैं डेपुटेशन में शरीक न हो सकूँगा। उनका ऐतराज़ यह था कि इस मज़मून में गोल-मोल बातें कही गई हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं मगर यह साफ़ तौर पर नहीं कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम माँगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि इससे न तो वाइसराय के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ, न लोगों के साथ, न अपने साथ। उन्हें बड़ी-बड़ी माँगें पेश न करनी चाहिएँ जिनपर वे अड़ना न चाहते हों। मगर छोटी-से-छोटी माँग बिल्कुल साफ़ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुबा न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हों तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हल्कों में एक नई चीज़ थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग़ में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती

थी। आखिर गांधीजी की बात कायम रही और उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मजमून में क्या खामियां हैं और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मजमून भी अपनी तरफ से भेजा जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम मांग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मजमून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा, कि मेरी राय में पहला मजमून ही बिलकुल ठीक है। मगर गांधीजीने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफत कमिटी की स्थिति साफ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफत-कमिटी की मांग मंजूर नहीं करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलेमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं। अहिंसात्मक असहयोग पर और खास-कर अहिंसा पर चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुआ बनने के लिए तैयार हूं, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमजोरी, लाग-लपेट और छिपावट मन में न होनी चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था। लेकिन वे रजामन्द हो गये। हां, उन्होंने यह अलबत्ता साफ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि हमारे मजहब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है।

१९२० में राजनैतिक और खिलाफत-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एकसाथ चले। और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आखिर तो दोनों एकरूप मिल गये। पहले खिलाफत कमिटी ने उस कार्यक्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की एक मीटिंग (मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की बैठक होगी) इलाहाबाद में सैयद रजाअली के मकान में इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली या शौकत थे, मगर मौलाना हसरतमोहानी उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था। हाँ, शौकतअली [illegible] उत्साह में थे, बाकी सब लोग दुखी और परेशान थे। उनमें [illegible] कि वे इसको नामंजूर करदें, किन्तु फिर भी उनमें [illegible] किसी बारे में [illegible] था। मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुवा होंगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देंगे? गांधीजी ने एक भाषण किया, जिसे सुनकर वे, ऐसा मालूम पड़ता था कि, पहले से भी ज्यादा घबरा गए। उन्होंने, जैसे कोई डिक्टेटर हो, बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही [illegible] और [illegible] थी। उसकी भाषा [illegible] और [illegible], जिसमें [illegible] और [illegible] हुई था, [illegible] थी, और [illegible] [illegible] [illegible]

अगुआ मानते हैं, तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द जरूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फौजी कानून के निज़ाम में रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिल्कुल आपके सद्भाव आपकी मंजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्यों ही आप मुझसे उकता जायें, त्यों ही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों तले रौंद दें और मैं चूं तक न करूंगा।

इस आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फौजी मिसाल और उनकी जबरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुत से श्रोताओं के बदन में चींटियां रेंगने लगीं। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों में जोश भरा करते थे। और जब रायें लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के, हक में हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे तो मैंने गांधीजी से पूछा, कि क्या इसी तरीके से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेंगे? मैंने तो वहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की और आँखों से आग की चिनगारी निकलने की आशा रक्खी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे वहाँ कायर, कमजोर और अधेड़ लोगों का जमघट दिखाई पड़ा। और फिर भी इन लोगों ने—आम राय का इतना असर था कि—लड़ाई के हक में राय दे दी। निस्सन्देह ही मुस्लिम लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आगे लड़ाई में भाग लिया था। [illegible] सरकारी [illegible] गई थीं। मुस्लिम लीग उस [illegible] भी मुसलमानों के सिर्फ थोड़े [illegible] की प्रतिनिधि नहीं [illegible] थी। सन् १९२० की खिलाफत-कमिटी, [illegible] ज्यादा जोरदार और [illegible] ज्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ [illegible] के लिए [illegible] कदम बढ़ाया।

१ अगस्त गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालांकि अभी कांग्रेस ने न तो इसको मंजूर ही किया था, और न इसपर विचार ही किया था। इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे।[१] मैं उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जलूस में शरीक हुए थे जिसमें सारी बंबई के लाखों आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड़ पड़े थे।

: ८ :

## मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे यानी मध्यम वर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हद तक अब भी, मध्यम वर्ग के लोगों की राजनीति जबानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फले-फूले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे, परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मजदूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ कुछ जगहों में ही, मुकामी तौर पर संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव

१ इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गांधीजी तिलक महाराज के अवसान के पहले से अवसान तक काफी दिन बम्बई में ही थे। —अनु०

नहीं के बराबर था।-किसान अपढ़, अज्ञान, मुफलिस, गंवार, दुःखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, जमींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, पुलिस, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उन पर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मजदूर हैं या उनकी कोई वकत है। अंग्रेजों के अखबार बड़े अफसरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेजों के सामाजिक जीवन, की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिविन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिलकुल नहीं की जाती थी, यहां तक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती जब कोई हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली, कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा जिक्र आजाता, और देहात को तो महत्व तभी दिया जाता जब वहां कोई दंगा-फसाद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अखबार भी अंग्रेजी अखबारों की नकल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज्यादा महत्व देते थे। यों तो वे हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियां दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली में, और जब किसी जानेवाले अफ़सर की विदाई में कोई पार्टी दी जाती थी, जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता तो जमींद-दारी हलकों में लगान वगैरा बढ़ जाता था, जिससे पुकार मच जाती,

क्योंकि उनका असर जमींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो जमीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नहीं पूछता था। ये अखबार जमींदार और कल-कारखानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अखबारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, खुद कांग्रेस का भी शुरू के दिनों में एक यह मतालबा था कि जहां-जहां अभी बंदोबस्त नहीं हो पाया है वहां स्थायी बंदोबस्त कर दिया जाय कि जिससे जमींदारों के हकूक की रक्षा हो सके, और उनमें किसानों का कहीं जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गई है, और अब अंग्रेजी के अखबारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है, क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अंदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अखबारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानों और मजदूरों की भलाई की भी बातें किया करते हैं क्योंकि एक तो आजकल यह फैशन होगया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारखानों और गांव-सम्बन्धी बातों के जानने की तरफ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों और जमींदारी वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते हैं, जो कि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अखबारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवजा मिल जाय। फिर भी इनमें से बहुत से अखबार 'कांग्रेसी' कहलाते हैं, हालांकि वे जितने नाते हैं उनमें से बहुतेरे कांग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। किन्तु कांग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा होगया है और कितने ही लोग और सन्थायें इसे अपने फ़ायदे के लिए इस्तैमाल करते हैं। जो अखबार जरा

आगे बढे विचारो का प्रतिपादन करते है उन्हे या तो बडे-बडे जुर्मानो का, यहाँ तक कि प्रेस-एक्ट के जरिये दवा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, खौफ बना रहता है।

१९२० मे मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानो मे या खेतो में काम करने वाले मजदूरो की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना जरूर जानता था कि उनमें गरीबी बहुत है और उनके दुःख भयकर है और मै सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आजाद होजाय तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस गरीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढी तो राजनैतिक आजादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हुए बिना नही रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेडा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानो के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातो में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्ही दिनो एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर एक महत्व का काम करना था। मै अपनी खुद की प्राय कोई इच्छा न रहते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया, और सो भी एक अजीब तरीके मे।

मेरी माँ और कमला (मेरी पत्नी) दोनो की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बडे राज्य के मामले मे मशगूल थे, जिसमे कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनो अफगान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियो के दर्म्यान मसूरी मे सुलह की बाते हो रही थी (यह १९१९ मे हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की

शाह हैं जबकि अमानुल्ला तख्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसी से मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई खास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसी को पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ, कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेंट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफगान-प्रतिनिधि मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उनका मौक़ा मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेंट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर गौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगों का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिज़ाज के खिलाफ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से जो कि देहरादून का सुपरिन्टेन्डेंट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूँकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून ज़िले के बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घन्टों में ही मसूरी छोड़ दूँ। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार माँ और पत्नी दोनों को वहाँ छोड़कर जाऊँ लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म की खिलाफ़वर्ज़ी करना मुनासिब मालूम नहीं हुआ। क्योंकि उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्त-

प्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाकात थी। उन्होंने दोस्ताना तरीके पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा, कि मुझे यकीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा, यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कारंवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया, कि हुक्म में कोई ऐसी खराब बात नही है जिसके मानने से जवाहरलाल के शान मे कोई फर्क आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोडने का तो कोई इरादा नही है, पर अगर उसकी माँ या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए जरूरी हुआ तो वह जरूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी माँ की हालत ज्यादा खराब होगई और पिताजी व मैं दोनो तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमे उस हुक्म की मसूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख्स मैंने होटल के आँगन मे देखा वह अफगान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिए हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँका एक मिनिस्टर और अफगान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफगानो ने अखबारो में उसके समाचार पढे-और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज फूल और फलो की एक डलिया मेरी मा को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे, और उन्होंने हमें अफगानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फायदा न उठा पाये, और पता नहीं वहाँकी नई हुकूमत में वह निमत्रण अब कायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक ही फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता, परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीका और इसलिए उसका असर भी कुछ और ही होता।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परतावगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुखों और मुसीबतों की तरफ वहाँ के नाम-ग्राम राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो न तो वहाँ के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार जोर-जुल्म से वसूलियाँ करते हैं, कैसा उनका अमानुष बर्ताव है, और कैसी उनकी असह्य हालत हो गई है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जाँच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर नाराज होंगे और उनका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते

मैं कुछ साथियों को लेकर वहाँ पहुँचा। कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे। वे रेलवे से और पक्की सडक से बहुत दूर थे। उस दौरे में मैंने कई नई बातें देखी। हमने देखा सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमडा पडता है। ज़रा जबानी कहला दिया और बडी-बडी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो गये। एक गाँव से दूसरे गाँव, और दूसरे से तीसरे गाँव, इस तरह सब गाँवों में सदेशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते। और इससे भी ज्यादा तेजी से 'सीताराम, सीता रा 'आ' आ ' म' की धुन की आवाज आकाश में गूँज उठती और चारों तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पडती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौडते चले आते। मर्द-औरत फटे-टूटे चिथडे पहने थे, मगर उनके चेहरों पर जोश और उत्साह था और आँखे चमकती हुई दिखाई देती थी, मानो कोई विचित्र बात होने वो थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन में उनकी तमाम मुसीबतों का खात्मा हो जायगा।

उन्होंने हम पर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हो, या उनके रहनुमा हो, जो उन्हे उनके लक्ष्य तक पहुँचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की जबरदस्त गरीबी और जिल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की जिन्दगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें भारत के इन अधनगे करोडों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई स्थान न था। नगे-भूखे, दलित-पीडित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खडा होता हुआ दिखाई दिया। और हम

लोग जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नई जिम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना ने मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुख की सैकड़ों कहानियाँ सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं। किस तरह ग़ैर-क़ानूनी लाग लादे जाते हैं और ज़ोरो-ज़ुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोंपड़ों से किस तरह उनको बेदख़ल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ़ ज़मींदारों के एजेन्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक्कत करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है—दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उनका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आते थे उनमें से बहुतों के ज़मीन नहीं थी और जिन्हें ज़मींदारों ने बे-दख़ल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोंपड़ा। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो कि क़ानून के मुताबिक़ एक हद से ज़्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक़ पर रखकर भारी-भारी नज़राना वग़ैरा बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा अदा करते और फिर उस क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदख़ल कर दिये जाते, और उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ

रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ गया और देहात के लोग इस तरह उमड पडे ? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे अवध में एकसी थी। और यह किसानो का १९२०--२१ का बवण्डर तो सिर्फ परतावगढ, रायबरेली और फैजाबाद जिले मे ही फैला हुआ था। इसका आशिक कारण तो था रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जो कि बाबा रामचन्द्र कहलाता था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मजदूर बनकर फिजी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलो की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानो के कष्टो और दुखो को सुनता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढा-लिखा थोडा था और कुछ हद तक उसने किसानो से अपना जाती फायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी सगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानो को आपस मे समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफो पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बडी भारी-भारी सभायें होती और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यो 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगो को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवो को आपस में बाँधने का चिन्ह बना दिया। फैजाबाद, परतावगढ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओ से भरे पडे है। इन जिलो का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य मे होता था। तुलसीदास की रामायण वहाँ लोगों के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगो को इसके हजारो दोहे, चौपाई बर-जबान थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसगो पर मौजूं दोहे-चौपाइयो की मिसाल देना बाबा

रामचन्द्र का एक खास तर्ज़ था। कुछ हद तक किसानों का संगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊट-पटांग वायदे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशायें बँधी। उसके पास किसी-क़िस्म का कोई कार्य-क्रम नहीं था, और जब उनका जोश आख़री सीमा तक पहुँच गया तो उसने उनकी ज़िम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिशें कीं। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहाँ के लोग इस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल भी गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ास तौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपने को 'अवध के राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। ज़मींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-ज़मीन मज़दूरों की तादाद बढ़ रही थी। वहाँ थो सिर्फ़ एक ही क़िस्म के किसान थे। और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं। एक ज़मींदारी इलाक़ा, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदार हैं, और दूसरा वह, जहाँ किसान ज़मीन के मालिक हैं। मगर कहीं-कहीं दोनों की खिचड़ी हो जाती है। बंगाल, बिहार और संयुक्त-प्रान्त ज़मींदारी इलाक़ा है। किसानी इलाक़े में [illegible] की हालत ज़्यादा अच्छी है, हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत [illegible] ख़राब हो जाती है। पंजाब और गुजरात के (जहाँ ज़मीन के मालिक किसान हैं) किसान, तो दूसरा ज़मींदारी इलाक़े के [illegible] हैं। ज़मींदारी [illegible] के ज़्यादातर हिस्से में कई क़िस्म

के काश्तकार थे, दखीलकार गैर दखीलकार और शिकमी वगैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारो के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एक साथ कोई जोरदार काम नही किया जा सकता। लेकिन अवध मे १९२० में न तो दखीलकार काश्तकार थे और न हीनहयात काश्तकार ही थे। वहाँ सिर्फ आरजी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी जमीनें ज्यादा नजराना या लगान देने पर दूसरो को दे दी जाया करती थी। इस तरह चूँकि वहाँ खास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए सगठन करना और भी आसान था।

अवध में आरजी पट्टे को भी कोई गारटी देने का रिवाज नही था। जमीदार शायद ही कही लगान की रसीद देते थे। और कोई भी जमीदार कह सकता था कि लगान अदा नही किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था। उस बेचारे के लिए यह साबित करना गैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थी। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके मे तरह-तरह की कोई पचास ऐसी लागे लगी हुई है। मुमकिन है यह बात बढाकर कही गई हो। मगर ताल्लुकेदार जिस तरह खास-खास मौको पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसी की शादी हो तो, लडके विलायत पढने गये हो तो, गवर्नर या दूसरे बडे अफसर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहाँ तक कि इन लोगो के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के खरीदने का खर्च) वगैरा नाम पड गये थे।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नही जो अवध मे इतना बडा किसान-आन्दोलन उठ खडा हुआ हो, बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस

बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया। यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और जोरदार आन्दोलनों का मूल-कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें कराई थीं उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नहीं था। किसी अखबार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम करते हैं।

: ९ :

## किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गाँवों में घूमता रहा। और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापिस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हीं के साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घण्टों उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैंकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की,

जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवो में जासके । अक्सर मोटर अड जाती और बीसो आदमी खुशी-खुशी दौडकर उसे उठाते । आखिर को हमे मोटर छोड देनी पडी और ज्यादातर सफर पैदल ही करना पडा । जहाँ कही हम गये, हमारे साथ पुलिस के लोग, खुफिया और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे । मैं समझता हूँ, खेतो में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीवत आ गई होगी । वे सब थक गये थे । हमसे और किसानो मे बिलकुल उकता उठे थे । डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान, पम्प-शू पहने हुए । कभी-कभी वह हमसे कहते कि जरा धीरे चले । मैं समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हे दुश्वार हो गया और वह रास्ते मे ही कही रह गये ।

जून का महीना था, जिसमे सबसे ज्यादा गर्मी पडा करती है । बारिश के पहले की तपिश थी । सूरज की तेज़ी बदन को झुलसाये देती थी और आँखो को अधा बना देती थी । मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इगलैण्ड मे लौटने के बाद हर साल गर्मियो मे मै पहाड पर चला जाया करता था । किन्तु इस बार मै दिन भर खुली धूप मे घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था । सिर्फ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था । दूसरी बातो मे मै इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नही रहा, और इलाहाबाद लौटने पर जब कही मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रग कितना पक्का हो गया था । और मुझे याद पडा कि सफर मे क्या-क्या बीती । लेकिन इस बात पर मै अपने-आपसे खुश हुआ, क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बडे-बडे मजबूत आदमियो के बराबर मै धूप को बर्दाश्त कर सका और मै जो उससे डरता था उसकी जरूरत नही थी । मैंने देख लिया है कि मैं कडी-से-कडी गर्मी और कडे-से-कडे जाडे को बिना ज्यादा

तकलीफ़ को बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मज़बूत और काम करने के लायक था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और करीब-करीब अपने आखिरी दिनों तक जिन्होंने रोजाना कसरत जारी रक्खी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु से एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का सा जान पड़ता था।

जून १९२० में प्रतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार न करता था। यह बात मुझे इस प्रतापगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रक्खा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपनेपर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझपर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊँ।

अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मै दहशत खाया करता था। लेकिन मै किसान-सभाओ में बोलने को कैसे टाल सकता था ? और इन सीधे-सादे गरीब लोगो के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी ? मै वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग में जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोडे हो चाहे हजारो की तादाद में हो, मै हमेशा बात-चीत के या जाती ढग से ही उनके सामने बोलता, और मैने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमे रह जाती हो लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान मे प्रवाह काफी रहता था। मै जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नही पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नही पाते थे, क्योकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज दूर तक नही पहुँच पाती थी। लेकिन जबकि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते है, तब इन सब बातो की ज्यादा परवा उन्हे नही रहती।

मै अपनी मा और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग में किसानो की ही बाते भरी थी और मै फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योही मै मसूरी से वापस लौटा, गावो में घूमने चला गया, और मैने देखा कि किसान-आन्दोलन बढता जा रहा था। उन पीडित किसानो के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। जमीदारो के कारिन्दो और पुलिस का डर उनके दिल मे कम होता चला-था। और यदि किसीका खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नही बढता था। जमीदारो के नौकर जो उन्हे मारा-पीटा

करते थे और कानून के खिलाफ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था, और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इनसे जमींदारो के कारिन्दो और पुलिस की ज्यादतियो की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून मे सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुकेदार और बडे जमीदार जमीन के मालिक कहलाते है। वे अपने को "लोगो के स्वाभाविक नेता" कहने मे अपना फख्र समझते है। वे यो तो ब्रिटिश सरकार के लाडले और बिगडैल बेटे है, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उनके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग में बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारो के लिए कुछ भी नही करते थे जैसा कि दूसरे देशो के जमीदार अक्सर थोडा-बहुत किया करते है, और जमीन और लोगो को महज चूस कर अपना पेट भरने वाले रह गये थे। उनके पास सबसे बडा काम यह रह गया था कि वे मुकामी अफसरो की खुशामद-दरामद करते रहें—जिनकी कि मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नही सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थों और हको की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

जमीदार शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसी को यह खयाल हो सकता है कि तमाम जमींदार बडी-बडी जमीनो के मालिक है। जिन सूबो में रैयतवारी तरीका है वहाँ जमीदार के मानी है खुद खेती करने वाला जमीन-मालिक। उन प्रान्तो में भी जहाँ जमींदारी-प्रथा है, जमींदारो मे कम जमीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हजारो जमीन-मालिक, और वे हजारो लोग भी जो हद दर्जे की गरीबी

में दिन काटते है और जो किसी तरह काश्तकारो से अच्छी हालत में नही है, आजाते हैं। सयुक्त-प्रान्त मे, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के करीब वे लोग हैं जिनकी गिनती जमीदार-वर्ग में की जाती है। गालिबन इनमे से ९० फीसदी से ऊपर की हालत गरीब-से-गरीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फीसदी की हालत किसी कदर अच्छी है। बडे समझे जाने वाले जमीन-मालिक सारे सूबे में पाँच हजार से ज्यादा नही है और इसके कोई ¼ दर-हकीकत बडे जमीदार और ताल्लुकेदार कहलाने लायक है। बाज-बाज बडे काश्तकार की हालत तो छोटे गरीब जमींदारो से कही अच्छी है। गरीब जमीन-मालिक और मध्यम दर्जे के जमीदार शिक्षा में पिछडे हुए हैं। मगर है आम तौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनो। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो तो वे बढिया नागरिक बन सकते है। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलनो में खासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारो और बडे जमीदारो ने नही—हाँ, कुछ अच्छे अपवादो को छोड कर। और तो और उनमें कुलीन वर्ग की खूबियां भी नही पाई जाती। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनो में वे गिर गये है। अबतक तो उनका खात्मा ही हो जाना चाहिए था। अब वे तभी तक जीवित रह सकेगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाको में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढता गया—यहाँ तक कि सारे युक्त-प्रान्त मे फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गावो में पहुँच चुका था। हर जिले मे काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओ का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात मे जाता, और उसके साथ वे किसानो की शिकायते दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड देते

थे। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनो आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिलकुल अलहदा-अलहदा थे, हालाँकि हमारे प्रान्त मे ये दोनो बहुत कुछ एक दूसरे में मिल जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेबाजी एकबारगी कम हो गई और गावों में पञ्चायतें क़ायम होकर उनमे मुकदमे फ़ैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में ख़ास तौर पर ज्यादा गिरा, क्योंकि जहाँ भी कोई कांग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता वहाँ इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर ख़ास तौर पर जोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी पूरी क़द्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो, लेकिन इसने किसानो को मार-काट पर उतर पड़ने से रोका जरूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते है तो मार-पीट कर बैठते है और उनका उभाड़ किसानो और मालिको की एक लड़ाई ही बन जाता है। और उन दिनो अवध के हिस्से के किसानो के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने गजब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ़ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुकेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घर में बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता और बदचलन था।

एक और क़िस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुई। मगर ये टक्करें तो आगे-पीछे होकर ही रहती; क्योंकि सरकार संगठित किसानो की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नही

कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान विना टिकट रेल मे सफर करने लगे—खास तौर पर तव, जव कि उन्हे अपनी वडी-वडी सभाओ में समय-समय पर जाना पडता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हजार तक हो जाती। उन्हे हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुकावला करने लगे, जैसा कि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे कर्मचारियो से कहते—'साहव, अव पुराना जमाना चला गया।' किसके भडकाने से वे विना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मैं नही जानता। हाँ, हमने उन्हें ऐसी कोई वात नही सुझाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। वाद को जाकर रेलवेवालो ने कडाई की तव यह सिलसिला वन्द होगया।

१९२० की शरद-ऋतु मे (जव मैं कलकत्ते मे कांग्रेस के विशेष अधिवेशन मे गया हुआ था) कुछ मामूली-सी वात पर कुछ किसान-नेता गिरफ्तार कर लिए गये। खास परतावगढ में उनपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुकदमे के दिन किसानो की एक वडी भीड से अदालत का हाता भर गया और वहाँ से जेल तक के रास्ते भर एक लाइन वन गई, जहाँ कि नेता लोग रक्खे गये थे। मजिस्ट्रेट घवरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड वढती गई और उसने जेल को करीव-करीव घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन वडे मजे से रह सकते हैं। आखिर को किसान-नेता छोड दिये गये। शायद जेल में उनका मुकदमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानो ने उसे अपनी एक वडी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज अपनी भीड के वल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे। मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा ही मौका जल्दी पेश आया, लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला, कि जल्दी आओ, क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं जेल में रक्खे गये थे। किसानों को परतावगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनाचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने शायद पुलिस और फौज का इंतज़ाम कर रक्खा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दें। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की खबर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फौज किसानों का सामना करने के लिए रक्खी गई थी। रास्ते में मुझे जिला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्ज़ा मिला, कि मैं वापस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा, कि किस क़ानून की किस दफा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है, और जब तक इसका जवाब नहीं मिलेगा तब तक मैं अपना काम जारी रखना चाहता हूँ। जैसे ही मैं नदी तक पहुँचा कि दूसरे किनारे पर से गोलियों की आवाज़ सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फौज-वालों ने रोक दिया। मैं वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने वहीं उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ कदम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके साथियों पर गोलियों का बरसना और चारों ओर फौज-ही-फौज

दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानो का डर कुछ कम हो गया। तब जिला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहाँ से गोलियाँ चलाई जा रही थी और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी बहाने कोई दो घण्टे तक मुझे रोक रक्खा—जाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानो से और शहरो के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानो ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था, मगर यो वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यकीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होने उनसे कहा होता तो वे जरूर वहाँ से हट गये होते। जिन लोगो का वे विश्वास नही करते थे उनका हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावे, किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्यो कर सफल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारो का, जिनका कि दारोमदार अपने रौब पर होता है, यह तरीका नही हुआ करता।

रायबरेली जिले में उन्ही दिनो दो बार किसानो पर गोलिया चली, और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पञ्चायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया। सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनो कांग्रेस की प्रेरणा से किसानो के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफत आ जाती। चरखें अक्सर जला भी

दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकडो लोगो को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीको से रायबरेली और परतावगढ ज़िले के देहाती इलाको के किसान और काग्रेस दोनो आन्दोलनो को कुचलने की कोशिश की। ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्ता दोनो आन्दोलनो में एकही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ में फ़ैज़ाबाद ज़िले में दूर-दूर तक दमन का मज़ा चखाया गया। वहाँ एक अनोखे ढग से झगडा खडा हुआ। कुछ देहात के किसानो ने जाकर एक ताल्लुकेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगो को एक दूसरे ज़मींदार के नौकरो ने भडका दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगड़ा था। उन ग़रीबो से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गाधी चाहते है कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गाधी की जाय' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगडा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन में उसी स्थान पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फ़ैज़ाबाद ज़िला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घण्टो में पाच-छ हजार लोग कई गाँवो से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहाँ इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हे बुरी तरह आडे हाथों लिया, कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करे। (उन दिनो मैं गाधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने उन लोगो से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरो के सामने कोई दो दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यकीनन उनपर आफ़त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगो से मैंने खानगी में बात-चीत की और

उन्होंने सीधे-सादे ढग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बडा दु ख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगो को लम्बी-लम्बी सजायें पाने की हालत में रक्खा। लेकिन जिन लोगो को सजा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन नहीं थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौका भला कहीं खोने जैसा था ? उस जिले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हजार से ऊपर गिरफ्तारियाँ हुई और जिला-जेल ठसाठस भर गई। कोई एक साल तक मुकदमे चलते रहे। कितने ही तो मुकदमे के दौरान में जेल ही में मर गये। दूसरे कितनो ही को लम्बी-लम्बी सजायें दी गईं और पिछले दिनो जब मैं जेल गया तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाकात हुई थी। क्या लडके और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे।

भारतीय किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनो तक मुकाबला करने की ताकत नहीं रहती। अकालों और बीमारियों के दौरे में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात है कि एक साल भर तक उन्होंने सरकार और जमीदार दोनो के सम्मिलित दबाव का मुकाबला करने की ताकत का परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढतापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हाँ, पहले जैसे बडे-बडे प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकाश गावो में पुराने कार्यकर्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था और जो थोडा-बहुत काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले।

किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद, बहुत कुछ हाथ बटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानों-सम्बन्धी कानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू में आ चुका है तो उनको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को हीन-ह्यात जमीन पर अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थी, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२१ में जो मन्दी सारे संसार में आई उससे चीजों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ।

## : १० :

## असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसकी तरफ कि राष्ट्रीय विचार वालों ने शायद ही कुछ तवज्जो की हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालांकि वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से

बल्कि शुरू से आखिर तक बाहरी और राजनैतिक लोगो का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ बहुत-कम ध्यान दिया गया था। यहाँतक कि सयुक्त प्रात के अखबारो ने भी उसकी तरफ बहुत कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादको और उनके अधिकाश शहराती पाठको के लिए अब नगे किसानो की जमात के उन कामो मे कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्व न था।

पजाब और खिलाफत-सम्बन्धी अन्यायो की रोज़ चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायो को दूर करने की कोशिश की जाने वाली थी, लोगो की ज़बान पर एक ही विषय था। सब लोगो का ध्यान उसी में लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बडे प्रश्न, यानी स्वराज्य, पर ज्यादा जोर नही दिया जाता था। गाधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौडी बातो को पसन्द नही करते है—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज्यादा पसन्द करते है। फिर भी स्वराज्य की बातें वायु-मण्डल मे और लोगो के दिमागो मे बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर में कलकत्ता में काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पजाब और खिलाफत के और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हे असहयोग की यह नई योजना नापसन्द थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति मे वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित-रूप से वैध और माडरेट थी। सदी के शुरू के उन दिनो परिस्थिति ने—न

कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दल वालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके बरसों तक विदेशों में रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाकातों (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनों के बारे में उसने बहुत मज़ाक लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूंक-फूंक कर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओं से कहीं ज्यादा उसका मुकाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यह समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति में हमारे नेताओं की नाड़ी कितनी धीमी चलती थी और उनका क्या असर एक समर्थ और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पड़ा। लेकिन पिछले बीस वर्षों में उनकी नब्ज़ की चाल में बड़ा फर्क पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे—इसलिए नहीं कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे—क्योंकि वह उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें ऐतराज था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उनके पुराने साथियों ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमें से

बहुतेरो को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वह भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीके से आगे बढने में हिचकिचाते थे, जहा जाकर किसी के लिए अपने पुराने तौर-तरीके कायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल में एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की ओर—और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ता वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हे बहुत वक्त लगा था। बडी देर-देर तक उन्होने गाधीजी और देशबन्धु से बातें की थी। उन्ही दिनो सयोग से वह और दासबाबू दोनो बहुत-कुछ एक साथ पड गये थे, क्योकि एक बडे मुफस्सिल मुकदमे में वे दोनो एक-दूसरे के खिलाफ पैरवी के लिए खडे हुए थे। वे दोनो इस मसले को बहुत-कुछ एकसा नुक्ते-निगाह से देखते थे और उसके अन्त के बारे में भी उनका बहुत कम मत-भेद था। फिर भी, वह थोडा-सा ही मतभेद काफी था उनसे विशेष काग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर काग्रेस में मिले, और तबसे आगे चलकर दोनो एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नजदीक आते चले गये।

उन दिनो, कलकत्ता की विशेष कॉंग्रेस के पहले, मै उनको बहुत-कम समझ पाया था। परन्तु जब कभी मै उनसे मिलता मैंने देखा कि वह बराबर इस समस्या का मुकाबला करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका जाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोट लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपने को ढालना—यह कोई आसान बात नही थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी साठ वी वर्षगाठ मनानें की तैयार कर

रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे, सबसे ताल्लुक तोडना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड देना था, जो अब तक पडी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्व का न था, और यह जाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ़ ही बढाते गये यहाँ तक कि अन्त में वह सोलहो आना उसमें कूद पडे। उन कई घटनाओं ने, जिनका अन्त पञ्जाब-काण्ड में हुआ, और उनके बाद जो-कुछ हुआ उसने उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय और अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज उत्साह की लहर में बह जाने वाले न थे। उन्होंने आखिरी फैसला तभी किया और गांधीजी के आंदोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ़ वे खिचे थे और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बडी तेज होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, सयमी, धर्मात्मा, जीवन में प्राप्त होने वाले आनन्द-विलास और शारीरिक सुखो को लात मारने वाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही आनन्दो का स्वाद और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की

कि परलोक मे क्या होगा ! मनोविश्लेपण-शास्त्र की भाषा मे कहे तो यह एक अन्तर्मुख का एक वहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनो के बीच एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था, जिसने दोनो को एक-दूसरे की तरफ खीचा और बाँध रक्खा—यहाँ तक कि जब आगे चलकर दोनो की राजनीति मे अन्तर पड गया तब भी दोनो मे गाढी मित्रता रही।

वाल्टर पेण्टर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक शौकीन, एक धार्मिक प्रकृति का एक और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, परस्पर विरोधी स्थानो से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तो से सफर करते हुए, पर फिर भी दोनो ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियो में औरो से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते है—बनिस्वत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझें और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेप अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति मे गाँधी-युग को शुरू किया, जो तब मे अबतक कायम है—हाँ, बीच में एक छोटा-सा जमाना (१९२२ से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमे उन्हे ने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई, विलायती कपडे चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी, कांग्रेस में नये किस्म के लोग—प्रतिनिधि—दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि

कितने ही डेलीगेट अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के ख़िलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नई ज़िन्दगी, नया जोश, और एक सरगर्मी दिखाई देती थी।

अधिवेशन ख़तम होने के बाद गांधीजी 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के ज़बरदस्त सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जो कि मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और साथ में कहा—'मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, और तो क्या कहूँ, कहीं भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुँच के परे हो जाऊँगा!'

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्यारे बड़े भाई 'बड़ा दादा' से मिलने शान्ति निकेतन गया। वहाँ कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्डरूज ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझ पर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैकमेन्स बर्डन—की मेरे दिल पर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था—'इंडिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का निबन्ध था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि

मुझे वह मेरे हार्दिक भावो का चित्र खीचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बडी सीधी-सादी और सरगर्मी लिए हुए थी। उसमे मानो हमारे दिल को हिला देने वाली गहरी प्रेरणाये और अधखिली अभिलाषाये साफ तौर पर मूर्त बनती दिखाई दी। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमें साम्यवाद ही था, उसमे शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की जिल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और हमारे इस बरसों के अवपतन का खात्मा कर देने की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने मे सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है, कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—उभाड—पैदा हो। ऐसे उभाड के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह मे ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, मागने, मिलने, ऐलान करने और रिआयते देने से नही आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।' ' ' इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आन्तरिक शक्ति, यह बारूद, दरअसल भक् से धडाका कर चुकी है—जब महात्मा गाधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो, और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की खुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेडियाँ ढीली हुईं और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास मे सारे देश भर में असहयोग की लहर बढती चली

गई। नई कौन्सिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रक्खी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन, हाँ, यह सच है कि अधिकांश वोटर—मतदाता—वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का खयाल था, कौंसिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और चुनाव के मुक़ामों पर खुद देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता को देखकर दंग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आखिर को उन्होंने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालों को क़ायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हीं की बदौलत मुस्लिम-लीग का कांग्रेस के नज़दीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर

जनता का सगठन बन गई, वह उन्हें कतई नापसन्द था। उनके मतभेद का कारण यो तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यत राजनैतिक न था। उस समय की काग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारो में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि काग्रेस के इस नये रग-रूप से उनका स्वभाव मेल नही खाता था। उस खादीधारी मज्मे में, जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने का मतालबा करती थी, वह अपने को बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगो मे जो जोश था वह उन्हें पागलो की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फर्क था जितना कि सेवाइल रो और बॉण्ड स्ट्रीट में और झोपड़ोवाले हिन्दुस्तानी गावो में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ मैट्रिक पास ही काग्रेस मे लिये जावे। मै नही कह सकता कि उन्होने दरअसल सजीदगी के साथ ही यह बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि उनके साधारण दृष्टिकोण के वह मुआफिक ही थी। इस तरह वह काग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दु ख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगो में मिल गया जो मुसलमानो में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटो या यो कहे कि लिबरलो का तो काग्रेस से कोई ताल्लुक ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नही हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये, नई योजना के अन्दर मिनिस्टर और बडे-बडे अफसर बने और असहयोग तथा काग्रेस का मुकाबला करने मे सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, करीब-करीब सब उन्हे मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो, एक ओर देश जहा जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहा वे खुले

आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिल्कुल अलग जा पड़े और तब से हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनकी आदत पड़ गई जो अब तक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गई है—सिर्फ चन्द लोग रह गये हैं, सो भी कुछ बड़े शहरों में। श्री श्रीनिवास शास्त्री शाही राजदूत और ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में घूमे और जहाँ-जहाँ गये उन्होंने कांग्रेस को और खुद अपने ही देश-वासियों को उस सरकार से लड़ाई लड़ते रहने के लिए बुरा-भला कहा।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग निश्चिन्त थे। खुद अपने ही लोगों से कट कर अलहदा पड़ जाना, जहाँ दुश्मनी नहीं दिखाई या सुनाई देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना, कोई आनन्ददायी अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उमड़ उठती है तो वह अपने से अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालाँकि गांधीजी की बारम्बार की चेतावनियों ने असहयोग को मुखालिफ़ों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही उनका दम बन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह कि वह उन लोगों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं, वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ़ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और उनको पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहनशीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एकसी राय देने और एकसे काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा प्रचण्ड शख्स जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इसमें भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी कैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आजादी का एक नया भाव आ गया हो। जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँ तक कि दूर-दूर के बाजारों में भी राह चलते लोग कांग्रेस और स्वराज (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था) की, पंजाब की घटनाओं की, तथा खिलाफत की बातें करते थे। लेकिन 'खिलाफत' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ'! हाँ, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टों पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभायें और सम्मेलन होते और उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें से बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक किस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए। हमें अपना रास्ता आगे सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से

उत्साहित होते तथा दूसरों को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी, क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबला शीघ्र ही होनेवाला है, और इससे पहले कि सरकार हमें उठा कर अलग कर दे, हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डरसे काना-फूंसी होती थी और न गोल-गोल कानूनी भाषा इस्तेमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही कहते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुंचानेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे और हम जहां जाते वहां साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गई थी, क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ संतोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आंखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आजादी बहुत नजदीक ला रहा है। बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था, कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे मुखालिफ़ों के मुक़ाबले में अच्छे और ऊंचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीक़े पर फ़ख्र था। और कभी-कभी हम अपने को नेकतर मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई

के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ाव देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यो-ज्यो हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्व, बढता गया, त्यो-त्यो सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नही आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पडता था कि हिन्दुस्तान में उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नई आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे है और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बडा सहारा—रौब—सरेदस्त गिरता जा रहा है। थोडा-थोडा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढता जाता था और सरकार बहुत देर तक बडे-बडे नेताओ पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नही जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फौज पर भरोसा रक्खा जा सकता है या नही ? पुलिस हमारे हुक्मो पर अमल करेगी या नही ? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे है।'

१९२१ की गर्मियो मे युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफसरो के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गई थी। उसमे दु ख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन मे प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथो में है, और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथो में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को कायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लडने का यह तरीका लिबरल मिनिस्टरो का सुझाया हुआ था।

'कितने ही ब्रिटिश अफसरो के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमागी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुकाबला करने की स्पिरिट हाकिमो के सिर पर घने

सनसनी बादलों की तरह मँडरा रहे थे, परन्तु फिर भी चूंकि कांग्रेस के साधन सीमित थे, उन्हें उनका मुक़ाबला करते उसपर हावी होने या जोर के साथ दबाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। लेकिन सर्व के अफ़सर इस बात को नहीं मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी छिपी साज़िश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्थान के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेज़ों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूर्व एक रहस्यमय देश है, और वहां के बाज़ारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साज़िशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूर्वी पुरुष को जो एक सीधा-सादा और रहस्य से ख़ाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो कुछ ख़याल बनाते हैं वे भेदियों और ख़ुफ़िया पुलिस के द्वारा मिली [illegible] ख़बरों के आधार पर और फिर उनके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आम तौर पर अंग्रेज़ लोगों में एकाएक वहशत फैल गई। उन्हें हर जगह ख़तरा-ही-ख़तरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत से आँखें मूँदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे ऐसे भयंकर काण्ड करा डाले जिनसे अमृतसर का जलियांवाला-बाग़ और रेंगनेवाली गली के [illegible] और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी सनसनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने का हर तरह की गुंजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था

ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद मे दस मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पचाग मे शुभ-दिन देखकर यह तारीख मुकर्रर की गई थी। गाँधीजी तथा दूसरे काँग्रेसियो को, जिनमे अली-बन्धु भी थे, निमन्त्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद में रख ली गई थी। स्थानिक काँग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओ की मौजूदगी से फायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होने बडे पैमाने पर एक जिला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उन्हे उम्मीद थी कि आस-पास के देहात से किसान लोग बहुत बडी तादाद में आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओ की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे कुछ लोगो के दिलो मे अजीब घबडाहट छा गई। एक रोज एक बैरिस्टर-दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अग्रेजो के होश ठिकाने न रहे और उन्हे डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवडर खडा हो जानेवाला है। हिन्दुस्तानी नौकरो पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब मे पिस्तौल रखने लगे। खानगी में यहाँ तक कहा गया कि इलाहाबाद का किला इस बात के लिए तैयार रक्खा गया था कि जरूरत पडने पर तमाम अग्रेजो को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बडा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यो इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्ति-मय शहर मे ऐसे किसी बवडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। ओफ! यहाँ तक कहा गया कि दस मई,

और यही तारीख इत्तफाक से मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी, १८५७ को मेरठ में गदर शुरू हुआ था और उनका मालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही हैं

१९२१ में खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इनसे कितने ही मौलवी और मुसलमानो के मजहबी नेताओ ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ बँटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रंगे हुए मुसलमान भी, जिनकी कोई खास रगबत मजहब की तरफ नहीं थी, डाढी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानो की पावन्दी करने लगे थे। बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये खयालात के सबब से मौलवियो का जो असर और रौब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानो पर अपनी धाक जमाने लगा। अली भाइयो ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, इस सिलसिले को और ताकत दी, और इसी तरह गांधीजी ने भी, जो मौलवी और मौलानाओ को बहुत ही इज्जत दिया करते थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था तथा, जहाँ तक जनता से ताल्लुक है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आन्दोलन मालूम होता था। कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्ता स्वभावत अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी देशबन्धुदास, लाला लाजपतराय, और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और राजनैतिक मसलो को

राजनैतिक कक्षा में ही रखकर विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और वक्तव्यों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्योंकि उन्होंने वह सब बहुत कुछ छोड़ दिया, जिसको दुनिया कीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन अख्त्यार करली थी। त्याग खुद ही धर्म का एक चिन्ह समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते उसका बहुतांश मुझे बहुत-कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उसका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थ शास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी मरोड़ दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे—जैसे 'रामराज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दखल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मैं इन बातों की झञ्झट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की जरूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर किस्म के लोग रहते हैं, और जब तक हमारी

असली दिशा सही है, कुछ भँवरो और चक्करों में कुछ बिगड नहीं सकता। और खुद गांधीजी को लें तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्राय नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना जरूर अच्छी तरह समझ गये है कि वह एक महान और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता हैं और जबकि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रक्खी थी तो मानो हमने कोरे कागज़ पर ही दस्तखत करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस में उनकी इन खब्तो और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी मे कहा करते कि जब स्वराज्य आ जायगा तब इन खब्तो को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलो में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म-क्षेत्र में भी बिलकुल आजाद बने रहना असभव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी वहाँ जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक प्रभाव पडे बिना न रहता। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये, और सबसे बडी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगो के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसद था, मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख्तियार करली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नजदीक नही पहुँचा था।

जिस बात का मैं आदर करता था वह थी उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सबन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहो आने नहीं मान लिया था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था, लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ अधिकाधिक खींचता चला

जाता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और जैसे सँस्कार है उन्हे देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तग और मजहबी मानी में नही—साँचे मे ढालना मुझे एक उमदा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नही, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नही होते वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते है और नई समस्यायें और नई दिक्कते पैदा कर देते है। और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक कौम के लिए, ऐसे साधनो के सामने सिर झुकाना—दलदल मे से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपने को कलुषित किये बिना कोई कैसे बच सकता था? यदि हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल रेगते है, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ सकते है।

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी जो मैं चाहता था—कौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगो के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावो के मुआफिक थे और जिन्होने मुझे जाती आजादी का भान कराया। यह जाती तसल्ली मुझे इतनी ज्यादा मिली कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज्यादा परवा न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोडे समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैं न तो समझता था और न उसकी तरफ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोको को पढना पसन्द करता था जो शाम को गाँधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढे जाते थे,

और जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए—शान्त, स्थिर, गंभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नहीं हूँ, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

## : ११ :

## पहली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म भावुकता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सब की तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मजदूरवर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबरदस्त आदर्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था, और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो जमाने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोहों के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा में चलनेवाला एक पचरंगी दल बना लिया था। वास्तव में वह 'लोगों की अस्पष्ट अभिलाषाओं का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक-मूर्त ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इसमें भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषायें और उमगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कही मुक्त थी, जिनके खिलाफ वे इस्तैमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोध-रूपी भाव है, और यह जीता और पनपना है दूसरे राष्ट्रीय समुदायो के, ख़ास कर किसी शासित देश के, विरोधी शासको के खिलाफ घृणा और क्रोध के भावो पर। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगो के खिलाफ घृणा और क्रोध ज़रूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्को के मुकाबले में यह निहायत ही कम था। इसमे शक नही कि यह बात हुई है गांधीजी के अहिंसा के रहस्य पर जोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश मे आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे है, हमारा बल बढ़ रहा है, और नजदीक भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो गुस्सा होने और नफरत करने से फायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नही।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियो के प्रति, जो हमारे खिलाफ हो गये थे और राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलो में इतने उदार नही थे, हालाकि जो-जो काम हम करते थे और खूब आगा-पीछा सोचकर करते थे। उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वकत नही थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमज़ोरी, समय-साधुता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण हिकारत भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से किन्तु उत्कटता के साथ,

और हम इस आनन्द में मस्त थे कि हमने अपना हथियार चला दिया है। मगर लक्ष्य के बारे में तो स्पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धान्तिक पहलुओं को, अपने आन्दोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज़ को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आजादी या ऐसी ही कोई चीज़, और लोकतन्त्री ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाज़मी तौर पर मजदूरों और किसानों के वे बोझे जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं हलके हो जायेंगे। मगर यह ज़ाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओं के दिमाग़ में स्वराज का मतलब आज़ादी से बहुत छोटी चीज़ थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ़ विचार कर लेनेवालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हाँ हमेशा, अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पद-दलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयों को बड़ी तसल्ली होती थी, हालांकि उसी के साथ वह ऊँची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का ज़ोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था, और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति है।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मजबूती ही हममे विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे, पिछडे और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर सीधी और सिर ऊँचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पडे। हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड दिया। हमने भुला दिया कि एक ज्ञानपूर्वक निश्चित विचार-प्रणाली और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुंधुआ कर रह जायगा। किसी हद तक हमारे आन्दोलन मे धर्मजागृति के बल ने हमे आगे बढाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनो के लिए या अन्यायो को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र ससार को देगा। सभी जातियो और सभी राष्ट्रो में जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से ससार में सबसे ऊँची है, उसीमें हम फँस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लडाइयो में, शस्त्रास्त्रो के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नही है, बल्कि रामबाण भी है। मेरे खयाल से, शायद ही कोई मशीनरी और वर्तमान सभ्यता विषयक गाँधीजी के पुराने विचारो से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारो को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियो मे ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होगे। निश्चय ही, हममें से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतो को त्यागने को तैयार न थे, हालाकि हमें चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बडी मशीनरी और तेज सफर को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमें

सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्शों का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया।

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा ही किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। हां, उस समय तक प्रचलित किताबों को कुछ-कुछ पढ़ना कायम रक्खा था और संसार में क्या-क्या घटनायें घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक्त ही नहीं था। हालांकि पारिवारिक मोह ज़बरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी लड़की, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों मैं उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धैर्य और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ें ही मानो मेरा घर बन गया था। "गांवों में जाओ" यही सबकी आवाज़ थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गांवों में पहुंचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे। मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं थोड़ा-थोड़ा भीड़

का मानस, शहर की जनता और किसानो के फर्क को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफो और बडे-बडे मजमो के धक्कम-धक्को मे मजा आने लगा, हालाकि उनमे अनुशासन के न होने से मै अक्सर चिढ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमो के सामने भी जाना पडा है, जिनकी तेजी इतनी बढी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हे भडका सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बडी मदद मिली। मै हमेशा विश्वास के साथ सीधा मजमे के सामने जाता। अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुणग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममें मत-भेद ही रहा हो। मगर मजमो के स्वभाव का कुछ कह नही सकते, सम्भव है भविष्य मे मुझे कुछ और ही अनुभव मिले।

मै मजमो को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमे मै अपने-आपको भुला नही देता था। मै अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मै अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हे समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मै, जो कि अपने आसपास जमा होने वाले इन हजारो आदमियो से हर बात में भिन्न था, अपनी आदतो में, इच्छाओ मे, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुमत भिन्न था, इन लोगो की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो न था कि इन लोगो ने मुझे मेरे मूल स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेगे? क्या मैं लम्बी-चौडी बाते बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बाते कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख्ती से बातचीत की, और उनके कई प्रिय विश्वासो और रीतियो की नुकताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातो को बरदाश्त

कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ, उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उनके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय? जब उनकी वह कल्पना झूठ निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमों के इन भोले भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता है। उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उनसे अच्छा समझते हैं, होता है। हाँ, वे जड बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी ले, मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा का भाव पैदा होता और उनके आने वाले दुःखान्त जीवन का दृश्य आँखों के सामने खड़ा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सों का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता (जिनमें मैं भी शामिल था) व्याख्यान-मंच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था। वहाँ काफी दिखावा होता था, और हमारे धुँआ-धार भाषणों में आडम्बर की कोई कमी न थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में कुसूरवार रहे होंगे, मगर खिलाफ़त के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज्यादा बढ़े हुए थे। जहाँ बहुत लोग जमा हों उनके सामने व्याख्यान-मंच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है, और इस तरह लोगों के सामने आने का पहले किसी को तजुर्बा भी न था। इसलिए हमारे खयाल के मुताबिक नेताओं को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गंभीर, चंचलता और छिछोरपन से बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते

या हँसते थे, तो हमे यह ख़याल रहता था कि हज़ारो आँखे हमें घूर रही है और उसी को ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बडे छटादार होते थे मगर अक्सर ही वे ज्यादातर वे-मुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते है उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं अपने-आपको टीका की दृष्टि से न देख सका तो मैंने दूसरो के तर्ज़-अमल पर गौर करना शुरू किया, और इस काम में मुझे खूब मजा आया और फिर यह भयकर खयाल भी आता था कि शायद मैं भी दूसरो को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊगा।

१९२१ भर काग्रेस-कार्यकर्ताओ की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सज़ा-यावी होती रही, मगर मजमूई गिरफ्तारियाँ न हुई। अली-बन्धुओ को हिन्दुस्तानी फौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजायें दी गई थी। जिन शब्दो के लिए उन्हे सज़ा मिली थी, उनको सैकडो व्याख्यान-मचो से हज़ारो आदमियो ने दोहराया। अपने कुछ भाषणो के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियो में दी गई थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कारंवाई नही की गई। साल के अखीर में मामला अजहद बढ गया। युवराज हिन्दुस्तान आने वाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक की जानेवाली तमाम कारंवाइयो का बहिष्कार करने की घोषणा काग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बगाल में काग्रेस के स्वयसेवक गैरकानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धुदास ने बगाल को एक बडा जोशीला सदेश दिया—"मैं महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथो में हथकडियाँ पड़ी हुई है और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी ज़जीरो से जकडा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। अरे, सारा हिन्दुस्तान एक बडा जेलखाना ही हो गया है! काग्रेस का

काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी पर्वाह नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नहीं कि मैं मर जाऊँ या ज़िन्दा रहूँ।" यू० पी० में भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार कर लिया। हमने न सिर्फ़ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन कायम रहेगा, बल्कि दैनिक अख़बारों में अपने स्वयंसेवकों की नामावलियाँ भी छपवा दीं। पहली फ़ेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिता का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ़ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही में, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ़्तारियाँ शुरू हुईं।

हमने जान लिया कि आख़िर अब तो पासा पड़ चुका है, कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला था। अभी तक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नई बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के कांग्रेस-दफ़्तर में ज़रा देर तक बकाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ़्तर के मकान को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा अस्तव्यस्त तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ़्तर के कमरों में तलाशी लें तो तुम उनके साथ-साथ रहो, और बाकी के कार-कुनों से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ़ ध्यान न दो। कुछ देर के बाद एक मित्र और एक साथी कार्यकर्ता जो, दफ़्तर के बाहर ही गिरफ़्तार कर लिये गये

थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा ,लेने आये। मुझे इन नई घटनाओ को मामूली घटनायें समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मै अपने साथी कार्यकर्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मै जबतक अपनी चिट्ठी, जिसे मै लिख रहा था, पूरी न कर लूं, तबतक जरा ठहरे रहे। जल्दी ही शहर में और भी लोगो के गिरफ्तार होने की खबर आई। आखिरकार मैंने यह तय किया कि मै घर जाऊँ और देखूं कि वहा क्या हो रहा है। वहाँ सर्वव्यापी पुलिस के दर्शन हुए वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनो को गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्हे हडतालें और सूनी सडके ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसान शहर मालूम पडा। कुछ दिनो बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई कसूर न था, और न उनके खिलाफ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो, खासकर युक्तप्रान्त और बगाल में, गिरफ्तारियो और सजाओ की धूम मच गई। इन प्रान्तो में सभी खास-खास कॉंग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड लिये गये, और मामूली स्वयसेवक तो हजारो की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में तो ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयसेवको की तादाद मानो खत्म हीं

न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब ( ५५ व्यक्ति ), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हल-चल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-की-शाम, अपने परिचित नारों और आवाजें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ आ रही हैं। जेलें भर गई थीं, और जेल-अफसर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ लाये जाने वालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नहीं लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए, जेल-मैनुअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसी को गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी, सिर्फ खास-खास कार्यकर्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गई, और सभी भरोसे के कार्यकर्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गई। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण में तो बिजली भरी हुई थी और चारों ओर गड़गड़ाहट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर

१९२१ और जनवरी १९२२ मे, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हजार आदमियो को असहयोग के सम्बन्ध मे सजाये मिली। मगर हालाकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लडाई के नेता महात्मा गाधी फिर भी बाहर थे, जो रोजाना लोगो को अपने सदेश देते और हिदायते जारी करते रहते थे, जिनसे लोगो को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बाते होने से बच जाती थी। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नही डाला था, क्योकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराब हो और कही हिन्दुस्तानी फौज और पुलिस तो बिगड न उठे।

अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल मे ही हमने बडे आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गाधीजी ने सविनय भग की लडाई रोक दी और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया है। हमने पढा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगो की एक भीड ने बदले में पुलिस-स्टेशन मे आग लगा दी थी और उसमे करीब आधे दर्जन पुलिसवालो को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त मे जब कि हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चो पर आगे बढ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है, तो हम बहुत बिगडे। मगर हम जेल वालो की मायूसी और नाराजगी से हो ही क्या सकता था ? सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनो की दिक्कत और परेशानी के बाद सरकार को आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ से हमला शुरू करने का मौका मिला। कुछ हफ्तो बाद उसने गाधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हे एक लम्बी कैद की सजा दे दी।

: १२ :

## अहिंसा और तलवार का न्याय

चौरीचौरा-कांड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा खयाल है, गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के बाक़ी तमाम नेताओं में बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक़्त जेल में थे, उस पर बहुत ही बिगड़े थे। क़ुदरतन् नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गईं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ़ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल ख़िलाफ़, लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक ख़ून-ख़राबी का यही ज़रूरी नतीजा होना है तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई की विधा और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है, क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना ग़ैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी

ज्यादा लोगो को अहिंसात्मक लडाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें और, यही क्यो, हममें ऐसे कितने है जो यह कह सकते है कि पुलिस से वहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे ? लेकिन अगर हम इसमें कामयाव भी हो जायें तो जो वहुत-से भडकानेवाले एजेन्ट और चुगलखोर वगैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरो से करा देते हैं, उनका क्या होगा ? अगर अहिंसात्मक लडाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जव कही कोई जरा भी खून-खरावी न करे, तव तो अहिंसात्मक लडाई हमेशा असफल ही रहेगी ।

हम लोगो ने अहिंसा के तरीके को इसलिए मजूर किया था, और कांग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपनाया था, कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीका कारगर है । गाँधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए नहीं रक्खा था कि वह सही तरीका है, वल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलव के लिए वह सव से ज्यादा कारगर था । यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है वहुत ही वल और प्रभाव रखनेवाला तरीका और ऐसा तरीका जो जालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के विलकुल खिलाफ था । वह तरीका कायरो का तरीका नही था जिसमे लडाई से मुँह छिपाया जाय, वल्कि वुराई और कौमी गुलामी की मुखालिफत करने के लिए वहादुरो का तरीका था । लेकिन अगर किन्ही भी थोडे से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लवादा ओढे हुए हमारे दुश्मन हो—हाथ मे यह ताकत हो कि वे ऊटपटाग बेतहाशा कामो से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते है, तो वहादुराना-से-वहादुराना और मजवूत-से-मजवूत तरीके से भी आखिर क्या फ़ायदा ?

धारा-प्रवाह वोलने की और लोगो को समझाने की ताकत गाँधीजी

में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शांतिमय असहयोग का रास्ता अख़्त्यार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और उनकी मुख-मुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ़ की उन बाहरी ओढ़नी के पीछे एक तीव्र जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़ कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी के मक़सद पर हमें ज़रूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का न्याय' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिंदुस्तान अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह ख़ुद अपनी बेइ-ज़्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज़्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता। लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ • •••

"कोई मुझे समझने मे गलती न करे। ताकत शारीरिक बल से नही आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मै हवाई और खयाली आदमी हूँ। मै तो अमली आदर्श-वादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज ऋषि और महात्माओ के लिए ही नही है, वह तो आम लोगो के लिए भी है। जैसे पशुओ के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यो की प्रकृति का कानून है। पशुओ की आत्मा सोती पडी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा कानून को जानती ही नही। इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताकत, आत्मा की ताकत, के सामने सिर झुकावे।

"इसीलिए मैने हिन्दुस्तान के सामने आत्म बलिदान का, अपनी कुर्बानी का, प्राचीन नियम पेश करने की जुर्रत की है, क्योकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, असहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामो के अलावा और कुछ नही है। जिन ऋषियो ने, हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूढ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होने उन्हे बेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के जरिये नही होगा बल्कि अहिंसा के जरिये होगा।

"अपनी सक्रिय दशा मे अहिंसा के मानी है जान-बूझकर तकलीफें उठाना। उसके मानी यह नही है कि आप बुरा करने वाले की इच्छा के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह है कि हम जालिम की इच्छा के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा को भिडा दें। अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्जत, अपने मजहब और अपनी

आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नीव डाल दे।

"और इसीलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख्त्यार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमजोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताकत और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे। मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमजोरियों पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबला कर सकती है।

"इस असहयोग को मैं 'सिनफिन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ, क्योंकि इसका जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह से वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमजोरी की वजह से असफल न होगा। हाँ, अगर ज्यादा तादाद में लोग उसे अख्त्यार न करें तो वह असफल हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा, क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख्त्यार करेंगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे अपना या गुलामी से मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायँगे। अगर हिन्दुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान का हूँ, इसलिए बँधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने इसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलो का हमारे ऊपर बहुत असर पडा, लेकिन हम लोगो की राय मे और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय मे अहिंसा का तरीका न तो मजहब था अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीका था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा-से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा महज तरीका ही हो सकता था जिसमे हम खास नतीजो की उम्मीद करते थे, और उन्ही नतीजो से अखीर में हम उसकी बाबत फैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मजहब बना ले या निर्विवाद धर्म मान ले, परन्तु कोई भी राजनैतिक सस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नही कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगो को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओ की जाच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगो ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये है वे सही है तो हमारे विरोधियो के पास हमेशा वह ताकत रहेगी, जिससे वे ऐसी हालते पैदा कर दे जिनसे लाजिमी तौर पर हमें अपनी लडाई छोड देनी पडे। आया यह कसूर खुद अहिंसा के तरीके का था या उसकी उस व्याख्या का जो गाधीजी ने की ? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे ? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीका क्या है और क्या नही है ? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा ?

लेकिन बहुत बरसो के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लडाई शुरू होने से ठीक पहले, हमे यह देखकर बडा सतोष हुआ कि गाधीजी ने इस बात को साफ कर दिया। उन्होने कहा कि कही इक्के-दुक्के-हिंसात्मक काण्ड हो जायें तो उसकी वजह से हमे अपनी लडाई छोडने की जरूरत नही है। अगर ऐसी घटनाओ की वजह से, जो कही-न-

कहीं हुए विना नही रह सकती, अहिंसा का तरीका काम नही कर सकता तो जाहिर था कि वह हर मौके के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिये तैयार नही थे। उनकी राय में तो जब वह तरीका सही तरीक़ा है तो वह सब मौको के लिए मौजूं होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही लेकिन विरोधी आबोहवा में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारो के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज चौरीचौरा की वजह से नही हुआ, हालांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आखिरी निमित्त हो गया था। गांधीजी अक्सर अपनी अन्त प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते है। ऐसा मालूम होता है कि जैसे महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते है वैसे ही गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़दीक रहकर एक नई इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते है और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते है और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियो के लिए अपने फ़ैसलों को कारणो का जामा पहनाने की कोशिश करते है। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफ़ी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देने वाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। करीब-करीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल

में थे, और उस वक्त तक आम लोगो को खुद अपने बल पर लडाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नही के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कॉंग्रेस-कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत-से अनिष्ट लोग, जिनमे लोगो को उसकाने तथा भडकाने वाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी कॉंग्रेस और खिलाफत-कमिटियो पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगो को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नही कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस किस्म की लडाई में बहुत कुछ लाजिमी है। नेताओ के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगो को रास्ता दिखावे और दूसरो पर यह भरोसा करे कि वे लडाई चलाते रहेगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामो से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ में सविनय-भग-आन्दोलन बहुत ही ताकत के साथ और सगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनो लोगो के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमे कोई शक नही कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डो को सरकार बदतर हत्याकाण्डो द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गाँधीजी के दिमाग में जिन असरो और सबबो ने काम किया वे सम्भवत यही थे। उनकी मूल बातो को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था इस बात को, मान लेने के बाद कहना

होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनकी वे सब ख़ामियाँ लेकर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीक़े से कोई ताल्लुक़ न था। आप एक-साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और उस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमंत्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीक़ा है कि वे अपनी चिता की राख में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़े वक़्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भली-भाँति समझने में और लोगों को पक्का तथा मज़बूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार नहीं है बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे सिद्धान्त और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी लेकिन था सिर्फ़ अहिंसात्मक लड़ाई का एक ख़ास ढंग। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछला यानी अहिंसा का तरीक़ा खत्म हो जाता, और जहाँ तक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक़ है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग लड़ते। आम तौर पर लोग इतने मज़बूत न थे कि वे ज़्यादा अरसे तक लड़ाई चलाते जाते, और विदेशी शासन के ख़िलाफ़ क़रीब-क़रीब सर्वव्यापी असन्तोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी कुव्वत या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हज़ारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह

उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ ही दिनो में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने का तरीका और भी वेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगो की निष्ठा ढीली होगई और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस वडे आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में वन्द करने से उन दुखान्त काण्डो के होने में मदद मिली जो देश में वाद को जाकर हुए। राजनैतिक सग्राम में फुटकर और वेकार हिंसा-काण्डो की ओर वहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दवाई गई हिंसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही, और शायद वाद के सालो में इसी वात ने हिन्दू-मुसलिम झगडो को वढाया। असहयोग और सविनय भग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगो की जो भारी इमदाद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति में प्रतिक्रियावादी थे, लोगो की निगाह से गिरकर दवे पडे थे। लेकिन उस हलचल के वन्द होने पर अव वे वाहर निकल आये। वहुत-से दूसरे लोगो ने भी—जैसे खुफिया के एजण्टो तथा उन लोगो ने जो हिन्दू-मुसलमानो में फिसाद कराके हाकिमो को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम-वैर वढाने में मदद की। मोपलाओ के उत्पात से तथा जिस निहायत वेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगो को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगडे पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के वन्द डिब्बो में मोपला कैदियो का भुरता कर देना एक वहुत-ही वीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह वन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में कौमी जहर इतना न वढता और वाद को जो कौमी दगे हुए उनके लिए वहुत ही कम ताकत वाकी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिल्कुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गई और डर गई। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम सभा में यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई थीं उनके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का समझौता कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्देनज़र रखकर की गई थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धु दास में, जो उन दिनों जेल में थे कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स की जाय। यह तजवीज इसलिए गिर गई, क्योंकि गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कान्फ्रेन्स में मौजूद रहना ज़रूरी है और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख दास बाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने खुलेआम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में उस कान्फ्रेन्स से कोई फायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में शाहज़ादे की आमद का वक्त बिना खरखशा निकल जाय। इससे तो जो

बुनियादी मसले हमारे सामने थे वे ज्यो-के-त्यो बने रहते । नौ बरस बाद जब राष्ट्र और काग्रेस पहले से कही ज्यादा ताकतवर थी तब, गोलमेज़ कानफ्रेन्स हुई और उससे कोई नतीजा नही निकला । लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गाधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिलकुल ठीक ही किया । काग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नही, बल्कि खिलाफत की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनो काग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफत एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी । जिस नीति या कारंवाई मे अपने साथी को छोड़ना पडे वह कभी सही हो ही नही सकती । सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हे जेल से छोडने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कानफ्रेन्स से किसी किस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था ।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मो में अलग-अलग अदालतो ने ६-६ महीने की सजायें दी थी । मुकदमे महज़ एक स्वांग थे और अपने रिवाज के मुताबिक हम लोगो ने उनमें कोई हिस्सा नही लिया था । इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानो में और दूसरी हलचलो मे सज़ा देने के लिए काफी मसाला ढूँढ निकालना बहुत आसान था । लेकिन सजा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसद किया गया वह मजेदार था । पिताजी पर एक गैर-कानूनी जमात का मबर होने—काग्रेस-स्वयसेवक होने—के जुर्म मे मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तखत दिखाये गये थे । बिला शक दस्तखत उन्ही के थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्राय. कभी हिन्दी में दस्तखत नही किये थे । इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तखत पहचान सकते थे । अदालत मे एक फटे-हाल महाशय

पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि दस्तखत मोतीलालजी के ही हैं। वह महाशय बिल्कुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फार्म को औंधा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिए रहे। इससे उनके मुक़दमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक़्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिये नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक़्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गई। तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तला मिली कि कोई मुक़दमों की जाँच करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गई वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुक़दमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जाँच करने वाले जजों में मुक़दमों की जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि अब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूँगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अँग्रेज था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त

और सद्भावना दिखाई। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालने वाला था। हम लोग वहां से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरे ले रहे थे और उनके जिन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सूनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सीखचों के अंदर बन्द थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। खास तौर पर मैंने विलायती कपड़े के बायकाट में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिए जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के करीब-करीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसी से खरीदेंगे न विलायत से ही मँगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी कायम कर लिया था। मण्डल के कायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी नाइंसाफी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद उनके कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये बाकी के लोग थे जिन्होंने दुकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गई, जिनमें जबरदस्ती रुपया ऐंठना और लोगों को डराने के जुर्म शामिल थे। लेकिन राजद्रोह वाला मामला नहीं चलाया गया क्योंकि ग़ालिबन यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी, वह पहले ही मिल चुकी है। जहां तक मुझे याद है, मुझे तीन सज़ायें दी गईं जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छ हफ्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

## : १७ :

## लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात नहीं थी। ख़ासकर बंग-भंग-आन्दोलन के वक्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सज़ायें होती थीं। बग़ैर मुक़दमे चलाये नज़रबन्दियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने ज़माने के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छ साल क़ैद की सज़ा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़रबन्दियों और जेल भेजने का यह

सिलसिला और भी बढ गया, और षड्यन्त्रो के मामले बहुत होने लगे जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन कैद की सजायें दी जाती थी। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आज़ाद भी लडाई के ज़माने मे नज़र-बन्द हुए थे। लडाई के बाद ही फौरन पजाब मे फौजी कानून जारी हुआ, जिसमें लोग बडी तादाद में जेल गये और बहुत लोगो को षड्यन्त्र के या सरसरी मुक़दमो में सजाये दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान में राज-नैतिक सज़ा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभीतक खुद जानबूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी, या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी, लेकिन, ऐसा होने पर, आदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ्रीका म अलबत्ता सत्याग्रह की लडाई मे गाधीजी और उनके हज़ारो अनुयायियो ने एक नई ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलखाना करीब-करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सज़ायाफ्ता आदमियो को अपने अन्दर हडप जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है। अन्दाज से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बडे-बडे खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बायें हाथ का खेल था। हमारे खयाल से जेल एकान्त, बेइज्ज़ती और कष्टो की जगह थी, और सबसे बडी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक्र सुनते रहने के कारण, और उसमे अपने कई साथियो के चले जाने से, हम इस खयाल के आदी हो गये, और उसके बारे मे आशका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने आप पैदा हो जाती थी उसकी तेज़ी कम हो गई। परन्तु दिमागी

तैयारी पहले से कितनी भी की हो जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाखिल होते थे तो वह जोश और उद्वेग से नहीं बच सकती थी। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान के कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष इन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाखिल हो चुके हैं हालाँकि बहुत करके इन्साफ फौज-दारी क़ानून की किसी दूसरी ही दफ़ा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों दो-कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर से किन बातों की उम्मीद करें और यद्यपि कोई आदमी किसी तरह से [illegible] और नीरसता और उदासी के साथ [illegible] और भयंकर [illegible] की ज़िन्दगी के [illegible] अपने-आपको बना सकता है लेकिन उन्होंने वहाँकी अजीब ज़िन्दगी के मुताबिक अपने-आपको बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी भी हो जाते हैं, क्योंकि इन्सान क़रीब-क़रीब हर बात का आदी हो जाता है। और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाखिल होते हैं तो फिर वही कुछ पुरानी जोश और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज़ तेज़ चलने लगती है और हमारी आँखें उस बाहर की हरियाली और खुले मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचान-वालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत दिनों तक देखने का मौक़ा नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन तो तीन महीने के बाद ही [illegible] हो गये, [illegible] [illegible] के लिए [illegible] दिये। जेल के अन्दर [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] थी। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible]

हदो को वहा न ले जाय। इससे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढंग के थे। यो आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गो मे एक बात सामान्य थी। वे मामूली सज़ायाफ्ता लोगो से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नही किया जा सकता था। अधिकारियो ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदो की जगह दूसरे कायदे न थे, और न पहले की कोई मिसालें थी, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी कैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमें यह खयाल भी आगया था कि हममें कुछ ताकत है। बाहर के आन्दोलन से, और जेलखानो के अन्दर के मामलात मे पब्लिक की नई दिलचस्पी पैदा होजाने के कारण, वह और भी मजबूत होगया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज़ रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियो से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी इमदाद न करते तो अफसरो की तकलीफे बहुत ज्यादा हो गई होती। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरको में, जिनमें हमारे स्वयसेवक थे, चलकर इन्हे शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयसेवक तो प्राय बिना बुलाये खुद जबरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नही कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस ज़ाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम में न पडने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक

कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जोकि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को माग जाने देने में कामयाब हो सके, तो मैं आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश कर दूंगा।

हमारे साथ के ज्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मैं, इन लोगों के लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २०×१६ फ़ीट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफ़ी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से मुलाक़ात बहुत बार करने की इजाज़त थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताज़ी घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुज़ारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिंदुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें से जो पढ़ना नहीं जानते थे उनके लिए, हिंदी उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के वास्ते क्लास खोलने की इजाज़त मिल गई थी। तीसरे पहर हम वालीबाल खेला करते थे।[1]

१. अख़बारों में एक इंटरव्यू की ख़बर निकली है, और हालांकि उसका खण्डन किया जा चुका है फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित

धीरे-धीरे बन्धन बढने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में, जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। करीब-करीब उसी वक्त मैं जेल से छोड दिया गया।

मैं मार्च के शुरू में बाहर निकला, और छ या सात हँफ्ते बाद, अप्रैल में, फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालते बहुत बदल गई थीं। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नये कायदे लागू कर दिये गये थे। बडे वीविंग-शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे कैदी भीतरी जेल मे बदल दिये गये और वहाँ बैरको में रख दिये गये थे। हरेक बैरक करीब-करीब जेल के अन्दर दूसरी जेल ही थी, और एक बैरक वालो को दूसरी बैरक वालो से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत न थी। मुलाकात और खत अब कम किये जाकर महीने भर मे एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाकि हमें बाहर से खाने की चीजें मगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक में मैं रक्खा गया उसमे करीब पचास आदमी रहते होगे। हम सबको एकसाथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फीट के फासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का करीब-

---

होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज भेजी। वास्तव में, काँग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० ई० से, उन्होंने शराब वगैरा पीना छोड दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

करीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा उन्हीं झुण्ड को देखना-दिखाना, वही छोटे-छोटे झगडे-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना। हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपडे धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौडते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि जिनसे दिमाग थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत थोडा था, और यह सब ऐसे लोगो के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियो के थे। हम सबके मन में इस बात का बडा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालो के बाद तो जेल मे मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनो तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसीकी सूरत दिखाई न देती थी। तब फिर मेरे मन मे उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियो की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ-जिला-जेल में इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुशमिजाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा एकान्त जो

में पा सकता था वह यही था कि मैं वैरक छोडकर अहाते के खुले हिस्से में आ वैठता था। इन दिनो बारिश का मौसम था और वादल होने के कारण वाहर वैठा जा सकता था। मैं गरमी का, और कभी-कभी बूँदा-बूँदी का भी मुकाविला कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त वैरक के वाहर विताया करता था।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश और वादलो को निहारा करता था, और जो सौन्दर्य मैंने पहले कभी अनुभव नही किया वह वादलो के नितनव सुन्दर रगो में करने लगा—

"अहो! मेघमालाओ का यह
पल-पल रूप पलटना,
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-
लेटे इन्हे निरखना!"[1]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द-युक्त न था, वह तो हमारे लिए भार-रूप था। मगर जो वक्त मैं इन वरसाती वादलो को, जो हमेशा वदलते रहते थे, देखने में गुजारता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानो मैंने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानो मैं कैद से छुटकारा पा गया हूँ। मैं नही जानता कि खास उसी वारिश ने मुझ-पर इतना वडा असर क्यो डाला, इससे पहले या वाद की किसी साल की भी वारिश ने इस तरह प्रभावित नही किया। मैंने कई वार पहाडो पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा को सराहा था और उस समय का आनन्द लूटा था एव उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मैं उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोजाना की

१ अग्रेजी कविता का भावानुवाद। —अनु०

जाते हैं, और हमारी बाना की तरफ ध्यान देने लगता। मगर देहरा में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई नहीं देते थे, लेकिन हमसे छिपा हुआ था और सुबह देर से वह तेरह फुट ऊंची हमारी चहार दीवारों के ऊपर से निकलता था। फिर भी रंग का तमाशा दिखाई देता था, और हमारी आंखें तथा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का नज़ारा देखते-देखते पागल हो गई थीं। ये तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों की बहार के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए गुजरने लगे, तरह-तरह की शक्ल बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के चमत्कार दिखाने लगे, तो मैं ताज्जुब और खुशी से उन्हें निहारने लगा और देखते-देखते मानो आनन्द में पागल हो जाता। कभी-कभी बादलों के बीच में से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उन खाली जगह में से गहरा नीला आस्मान नजर आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन को नाप कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर किस कदर नाराज है। नये कायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीकों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक कैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक करीब-करीब हम सबने—हम लोग उसी जेल में कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाकातें करना छोड़ दिया था। जाहिरा यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा खड़ा करानेवाले हैं, इसलिए हममें से सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया, जो कि खास बैरकों से बिलकुल अलहदा

था। इस तरह जिन लोगो को अलग किया गया उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देशाई, चार्ज जोजफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते मे भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकलीफे भी थी। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तबदीली से खुशी ही हुई। यहाँ भीड-भाड नही थी, हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सो के अपने साथी-कैदियो से अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये, क्योकि अब सब राजनैतिक कैदियो के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नही आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलो मे हमेशा टपका करती है। हमारी माहवारी मुलाकातो और खतो से भी हमें बाज-बाज ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थी। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुजर गया था और कामयाबी धुधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलो के चुनावो मे हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलो पर कब्जा कर ले, दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम मे कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गाधीजी तो जेल मे ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शो ने हमें ज्वार की लहरो की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढाया था वे छोटे-छोटे झगडो और सत्ता प्राप्त करने की साजिशो के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुजर

जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और उसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ दिखाई नहीं देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की किस्मतों में तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोजफ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुँचे थे। उन दिनों के बाद जोजफ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँ तक कि हमारे कार्यों के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता कि लखनऊ-जिला-जेल के सिविल वार्ड में शरद्-ऋतु की एक शाम को हुई उस बात-चीत की याद उनको कभी आती है या नहीं ?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़े। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग में पानी दे देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा-थोड़ा सूत कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब करीब हमेशा जब-जब सुपरिन्टेन्डेन्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता

था। यह पढते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढना बारह साल की उम्र मे ही खत्म कर दिया था! बेशक, पढना छोड देने मे उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आये ही नही, और शायद इसीसे बाद मे उसे युक्तप्रात की जेलो के इन्सपेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने में मदद मिली।

जाडे की लम्बी रातो और हिन्दुस्तान के साफ आस्मान ने हमारा ध्यान तारो की तरफ खीचा, और कुछ नक्शो की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितो के दर्शन करते हो इस आनन्द से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया मे असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओ, पत्नियो और बहनो पर पडा। वे इन्तजार करते-करते थक गई, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचो में बन्द थे उन्हे अपनेको आजाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, मे पुलिसवालो ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानो को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लडकी इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का

विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारो पर असर डाले बिना न रहेगे।

जेल मे पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली गैर-राजनैतिक कैदियो से अलग रक्खा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक कैदियो के लिए अलग जेलें मखसूस कर दी जाती थी। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन कैदियो से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनो वास्तव में जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर खराब था, मैने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिलकुल न खाये जाने लायक पाया। कर्मचारी आम-तौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहे मिलती थी। मगर उनके लिए कैदियो या कैदियो के रिश्तेदारो से हर मुमकिन मौके पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टो और वार्डरो के फरायज और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल में लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी किस्म की थीं कि किसी भी आदमी के लिए उन्हें ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त मे (और सम्भवत दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक न था। जेल की मशक्कत का मकसद सजायाफ्ता आदमी को तग करना था[1]

[1] युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ९८७ में, जो अब नये सस्करण से हटा दी गई है, लिखा था --

"जेल में मशक्कत करना, सिर्फ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि

और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह तावे में कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और खौफ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ बरसो मे कुछ सुधार जरूर हुए है। खाना थोडा सुधरा है, और कपडे वगैरा भी सुधरे है। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियो के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरो की तनख्वाहो में भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहे। लडको और छोटी उम्र के कैदियो को पढना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोडी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारो से असली सवाल कुछ भी हल नही होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

---

खासकर सज़ा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा खयाल न किया जाय कि उससे ख़ूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशो को खौफ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुकाबिले में रूस के एस० एफ० एस० आर० की ताज़ीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है :—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायो का यह मकसद नही है कि शारीरिक यातनायें दी जायें, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मकसद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजायें देना चूँकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरज़रूरी या फालतू तकलीफ न पहुँचनी चाहिए।"

ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जाने-वाले उस निर्दय व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर उनमें से ज्यादा होशियार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फ़ायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता। इस सबब से जेल के कर्म-चारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें से किसीको भी जेल के क़ायदे टूटने पर सख्त सज़ा दी जाती थी। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आज़ाद' कहता था, बेंत की सज़ा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बांध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी फाड़कर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

## : १४ :

## फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सबसे ज्यादा अभाव तो शायद स्त्रियों के मधुर वचनों का और बच्चों की हँसी का ही महसूस होता है। जो आवाज़ें वहाँ आम तौर से सुनाई देती हैं वे कोई बड़ी खुशगवार नहीं होती हैं। वे ज्यादातर कठोर और डरा-वनी होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नई चीज़ का अभाव मालूम

हुआ। मैं लखनऊ-जिला-जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भौंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के आखिरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में शायद सौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के कैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी पूरी सजा काटके चले गये थे, सिर्फ वे जिनकी लम्बी सजायें थीं, या जो दुबारा आगये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि हमें रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्यकारिणी ऐसी मांगों की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह में यह वक्त मौजूं था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फंसे हुए थे। जेल में भी नामी-गिरामी कांग्रेसवाले ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक राहत का भाव और आनन्दोल्लास रहता है। ताजा हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग में एक खुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहलेपहल जो असर होता है उसमें कुछ पागलों कासा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोड़ी देर के लिए ही, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊंचे आदर्शों की जगह षड्यन्त्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीकों से कांग्रेस-तन्त्र पर कब्जा करने की कोशिश

करने लगे थे, जिनसे कुछ मृदुल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिल्कुल खिलाफ़ था, क्योंकि इसका जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें चलनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-सम्बन्धी कार्यक्रम चलने आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौंसिलों में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश से वहाँ जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिलों का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आज़माया जाय। कई नौजवानों के दिमाग़ में यह लग रहा था कि जिस तरह सिनफ़ीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर कब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाख़िल नहीं हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की

गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीके को अख्त्यार करने के लिए जोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकनेवाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों खिलाफत सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ योरप में थे। लौटने पर उन्होंने भी बहिष्कार के इस तरीके पर अफसोस जाहिर किया था। उन्हें सिनफीन-मार्ग ज्यादा पसंद था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक्त न थी, क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही कायम रहने को था। वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफीन तरीके के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफीन तरीके को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के दिमाग में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के जरिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफी थी, और सचमुच १९२४-२६ में जब स्वराजपार्टी कौंसिलों में गई तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर कब्जा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो सकता कि चूंकि उस समय खिलाफत-कमिटी भी साथ थी, वह सारी सीटें

तथा केन्द्रीय दोनः ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी हैं, अतः अगले चुनाव में कांग्रेस को कितनी ही कामयाबी क्यों न मिले वह इतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मैं इन झगड़ों से ऊब उठा। तब मैं तो संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्कों ने बहुत छिन्न-भिन्नता लादी थी और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में मेरे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ़्तों के अन्दर ही मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का ज़िक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा ख़याल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेण्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार

वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बडी म्युनिसिपैलिटियो में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैल्टिटी के सभी मुख्तलिफ कामो में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालो ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बडे-बडे मनसूबे बाधे। बाद मे मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियो की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमे बडे सुधारो या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तन्त्र को साफ-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इसी बात के लिए काफी मेहनत की। उन्ही दिनो मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ कामो के सबब अक्सर मुझे रोजाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पडता था, और दिन खत्म होने पर मैं अपनेको बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आंखो के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर जाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोडा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हे नही जानता था। वह इलाहाबाद मे अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ एक ही मुकदमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट मे मेरा वह आखिरी ही मुकदमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही, मेरी तरफ उनका कुछ अधिक

झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब आगे बढ़ूंगा, और इसलिए मुझे अंग्रेजों के दृष्टिकोण को समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते हैं कि हिन्दुस्तान के ज्यादातर 'गरम' राजनीतिज्ञ ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक दायरे में अंग्रेजों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीने रोष, तीव्र दुःख और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेजी क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात क़तई बेबुनियाद है और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1] मगर कई अंग्रेजों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या ग़लत, राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती हैं। दरअसल, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का अहसास रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूँ कि आज भी मेरी अंग्रेजों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर मेहरबानी न जताता हो। और इतने पर भी हमारे सम्बन्धों में खुशमिजाजी की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।

१. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डाले। मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातो पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलो पर खूब हमला किया। वह उन्हे डरपोक, ढीले, मौकापरस्त—जिनमें न चरित्र-बल है, न दम-खम—कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज्जत है ?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यो कर रहे हैं, शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातो से मैं खुश होऊँगा। इसके बाद बात-चीत फेरकर वह नई कौंसिलो, उनके मन्त्रियो और मन्त्रियो को देश-सेवा करने का कितना बडा मौका हासिल है इन बातो की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे जरूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मन्त्री को जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखो आदमियो की किस्मत सुधारने का मौका नही है ? क्या यह जिन्दगी का सबसे बडा मौका नहीं है ? उन्होने कहा, फर्ज कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी, जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को अमल में लाने की शक्ति हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नही दिखा सकते ?और, उन्होने कहा कि, मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति चलाने की पूरी आज़ादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे बढ गये हैं, उन्होने कहा कि सरकारी तौर पर किसीकी तरफ से कोई वादा तो नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज़ उन्होंने रक्खी है वह उनकी जाती ही है।

सर ग्रिमवुड ने बडी सफाई और टेढे-मेढे तरी`से जो प्रस्ताव रक्खा उसकी तरफ मेरा ध्यान तो गया। मगर सरकार का मन्त्री बनकर उनका साथ देने का विचार मैं कर भी नही सकता था। वास्तव मे इस खयाल से ही मै नफरत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौका पाने की मैने अक्सर तमन्ना की है। विध्वंस, आन्दोलन और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नही हो सकती। फिर भी हमारी किस्मत में यही लिखा है कि हम संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुज़रने के बाद ही उस देश में पहुँच सकते है जहाँ हम रचना कर सकते है, और सम्भव है कि हममें से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियो और जीवन को उन बदलते हुए रेगिस्तानो में से गुज़रने की सख्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चो या उनके बच्चो के हाथ से होगा।

उन दिनो, कम-से-कम युक्तप्रान्त में तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के ज़माने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा तन्त्र को तोडना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लडने के लिए नरम-दली मन्त्रियो से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनो उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक्त में उन्हें सरकार या हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्जत उन्हें बतौर हक के दिये गये है, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो कांग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब वह आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह में नरम-दली मन्त्रियो की कीमत बहुत गिर गई, और साथ ही वह मान और इज्जत भी जाती

रही। मन्त्रियो को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला, और जल्दी ही उन्हे इस्तीफा दे देना पडा। तब नये मन्त्रियो के लिए तलाश होने लगी, और इसमे जल्दी कामयाबी नही हुई। कौसिल मे जो मुट्ठीभर नरम दली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बगैर किसी लिहाज के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगो में से जो ज्यादातर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हो जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सके। कांग्रेस द्वारा कौंसिलो का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब पचरगी गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात यह प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मैं बहुत होशियार आदमी होने का फख्र तो नही करता, मगर मैं अपनेको मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे के लोगो से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है, क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मजूर करलूँ और दुनिया मे अपनेआपको सख्त बेवकूफ जाहिर करूँ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री कुछ सकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलो मे उनकी निगाह दूर तक नही जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलो का कुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाकत अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मन्त्री बने उनमें से कुछ जमींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, प्रचलित मानी में भी, बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूँ कि उन्हे ठीक तौर पर सिर्फ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नही। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियो को हिन्दुस्तानियो को बिलकुल नाकाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर

मुकर्रर कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि —

'दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असम्भव है।'[1]

तालीम-याफ्ता हों या नहीं, मगर इन मन्त्रियों की तरफ़ ज़मींदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफसरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियाँ भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इनसे अच्छा इस्तेमाल और क्या हो सकता था!

## : १५ :

## सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवालात बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई संतोषजनक जवाब मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उसमें से निकल आया था, और अपने चारों तरफ हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ अबतक मेरा ध्यान ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये संघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह

१. रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद।

उलटे बढती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गाधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सो की मैं बारीकी से छान-बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल मे। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नही सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनो जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थी उनमें से कोई भी मुझे अपनी तरफ नही खीच रही थी। कौंसिल-पार्टी ज़ाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमे एक अन्धी गली मे लेजाकर पटक देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषो के दूसरे सब अनुयायियो की तरह वे भी उनके उपदेशो के सार को न मानकर उनके अक्षरो के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और सचालक-शक्ति नही थी, और अमल मे उनमें से ज्यादातर लोग लडाकू नही थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमे एक गुण था। आम किसानो से उन्होने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा था, जबकि कौंसिलो में जानेवाले स्वराजी सोलहो आने पार्लमेण्टो की पैंतरेबाजियो में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियो के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नही देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होने अपनी सारी वकालत खर्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी, जिससे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी लगता था, कि उन्होने मुझपर कभी इस बात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनो बहुत उत्सुक थे। साफ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हे बडी खुशी होती, लेकिन मेरे

भावो के लिए उनके दिल मे इतना ज्यादा खयाल था कि जहाँतक इस मामले मे ताल्लुक़ था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड दिया, मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्ही दिनो में मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गई। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कहीं ज्यादा गहरी थी। इन दोस्तो मे मैंने जो मुहब्बत की गहराई और अपनापन देखा उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बडी उम्र में तो गहरी दोस्तियाँ शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाकातियो की तादाद बहुत बडी थी। उनके साथ हँस-खेलकर घुल-मिल जाने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती बहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालो में तो वह ऐसी बातो में आस्थाहीन हो गये थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को तहे-दिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बड़े थे, फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताक़तवर और तन्दुरुस्त थे। हालांकि दोनों की क़ानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातो मे बडा फ़र्क था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकता-मय—कवियो का-सा—था। मेरा खयाल है कि उन्होंने बंगाली में बहुत अच्छी कवितायें भी लिखी है। वह बडे अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक अमली और [illegible] थे, उनमें संगठन करने की बहुत बडी शक्ति थी, और धर्मनिष्ठा का उनमे नामो-निशान न था। वह हमेशा लडाके रहे थे, [illegible] और [illegible]। जिन लोगों को वह [illegible] [illegible] बरदाश्त नहीं कर सकते थे। अपनी [illegible] और वह अपने विरोध का भी बरदाश्त

नही कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता, तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पडती जिसका बुरी तरह मुकाबिला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातो मे एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनो का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। दोनो को आपस में एक-दूसरे पर पूरा भरोसा था। यहांतक कि दोनो ने एक-दूसरे को यह अख्त्यार दे दिया था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक्त दूसरे के नाम का इस्तैमाल कर सकते है। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मजबूती के साथ कायम करने मे और देश मे उसकी ताकत और धाक जमाने में इस जाती दोस्ती का बहुत कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियां थी, क्योकि कौंसिलो के जरिये अपनी जाती तरक्की की गुजाइश होने की वजह से बहुत-से मौका-परस्त और ओहदो के भूखे लोग उसमे आ घुसे थे। उसमे कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ था। चुनाव के बाद ज्योही ये प्रवृत्तियां सामने आने लगी, त्योही पार्टी के नेताओ ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मै पार्टी के शरीर से सडे हुए अग को काटने मे न हिचकूंगा, और उन्होने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व सतोप मिलने लगा, हालांकि मै पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक सबधो में मै बडा भाग्यशाली रहा हूं। जबरदस्त कशमकश और मुसीबतो के वक्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस

दिशा मे मैं खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और तसल्ली की सबसे ज्यादा जरूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढग मे कुछ फर्क पड गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरो की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम मे कोई कमी नही हुई थी। किसी हद तक तो जरूरी चीजो को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीजें, घोडे-गाडिया और घर-गृहस्थी की वे सब चीजें जो हमारे रहन-सहन के नये ढग के लिए मौजूं नही थी, बेच दी गई थी। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियो की कमी से घर की सफाई और खूबसूरती जाती रही, और बाग जगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग की तरफ नही के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातो की किफायतशारी को पसन्द नही करते थे। इसलिए उन्होने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगो को कानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करे।

जो वक्त सार्वजनिक कामो से बचा रहता उसमे वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी काफी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोडी थी,

तबसे असल मे मेरी कोई निजी आमदनी नही रही—सिर्फ उस न-कुछ आमदनी को छोडकर, जो शेअरो के मुनाफे—डिवीडेण्ड—के रूप मे मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च में अपना काम चला लेते है। इसका पता मुझे १९२१ मे लगा, और उससे मुझे वडी तसल्ली हुई। खादी के कपडो और रेल के तीसरे दर्जे के सफर में ज्यादा खर्च नही पडता। उन दिनो पिताजी के साथ रहने की वजह से मै पूरी तरह यह महसूस नही कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे वहुत बेशुमार खर्च है जिनका जोड़ वहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नही सताया। मेरा खयाल है कि ज़रूरत पडने पर मै काफी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम वहुत कम खर्च मे चला सकते है।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई वहुत वडा वोझ नही था। इतना ही नही, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उनपर एक वोझ समझते है तो उन्हे वडा दु ख होता। फिर भी मै जिस हालत मे था उसको पसन्द नही करता था, और तीन साल तक मै इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूंढ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मै कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मै कर रहा था उसे या तो वन्द कर दूं या कम कर दूं। इस वक्त तक मै जितना समय दे सकता था वह सब मैने कॉग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम मे लगाया। मुझे यह वात पसन्द नही आई कि मै रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड दूं। इसलिए वडे-वडे औद्योगिक फर्मो ने मुझे रुपये की दृष्टि से वडे-वडे लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज मेरी लियाकत

के खयाल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे वालों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिल्कुल ग़ैर-मुमकिन थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख़्त्यार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की कांग्रेस में एक बात उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को तनख़्वाह दी जानी चाहिए। मैं उस वक़्त भी कांग्रेस का एक प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक़्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास ख़र्च का निजी इन्तज़ाम हो। लेकिन इस तरह की फ़ुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए ज़िम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। मगर कांग्रेस ज़्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फ़ण्डों से तनख़्वाह लेने के ख़िलाफ़ एक अजीब और बिल्कुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालाँकि सरकारी नौकरी की बाबत यह बात नहीं है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत एतराज़ किया कि मैं कांग्रेस से तनख़्वाह लूँ। मेरे सहकारी मंत्री महाशय को रुपयों की सख़्त ज़रूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से तनख़्वाह लेना शान के ख़िलाफ़ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालाँकि मैं उसमें कोई बेइज़्ज़ती की बात नहीं समझता था और तनख़्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बाते छेडी, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहांतक हो सकता था बडे सकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हे बुरा न लगे। उन्होने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के काम के बजाय थोडा-सा रुपया कमाने में लगाना बडी बेवकूफी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोडे दिनो की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूं जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नही हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलो मे और रुपये-पैसे की परेशानियो में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच में राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के खिलाफ मुझे भिन्न-भिन्न समूहो में अपनेको शामिल करना पडा, और कांग्रेस मे भी मुझे जिम्मेदारी का पद लेना पडा। १९२३में एक अजीब हालत थी। देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी के पदेन अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी में कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ थी, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोडा-सा था और दोनो दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियो में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक में मामला यहातक बढ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० कांग्रेस कमिटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियो में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक

दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फौरन ही हमें दोनों तरफ़ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मज़बूत क़िला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतों को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के आख़ीर में उसी साल नागपुर में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक की गई। नागपुर में इन दिनों झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। वहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद ख़ातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पड़ा कि असल में ख़ास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नहीं थी, और वह उन्हीं लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कांग्रेस संगठन की असली ताक़त थी। कार्य-समिति के इस्तीफा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात-कमिटी पर लानत का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफा देते हुए मुझे कितनी ख़ुशी हुई और मैंने कितने सतोष की साँस ली। पार्टी की पैंतरेबाज़ियों के इस थोड़े-से ही अनुभव से मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ मशहूर कांग्रेसी भी इस तरह साज़िश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबन्धु दास ने मुझपर यह इल्ज़ाम लगाया कि तुम भावना-हीन हो। मैं समझता हूँ कि उनका ख़याल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से दोस्तों और साथियों के मुक़ाबिले में मैं भावना-हीन हूँ। फिर भी मुझे अपनी बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या आवेश की लहर में डूब या बह न जाऊँ। बरसों मैंने इस

वात की कोशिश की है कि मैं भावनाहीन हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो कामयावी मिली वह सिर्फ ऊपरी ही है।

## : १६ :

# नाभा का नाटक

स्वराजिस्टो और अपरिवर्तनवादियो की कशमकश चलती रही और स्वराजिस्टो की ताकत धीरे-धीरे बढती गई। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली मे कांग्रेस का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमें स्वराजिस्टो का जोर और बढ गया। इस काग्रेस के वाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बडी अजीव थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नही थी।

सिख, और उनमें से खासकर अकाली, पजाव में वारम्वार सरकार के सघर्ष में आ रहे थे। उनमे एक सुधार-आन्दोलन उठ खडा हुआ था, और उसने यह काम हाथ मे लिया कि वदचलन महन्तो को निकाल-कर उपासना के स्थानो पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारो को इस खरावी से छुडाया जाय। सरकार ने इसमे दखल दिया और सघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियो के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढग पर बनाये गये थे। यो सघर्ष कई जगहो पर हुए, मगर सबसे बडी लडाई गुरु-का-वाग की थी, जहाँ वीसियो सिखो ने, जिनमे कई पहले फौज में काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये विना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे विना पुलिस की पाशविक मार का सामना किया। इस साबित-कदमी और हिम्मत के अद्भुत दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को ग़ैरकानूनी करार दे दिया। यह लडाई कुछ वरसो तक

जारी रही, और अन्त में सिख कामयाब हुए। स्वभावत कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट-सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के खास मन्धि-कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मैं ज़िक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख-आन्दोलन से कोई ताल्लुक नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इन सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिख रियासतों, पटियाला और नाभा, के नरेशों में बड़ा गहरा जाती झगड़ा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिखों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस आन्दोलन के बीच में, जैतो नामक स्थान पर, अखण्ड पाठ को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इनका विरोध करने के लिए, और रोके हुए पाठ को जारी रखने के स्पष्ट उद्देश्य से, सिखों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जंगल की एक वीरान जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार का हाल पढ़ा करता था। जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का आमन्त्रण मिला, तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ एक ही दिन खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के मेरे दो साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फासला जत्थे ने मार्ग में अन्धार में चलकर तय किया। वह

सोचा गया था कि मैं नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद में, जिस वक्त वहाँ जत्था पहुँचने वाला हो, सडक के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाडी से आये और ठीक वक्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुँचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तखत थे कि मैं नाभा के इलाके मे दाखिल न होऊँ, और अगर मैं दाखिल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमें उनके नाम नही लिखे हुए थे, क्योकि नाभा के अधिकारियो को उनके नाम ही नही मालूम थे। मेरे साथियो ने और मैंने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे मे शामिल नही है, सिर्फ तमाशबीन की तरह है, और नाभा के किसी भी कानून को तोडने का हमारा इरादा नही है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके में ही थे तो उसमे दाखिल न होने का सवाल ही नही हो सकता था, और स्पष्टत हम एकदम अदृश्य होकर तो कही नही चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाडी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यही रहना चाहते है। बस, हम फौरन गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात मे ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको इस तरह हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थो का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रक्खे गये और शाम को हमें विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकडी डाली गई—उनकी बाई कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फाँद दी गई थी, और हथकडी की जजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड ली। गिडवानी के भी हथकडी डाली गई और वह हमारे पीछे-पीछे

चले। जैतो के बाजारों में हमारे इस जुलूस को देखकर मुझे बार-बार कुत्तों के जंजीर पकड़कर ले जाने की याद आती थी। चलते वक्त ही पहले तो हम झल्ला उठे मगर फिर हमें इस घटना की मज़ेदारी का खयाल आया और इसका भी हम मज़ा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नहीं गुजारी। रात को हमारा कुछ वक्त तो धीमी चाल वाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते में शायद आधी रात को गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुजरा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक जबकि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गये वह मुश्तर्का हथकड़ी और भारी जंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकता था। एक-दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसको अब फिर मज़ा लेना मैं पसन्द न करूँगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक साथ ही रहे और गन्दी कोठरी में रक्खे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ करीब-करीब पहुँच जाता था। हम जमीन पर ही सोते और मैं बीच-बीच में एकाएक जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया गुजरी थी।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमें अदालत ले गये, और बहुत ही ऊटपटांग ढंग से वहाँ रोज-रोज कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अनपढ़ मालूम पड़ता था। निस्सन्देह अंग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की जबान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा

देखते रहे, और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह मरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-मोटी अर्जियां पेश की। वह उस वक्त उनपर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाकायदा अपनी सफाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहां पैरवी करने की छुट्टी थी वहां भी हमें सफाई देने का खयाल तक प्राय बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे वाकयात लिखे, और खासकर एक अंग्रेज की अमलदारी होते हुए भी नाभा रियासत के तरीके कैसे हैं इनपर अपनी राय भी जाहिर की।

हमारा मुकदमा दिन-ब-दिन बढता ही गया, हालांकि वह एक काफी सीधा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमें उसी मकान में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, करीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये जहां एक शख्स मेज के सामने बैठा था। और वहां और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो वही पुलिस-अफसर था जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खडा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहां क्या हो रहा है? मुझे इत्तिला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ ६ माह ही है इस लिए यह हमारे लिए काफी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन

इन्तज़ाम लगाना ज़रूरी है। मालूम है कि सिर्फ़ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफ़ी नहीं थे, इसलिए उस चौथे आदमी को जिसका हमसे कभी कोई ताल्लुक़ न था गिरफ़्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुक़दमा चलाया गया। इस बेचारे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नहीं जानते थे, हाँ हमने उसे औरों से मिलने आते वक़्त जेल में देखा भर था।

मेरे वैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा। बिलकुल अचानक ढंग से एक षड्यन्त्र का मुक़दमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता के ख़ातिर भी तो कुछ क़ायदे की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तला नहीं दी गई और हम अपनी सफ़ाई का इन्तज़ाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीक़ा था। अगर हमें सफ़ाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के क़ायदों में इसकी इजाज़त नहीं है। इससे नाभा के शासन की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान मिला। हमें एक तरह की नफ़रत होगई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निश्चय पर पूरी तरह क़ायम न रह सका। इनके बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख़्तसर तौर पर मौक़े-मौक़े से अपनी राय ज़ाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को अपनी गिरफ़्तारी के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुक़दमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुक़दमें चलते रहे, और हम दोनों अदालतों में जाने का

रोजाना इन्तजार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गदी कोठरी से तवतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एड-मिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल का सुपरिण्टेण्डेण्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस जाहिर करदें और नाभा से चले जाने का इकरार कर दें, तो हमपर से मुकदमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस वात का अफसोस जाहिर करे ? हमने कोई ऐसी वात नही की है। वल्कि रियासत को हमसे माफी माँगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नही है।

गिरफ्तारी के करीव दो हफ्ते वाद आखिर हमारे मुकदमे खत्म हुए। यह सारा वक्त इस्तगासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नही रहे थे। ज्यादा वक्त तो देर-देर तक इन्तजार करने में गया, क्योंकि जहाँ कही जरा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वही कारंवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी वावत किसी अन्दरूनी अफसर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की जरूरत होती थी। आखिरी दिन, जवकि इस्तगासे की तरफ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी वयानात दे दिये। पहले जज ने कारंवाई खत्म करदी, और यह जानकर हमे वडा ताज्जुव हुआ कि वह थोडी ही देर में फिर वापिस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक वडा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोडे से अरसे में ही नही लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे वयानात देनें के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढ-कर सुनाया नही गया। हमें सिर्फ इतना कह दिया गया कि हमे नाभा इलाके में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छ माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सजा थी, दी गई है।

उसी रोज षड्यन्त्र के मुकदमे मे भी हमें, ठीक-ठीक मे भूल गया

हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छ माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सजा दे दी गई।

हमारे मुकदमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक हुईं, जिनसे हमें देशी-रियासतों की तर्जे-हुकूमत या देशी रियासतों में अंग्रेजों की तर्जे-हुकूमत का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कारंवाई एक स्वांग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नहीं करती थी, और उसकी हिदायतों को सचमुच खिलाफ-वर्जी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौकों पर मुझे खड़ा होना पड़ा और जोर देना पड़ा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागजों को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कारंवाई करने या व्यवस्था कायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था। बेचारा मजिस्ट्रेट बड़े पसोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था, क्योंकि अखबारों में हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हमारे जैसे थोड़े-बहुत नामी राजनैतिक लोगों के साथ यह अंधेर हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनका क्या हाल होता होगा?

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ गिरफ्तारी का वाकया मालूम हुआ, मगर इसके अलावा और

कोई खबर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे मे उनके रास्ते में बहुत मुश्किले खडी कर दी गईं। मगर आखिर उन्हे जेल में मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गई। परन्तु वह मेरी कोई मदद नही कर सकते थे, क्योकि मै अपनी सफाई भी पेश नही कर रहा था और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापिस चले जायँ और कोई चिन्ता न करे। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी वकील है, नाभा मे मुकदमे की कारंवाई पर ध्यान रखने को छोड गये। नाभा की अदालतो को थोडे दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बन्धी जानकारी मे काफी इजाफा हुआ होगा। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ कागजात जबरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासते पिछडी हुई है और उनकी हालत जागीरदारी पद्धति की याद दिलाती है, यह सब जानते है। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो काबलियत होती है और न लोकहित का भाव। वहाँ बडी-बडी अजीब बाते हुआ करती है, जो कभी प्रकाश में भी नही आती। मगर उनकी नाकाबलियत से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदकिस्मत प्रजा का बोझ कुछ हल्का हो जाता है। क्योंकि इस कारण से वहाँ की कार्यकारी सत्ता में भी कमजोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइन्साफी करने मे भी नाकाबलियत से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नही हो जाता, बल्कि हाँ इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नही रहती। जागीरदारी पद्धति कायम रक्खी

जाती है, एकतन्त्री-पन भी ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब कानून और ज़ाब्ता ही जायज़ माना जाता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) इनपर सारे बन्धन कायम रहते हैं, मगर एक तबदीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मज़बूत हो जाती है, और कायदे और उनकी पाबन्दी बढ़ जाती है। इससे जागीरदारी-प्रथा में और एकतन्त्री शासन में रहनेवाले सब बन्धन मज़बूत हो जाते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी हुकूमत पुराने रिवाजों और तरीकों में बेशक कुछ परिवर्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती है। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मज़बूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीक़ों से पूरा फायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीर-तन्त्रता और एक-तन्त्रता ही नहीं, बल्कि एक मज़बूत कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पड़ती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तज़ाम एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्री शासक के पूरे अख्त्यारात थे। वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था, और फिर भी हर मर्तबा हमें, अपने अत्यन्त सामान्य हकों के छीनने की पुष्टि में, नाभा के कायदे-कानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरतन्त्र और आधुनिक नौकरशाही-तंत्र के मिश्रण का मुकाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयाँ दोनों की शामिल थीं, लेकिन अच्छाइयाँ एक की भी न थी।

इस तरह हमारा मुकदमा खत्म हुआ और हमें सज़ा हो गई। फ़ैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस असल बात से कि हमें लंबी सज़ा मिली है हमारी घबराहट कुछ कम हुई। हमने फ़ैसलों की

नकले मांगी, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें जाब्ता-फौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमें हमारी सजायें मुल्तवी कर दी गई थी। उसमें कोई शर्त नही रक्खी गई थी, और इसका कानूनी नतीजा यह था कि जहातक हमारा ताल्लुक था हमारी सजायें खत्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह हिदायत थी कि हम नाभा छोडकर चले जायें, और खास इजाजत लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनो हुक्मो की नकले मागी, मगर वे हमें नही दी गई। तब हमें रेलवे-स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहाँ छोड दिये गये। नाभा में हम किसीको भी नही जानते थे, और रात को शहर के दरवाजे भी बन्द हो गये थे। हमे पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाडी जाने वाली है और हम उसीमे बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनो हुक्मो की नक़ले भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनो फैसलो की नकले भी। उसने किसी चीज की भी नकल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पडे, मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फैसलो को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियो को दो या ढाई साल की सजा मिली, पढने का मौका नही मिला। क्योकि मुझे जानना चाहिए कि ये सजायें अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहे उसी वक्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौकूफी' की हालत में छोड दिये गये, मगर मैं इस बात का पता नही लगा सका कि षड्यन्त्र के चौथे आदमी, उस सिख का क्या हुआ, जो दूसरे मुकदमे के लिए हमारे साथ जोड दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोडा न गया हो। उसकी मदद में किसी जोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज न थी, और कई दूसरे आदमियो की तरह रियासती जेल में जाकर वह अधकार मे पड गया होगा। मगर हम उसे नहीं भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा खयाल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले में दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारु' दल का एक आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल में रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिस वाले ऐसे आदमियो को बाहर रहने देने का उसूल नही मानते, और इसलिए उन्होने बनावटी इल्जाम मे हमारे साथ उसे भी फांस लिया।

हम तीनो—गिडवानी, सन्तानम् और मैं—नाभा-जेल की कोठरी से एक दु:खदायी साथी संग में ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनो पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद खतरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनो से कम थी, और मैं सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाकी दोनों तो लम्बे अरसे तक बहुत गभीर हालत मे बीमार पडे रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छ या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए नाग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पाच सौ आदमियों का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की सरहद तक उनके साथ-साथ जाने का

निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलो की मदद करने गये तो पुलिस वाले उनपर टूट पडे और उनको पकड कर ले गए। उनके खिलाफ अदालत मे कोई कार्रवाई न की गई। उन्हे करीब-करीब एक साल तक जेल में योही पटक रक्खा, और बाद में बहुत खराब तन्दुरुस्ती की हालत में वह छोड दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्य-कारिणी सत्ता का एक भयकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यो किया गया ? उसने जवाब मे लिखा कि उन्हे इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होने नाभा के इलाके मे बिला इजाजत न आने के आर्डर की खिलाफवर्जी की थी। मैंने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलो को मदद देते हुए आदमी गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैंने उस आर्डर की नकल मुझे देने या आमतौर पर शाया करने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मै खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही वर्ताव करने दूँ जैसा गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाजा था। मगर मेरे कई दोस्तो ने ऐसी राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तो की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल मे दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहा जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह

छोड देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते हैं, अक्लमदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

## : १७ :

## कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौडी स्पीच पढी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना की वृद्धि होती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखां के नेतृत्व में जो डेपूटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिश से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक़ में घोषणा की थी वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ़, अपनी सदारत के साल में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राज़ी किया। कांग्रेस की चालू नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ़-साफ़ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी जिम्मेदारी अपने ऊपर लूं।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नहीं कर सकता था, क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ इतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। रुचि और अरुचि [illegible] थे। और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'पसंद' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर

की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध—धार्मिक थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बडे चपल वाक्पटु थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयकर व्यग दिल को चोट पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढिया टिप्पणी मन में आई तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल मे हम दोनो की गाडी ठीक-ठीक चली—हालांकि कई छोटी-छोटी बातो में हमारा इख्तलाफ रहता था। हमारे अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज डाला था। किसी के भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद, मुन्शी, मौलवी और आज कल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो बहुत-से ऐसे मानवाचक शब्द है और इनका प्रयोग इतना बहुतायत से और अक्सर गैरजरूरी होता है कि मै इस बारे में एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नही पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगडकर मुझे एक तार भेजा, जिसमें सदर की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मै पुराने तरीके से ही काम लूं, और खासतौर पर गाधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का जिक्र कांग्रेस के प्रस्तावो में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी किस्म की दुआ की शक्ल में। मै इसका विरोध किया करता। वह जोर से बिगडते और कहते, तुम बडे नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोडी देर बाद मुझसे कहते कि एक

मज़हबी आदमी के इतने गुण मुझमें हैं हालाँकि तुम्हारा साहित्य वगैरा और सारा इसके खिलाफ़ है। और मैंने कई बार सचमुच सोचा है कि उनका कहना कितना ठीक था। शायद यह इस बात पर निर्भर रहता है कि कोई मज़हब या मज़हबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मज़हब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था इसका नतीजा यही होगा कि हम दोनों एक-दूसरे पर बिगड़ उठेंगे और मुमकिन था कि उनका जी दुख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस किस्म की चर्चा करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुतेरे मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहाँ विचारों की आज़ादी मज़हबी तौर पर नहीं दी गई है। विचारों की नज़र से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी ज़रा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी ज़्यादा नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहाँ बहुत पुराने ढर्रे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज माने जाते हैं, फिर भी वे धर्म के विषय में निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा ख़याल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि ख़ास तौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में बढ़े-चढ़े हिन्दुओं के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है जो धार्मिक जगतों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालाँकि व्यवहार पर उनका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूँ कि इसका ख़ास कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-विरोधी मतमत और रिवाज पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ में मज़हब नहीं कह सकते। और फिर भी कितनी

गजब की दृढता उसमें है ! अपने-आपको जिन्दा रखने की कितनी जबरदस्त ताकत ! भले ही कोई अपने को नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नही कह सकता कि वह हिन्दू नही रहा। हिन्दू-धर्म अपने सतानो को उनके न चाहते हुए भी पकड रखता है। मै एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मै धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूँ। हिन्दुस्तानी दुनिया के लिए मै पण्डित ही हूँ, चाहे मै इस उपाधि को ना पसन्द ही करूँ। मुझे याद है कि एक बार मै तुर्की विद्वान से स्वीजरलैण्ड में मिला था। उन्हे मैने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमे मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ मायूस भी। क्योकि उन्होने मुझ से कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मै समझा था कि आप कोई बडे विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध शास्त्री होगे।

हाँ, तो, मुहम्मदअली और मै मजहब पर बहस नही करते थे। लेकिन उनमे खामोश रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद ( मै समझता हूँ, १९२५ में या १९२६ के शुरू मे ) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज जब मै उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मै तुमसे मजहब पर जरूर बहस करना चाहता हूँ। मैने उन्हे समझाने की कोशिश की। कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से बहुत जुदा है और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेगे। लेकिन वह कब सुनते ? उन्होने कहा—"नही, हम दो-दो बाते कर ही ले। मै समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर मै तुम्हे बताना चाहता हूँ कि मै ऐसा नही हूँ।" उन्होने कहा कि मैने मजहब पर बहुत-सी किताबें पढी है और गहराई से सोचा है। उन्होने आल्मारियाँ बताई, जो अलग-अलग मजहबो पर लिखी किताबो मे और

ख़ासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबों से भरी हुई थीं और जिनमें कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच० जी० वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबल किंग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनों में जब वह लम्बे अर्से तक नज़रबन्द रहे थे, उन्होंने क़ुरान के कई पारायण किये और शायद ही शब्दों को पढ़ा। उन्होंने कहा कि इस सारे अध्ययन के फलस्वरूप मैंने देखा कि क़ुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फ़ीसदी युक्तिसंगत है, और क़ुरान को छोड़कर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फ़ीसदी जो शेष रहा वो युक्तिसंगत नहीं दिखाई देता है, मगर यह ज़्यादा मुमकिन है कि जो क़ुरान ९७ फ़ीसदी बातों पर साफ़ तौर पर सही है वह बाक़ी ३ फ़ीसदी में भी सही होगा। बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और क़ुरान ग़लत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि क़ुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने क़ुरान को १०० फ़ीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना न चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी क़ुरान को अपने दिमाग़ का दरवाज़ा खोलकर और स्वच्छ दिमाग़ की भावना से पढ़ेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सचाई का क़ायल होजायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू (गांधीजी) ने उसे बड़े ग़ौर से पढ़ा है और वह ज़रूर इस्लाम की सचाई के क़ायल होगये होंगे। लेकिन उनके दिल में ग़ुरूर है जो उन्हें इसको ज़ाहिर करने से मना करता है।

मुहम्मदअली [illegible] इस साल के सभापतित्व-काल के बाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटते गये। [illegible] कि वह हटते, कांग्रेस उनसे दूर हटती नहीं। [illegible] धीरे-धीरे। कई साल आगे तक भी [illegible] में और [illegible] पार्लमेण्टरी में आते रहे और उनमें

ज़ोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौडी होती ही गई और अनबन बढती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियो पर इसका दोष नही लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परि-स्थिति जैसी बन गई थी उसमें ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतो के जी को बडा दुःख हुआ। क्योंकि जातिगत मामले में कैसा ही इख्तलाफ रहा हो, राजनैतिक मामले में हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूंकि उनकी हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भा-वना रहती थी कि जातिगत या यो कहें कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी कि जो दोनो के लिए संतोष-जनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगो से जो अपने को जातिगत स्वार्थों के रक्षक बताते है, उनकी कोई बात मेल नही खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियो में वह यहां से यूरप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुल-झाने के लिए बडे ज़ोर की कोशिश की गई थी और वह करीब-करीब कामयाबी की हद तक जा पहुंची थी। अगर मुहम्मदअली यहां होते तो कयास होता है कि मामला और ही शक्ल अख्त्यार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहा सब टूट-टाट चुका था। और स्वाभाविक तौर पर वे विरोधी पक्ष मे मिल गये।

दो साल बाद, १९३० में, जब सत्याग्रह-आन्दोलन ज़ोर पर था और हमारे भाई-बहन धडाधड जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् में जाना पसन्द किया। इस से मेरे जी को बडा दुःख हुआ। मै मानता हूं कि वह भी अपने दिल में

दुखी ही हुए होंगे। और लन्दन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफी प्रमाण मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लन्दन के कान्फ़ेन्स-भवन में। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यक़ीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। सेहत उनकी बहुत ही बिगड़ गई थी और बरसों ने बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन में जाकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ पाने की जो कोशिश की, और खासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की जरूरत थी, उससे उनके आख़िरी दिन और नज़दीक आ गये। नैनी जेल में मुझे उनके मरने की खबर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ में लाहौर-कांग्रेस के वक्त आखिरी दफा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज़ थे और उन्होंने बड़े ज़ोर से उनकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज होती जा रही है। वह खुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर! मैं तुम्हें चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये साथी-सायी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आनबान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, खुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फांसी के तख्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक खास दिलचस्पी की बात थी, क्योंकि वहां हिन्दुस्तानी-सेवादल की बुनियाद रक्खी गई। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नहीं। वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आन्तरिक

एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यो न एक अच्छा अनुशासन-बद्ध स्वयसेवक-दल बना लिया जाय, जो कॉंग्रेस की आम रहनुमाई में अपना काम करे? उन्होने इसमे सहयोग देने के लिए मुझ से आग्रह किया और मैंने बडी खुशी से उसे मजूर किया, क्योकि यह खयाल मुझे जँच गया था। इसकी शुरुआत कोकनाडा मे हुई। बाद को हमे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बडे-बडे कॉंग्रेसियो की तरफ से भी सेवा-दल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगो ने कहा कि कॉंग्रेस के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा। यह तो कॉंग्रेस में फौजी तत्त्व को लाने जैसा है। और यह फौजी तत्त्व उन्हे भय था कि कही कॉंग्रेस की मुल्की सत्ता को ही घर दबाये! दूसरे कुछ लोगो का यह खयाल दिखाई दिया कि स्वयसेवको के दल के लिए तो सिर्फ इतना ही अनुशासन काफी है कि वे ऊपर से मिले आदेशो का पालन करते रहे। कुछ के खयाल में उन्हे कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी जरूरत नही। कुछ लोगो के दिल में भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयसेवको का रखना एक तरह से कॉंग्रेस के अहिंसा-सिद्धान्त से मेल नही खाता है। लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड ही गये और बरसो की मेहनत के बाद उन्होने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ्ता स्वयसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते है।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में मुझे इलाहाबाद में एक नये ढग का तजुर्बा हुआ। मै अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीखो के सम्बन्ध में कुछ भूल और गडबड हो जाय। मै समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखो यात्री सगम यानी त्रिवेणी नहाने आते है। गगा-घाट यो कोई एक

मील चौडा है, मगर जाडे में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनो तरफ बालू का बडा मैदान छोड देती है जोकि यात्रियो के ठहरने के लिए बडा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पट में गगा अक्सर अपना बहाव बदलती रहती है। १९२४ में गगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियो के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबन्दियाँ और अहतियात लगाकर और एक वक्त मे नहानेवालो की सख्या मुकर्रर करके यह खतरा कम किया जा सका था।

मुझे इस मामले में किसी किस्म की दिलचस्पी न थी, क्योकि ऐसे पर्वो के अवसर पर गगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह न थी। लेकिन मैंने अखबारो में पढा कि इस मामले में प० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक चर्चा छिड गई है, क्योकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिया था कि कोई सगम पर न नहाने पावे। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज किया, क्योकि धार्मिक दृष्टि से तो सगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे। लेकिन हस्वमामूल उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढा देनेवाले ढग से इस सम्बन्ध मे कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गगा-किनारे पहुँचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने जिला मजिस्ट्रेट को एक सौम्य चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाजत माँगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नही दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगो को साथ लेकर वह सगम की तरफ बढे। इन घटनाओ से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक्त जोश में आकर सत्याग्रही दल में शामिल

हो गया। मैदान के उस पार लकडियो का एक जबर्दस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग मगम तक पहुँचने से बचे। जब हम इस ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक निसैनी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गये। सुबह भर और दोपहर के भी कुछ घण्टे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा बीतने लगा। धूप तेज-तेज होने लगी। पैदल और घुडसवार पुलिस हमारे दोनो तरफ खडी थी। मै समझता हूँ कि सरकारी घुड-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरो का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ फैसला करना ही चाहिए। मै मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होने कदम आगे बढाने का निश्चय किया। घुड-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मै नही कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोडे फेकेगे, और यो हमको बुरी तरह खदेडेगे। घुडसवारो से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहाँ बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यो न फाँद जायें। और मै उसपर चढ गया। तुरन्त ही बीसो आदमी उसपर चढ गये और कुछ लोगो ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डाली, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया, जिसे मैने उस घेरे के सिरे पर खोस दिया जहाँ कि मै बैठा हुआ था। मै अपने पूरे रग मे था और खूब मगन हो रहा था और लोगो को उसपर चढते और उसके बीच में घुसते हुए और घुडसवारो को उन्हे हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुडसवारो ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नही पहुँची। वे अपने लकडी के डण्डो को हिलाते थे और लोगो को उनसे धक्का देते थे।

मगर किसीको चोट न पहुँचाई। उस समय मुझे वलवे के समय के घेरे के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मैं दूसरी तरफ़ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गई थी, सो मैंने गंगा में ग़ोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज हुआ कि मालवीयजी और दूसरे सज्जन जहाँ-के-तहाँ बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कंधे-से-कंधा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (ज़रा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे, और मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को बहुत मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच बदस्तूर रास्ते से निकलकर उन्होंने ग़ोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख्स के लिए इस तरह ग़ोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देने वाला था। ख़ैर; हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को ठहर गई। थोड़ी देर बाद वह वहाँसे हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के ख़िलाफ़ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैया भी अपने आप बच गये।

## : १८ :

# पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक खबर आई कि गाधीजी जेल में बहुत ज्यादा बीमार हो गये है जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये है और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न होगया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साध कर खबरो का इतजार करते थे। आखीर मे सकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सो से लोगो की टोलियाँ उन्हे देखने के लिए पूना पहुँचने लगी। इस वक्त तक वह अस्पताल मे ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन कुछ-दोस्तो को उनसे मिलने की इजाजत थी। मै और पिताजी उनसे अस्पताल मे ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नही लेजाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद करके उन्हे छोड दिया। उस वक्त वह जो छ साल की सजा उन्हे मिली थी उसमे से करीब-करीब दो साल की काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वही समुद्र के किनारे एक छोटे-से बगले में रहने लगा। हम लोगो ने कुछ हफ्ते वही गुजारे और अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिल गई, क्योंकि मैं वहाँ मजे से तैर सकता था, दौड सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नही था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओ

पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गांधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय हमदर्दी नहीं तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा।

जहांतक स्वराजियों से ताल्लुक है वहांतक उनको जुहू की बात-चीत से गांधीजी को अपनी तरफ कर लेने में या किसी हद तक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बात-चीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफत के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस में कोई समझौता नहीं हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारों में छपा दिये गये।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक मायूस होकर लौटा, क्योंकि गांधीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधारक कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कहीं चौरीचौरा जैसा काण्ड तो नहीं होजायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे। इस वक्त गांधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न हमारे मकसद—ध्येय—के बारे में ही उनके विचार स्पष्ट थे। हममें से बहुत-से अपने मन में यह बात साथ-साथ

जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे हैं ? फिर चाहे कांग्रेस इस मामले पर कोई बाजाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आजादी के लिए और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अडेंगे, या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राजीनामा कर लेंगे ? कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की यूथ कान्फ्रेन्स में अपने उस भाषण में, जो मैंने सदर की हैसियत से दिया था, मैंने आजादी पर जोर दिया था। यह कान्फ्रेन्स १९२६ के बसन्त में मेरे नाभा से लौटने से कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेन्स में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुखार में पड़े हुए लिखा था वही पहुँचा दिया गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस में आजादी के मसले को साफ करा लेना चाहते थे, तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमीं लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताकत और उसकी शानोशौकत पर नाज करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयों के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने मुल्क में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लन्दन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े फख्र के साथ कहा था, कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही देश है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं

में बात करते थे और हमारे ख्वाबो में, अगर लिबरल कभी ख्वाब देखते हो तो, कोई चीज ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह जरूरी न था कि हम अपने मकसद की बाबत साफ और सही फैसला करले?

लेकिन उस वक्त ऐसे खयालात थोडे ही लोगो को आते थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नही करते थे—खास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में, जोकि स्वभावत ही कुछ हद तक अस्पष्ट और धार्मिक रग की होती है। १९२४ के शुरू के महीनो मे जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियो की तरफ था जो सूबे की कौंसिलो और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और कौंसिलो को तोडने की लम्बी-चौडी बाते मारने के बाद यह दल क्या करेगा? हाँ, कुछ मजेदार बातें तो हुई। असेम्बली ने उस साल बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आजादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज में बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व में बगाल-कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चों की मांगो को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौंसिलो में, दोनो में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही करदी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलो में कुछ हलचल मची, स्वराजियों मे थोडी देर के लिए अपनी फतह पर खुशी छा गई, अखबारो में अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नही हुआ। इससे ज्यादा ये कर ही क्या सकते थे? ज्यादा-से-ज्यादा ये फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खतम होगया था और लोग बजटों और कानूनों को वाइसराय या गवर्नरो द्वारा सही होते देखने के आदी होगये थे। इसके बाद का कदम अवश्य ही कौंसिलों में जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के वीच मे किसी महीने में अहमदावाद में अखिल-भारतीय काग्रेस कमिटी की वैंठक हुई। इस बैठक में, आशा से वाहर, स्वराजियो में और गाधीजी मे बहुत गहरी तनातनी हो गई और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये। शुरुआत गाधीजी की तरफ से हुई। उन्होने काग्रेस के विधान में एक खास परिवर्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक को और मेम्बरी से ताल्लुक रखनेवाले नियम को वदल देना चाहते थे। इस वक्त तक जो कोई काग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि काँग्रेस का उद्देश शान्तिमय उपायो से स्वराज लेना है, मजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अव गाधीजी चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सके जो चार आने के वजाय निश्चित मिकदार मे अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक वहुत कम होजाता था और इसमे कोई शक नही कि आ० भा० काग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि वह इस हक को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गाधीजी की मर्जी के खिलाफ पडते है तव वह उन हरफो की शायद ही कभी परवा करते हो। मैं इसे विधान के साथ इतनी जवरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बडा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मन्त्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी वीच में कुछ नई वाते और होगईं जिनकी वजह से मैंने इसपर जोर नही दिया। अ० भा० काग्रेस कमिटी की बैठक में देशबन्धु दास और पिताजी ने जोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर में वे उसके खिलाफ अपनी पूरी नाराजगी जाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायियो की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके वाद भी कमिटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव कसरत राय से पास हो गया, लेकिन

मुखालिफ़त की जायगी। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ़ ऐसे शख़्स रहें जो उनके खादी वग़ैरा के रचनात्मक कार्यक्रम में एतबार रखते हों और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जायें। लेकिन अगरचें कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होंने अपना इरादा ढीला

---

धिकार-सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही वापस लिया था। इस प्रस्ताव में एक भाग सज़ा देने-सम्बन्धी था—कोई मेंबर इतना सूत न कातें तो वह सदस्य न रह सकेगा। यह भाग उन सबको बहुत अखरता था। इसके प्रति विरोध दर्शाने के लिए वे उठकर चले गये थे। उनके चले जाने के बाद इस भाग पर राय ली गई—पक्ष में ६७ और विपक्ष में ३७ मत आये। इसपर गांधीजी ने दूसरा प्रस्ताव पेश किया—इस आशय का कि यदि स्वराजी न चले गये होते तो उनकी रायें ख़िलाफ़ ही पड़तीं, और प्रस्ताव का यह भाग उड़ ही जाता, इसलिए यह भाग प्रस्ताव में से निकाल दिया जाय। इस तरह परिवर्तन-सम्बन्धी मूल प्रस्ताव तो कायम रहा, गांधीजी ने उसे वापस नहीं लिया, सिर्फ़ सज़ा वाला अंश वापस लिया गया था।

(२) गोपीनाथ साहा विषयक मूल प्रस्ताव उड़ नहीं गया था। मूल प्रस्ताव गांधीजी ने पेश किया था, जिसमें गोपीनाथ द्वारा किये ख़ून की निन्दा की गई थी। इसपर देशबन्धु ने एक सुधार सूचित किया था। उसमें भी निन्दा तो थी ही, परन्तु साथ ही यह स्तुति भी थी कि फांसी पर चढ़कर गोपीनाथ ने अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। इससे वह निन्दा मिट जाती थी। गांधीजी ने इस सुधार का विरोध किया। कहा—यह अहिंसा-सिद्धान्त को मटियामेट कर देना है। गांधीजी के मूल प्रस्ताव पर ७८ और देशबन्धु के सुधार पर ७० मत मिले थे। १४८ मतदाताओं में ७० सदस्य अहिंसा के नाम-मात्र के हामी थे, इस ख़याल से गांधीजी को ज़बरदस्त आघात पहुंचा था। —अनु०

कर दिया और दूसरे दल से समझौता कर लिया। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनो में इस मामले मे उन्होने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पडता था कि खुद उनकी समझ मे कुछ नही आता था कि वह कहां है और किधर जाना चाहते है ? उनके बारे में मै ऐसा खयाल कभी नही करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसीलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद कोई ऐसा बहुत जरूरी नही था। वोट देने का अख्त्यार हासिल करने के लिए कुछ श्रम कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन जबरदस्ती लादने से उसका मतलब खब्त हो जाता था।

मै इस नतीजे पर पहुँचा कि गाधीजी को इन मुश्किलो का सामना इसलिए करना पडा कि वह अपरिचित वातावरण मे रह रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लडाई के खास मैदान में उनका मुकाबला कोई नही कर सकता था। उस मैदान में उनकी सहज-बुद्धि अचूक उन्हे सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरो से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। या तो दिल खोलकर लडाई या सच्ची शान्ति को वे समझ सकते थे। इन दोनो के बीच की हालत उनके काम की नही थी।

कौंसिलो के भीतर विरोध करने और लडाई लडने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलो मे जाना चाहते है तो वे वहां सरकार की मुखालिफत करने न जायें, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायें। अगर वे ऐसा नही करना चाहते तो बाहर ही रहे। स्वराजियो ने इनमें से एक भी सूरत अख्त्यार नही की, और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने में उन्हे मुश्किल पडती थी।

लेकिन आखिर में गांधीजी ने स्वराजियो से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौंसिलों में स्वराजियो के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह तो राजनीति से अलहदा हो गये है, और ब्रिटिश सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनमें कुछ दम नही रहा। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को रगभूमि से पीछे हटा दिया है, और खुद नायक बन बैठे है। पिछले पन्द्रह बरसो में इस तरह की बातें समय के अनुसार मौजूं हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई है और उन्होंने हर मर्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगो के खयालात के बारे में कितनी कम जानकारी रखते है। जबसे गाधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तबसे उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नही आई, कम-से-कम जहांतक आम लोगो का ताल्लुक है उनकी लोकप्रियता बराबर बढती चली गई है। और यह सिलसिला अभीतक ज्यो-का-त्यो जारी है। लोग गाधीजी की इच्छाओ को पूरा भले ही न कर सके, क्योंकि आदमी की तबीयत अक्सर कमजोर होती है, लेकिन उनके दिलो में गाधीजी के लिए आदर बराबर बना हुआ है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते है तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनो के रूप में उठ खडे होते है, नही तो चुपचाप मुंह छिपाये पडे रहते है। नेता का काम यह नहीं है कि वह न-कुछ में जादू की-सी लकडी फेर कर जनता की हलचले पैदा करदे। हां, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उसका फायदा उठा सकता है, उन हालात से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है, लेकिन वह उन हालात को पैदा नही कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढे-लिखे लोगो में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढती रहती है। जब आगे बढने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते है, और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते है। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गांधीजी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कि गांधीजी के सिवा दूसरा कोई कारगर प्रोग्राम ही नही है। लिबरलो या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नही, और जो लोग आतककारी हिंसा मे विश्वास रखते है उनका आजकल की दुनिया में कोई स्थान नही रहा। उन्हे लोग बेकार तथा पुराने और पिछडे हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और कांग्रेस में ऊंची श्रेणियो के जो लोग है वे उससे भडकते है।

१९२४ के बीच मे थोडे वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी, उसके बाद मेरे पिताजी और गाधीजी में पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे जितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनो के दिल मे एक-दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था। दोनो मे आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनो इज्जत करते थे? 'विचार-प्रवाह' (Thought-currents) नाम की एक पुस्तिका मे गांधीजी के लेखो का सग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका में हमे उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होने लिखा है —

"मैंने महात्माओ और महान् पुरुषो की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नही मिला। और मैं यह मजूर करता हूं कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे मे भी कुछ शक है। मै तो मर्दो में और मर्दानगी मे विश्वास करता हूं। इस पुस्तिका मे जो विचार-

प्रवाह संकलित किये गये हैं, वे एक ऐसे ही मर्द के दिमाग से निकले हैं और उनमें मर्दानगी है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और पुरुषार्थ के।

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न पुरुषार्थ, वह पूछता है, इन सबका नतीजा क्या होगा? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नहीं करता.... इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मज़बूत पैतानों पर सीधा खड़ा हुआ अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी क़ुर्बानी करने और कष्ट सहने का अपना संदेश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस संदेश की प्रतिध्वनि उठती है।...."

उन्होंने स्विनबर्न की नीचे लिखी पंक्तियाँ देकर अपनी भूमिका ख़त्म की है—

नहीं हमारे पास रहे क्या पूर्वपितामह वे नामी—
जो कि परिस्थितियों के होवें शासक एवं स्वामी।[1]

ज़ाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ़ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मर्द हैं। वह ख़ुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीर वाले एक छोटे-से आदमी में इस्पात जैसी मज़बूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज़ है जो शारीरिक ताक़तों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताक़तें कितनी ही बड़ी क्यों न हों, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती, ऐसी न थी कि किसीपर बहुत असर जमे, लेकिन उनमें कुछ कुलीनता और ऐसी बादशाहियत ज़रूर है जो दूसरों को ख़ुशी-ख़ुशी

१. अंग्रेज़ी कविता का भावानुवाद।

उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि उन्होंने जान-बूझ-कर नम्रता और निरभिमानता प्राप्त की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म छोडते थे जिसे पूरा ही करना पडता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखे आदमी को जकड लेती और उसके दिल के भीतर तक की बाते खोज लेती। उनकी साफ-सुथरी आवाज मीठी गूँज के साथ दिल के अन्दर घुसकर हमारे भावो को जगाकर अपनी तरफ खीच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हजार हो, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हे अपनी तरफ खीचे बिना नही रहता और हरेक सुननेवाला मत्र-मुग्ध हो जाता था। इस भाव का दिमाग से बहुत कम ताल्लुक होता था। गाँधीजी दिमाग को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हो सो बात नही, फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग व तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और मुद्देसूद होती थी, गैर-जरूरी शब्दो का इस्तेमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरो को जकड लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड आत्मशक्ति का भडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारो तरफ ऐसी प्रथाये भी बन गई है जो उचित आबोहवा पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन प्रथाओ का पता न हो और गाँधीजी के आसपास की हालतो से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे, लेकिन फिर भी गाँधीजी के बारे में सबसे ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने मुखा-

लिफों को या तो सोलहों आने जीत लेते है या कम-से-कम उनको निःशस्त्र जरूर कर देते हैं।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ करते हैं, लेकिन मनुष्य की बनाई चीज़ों में वह कला या खूबसूरती नहीं देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्त्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूंघने की शक्ति भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीके से उन्हींमें जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी जिन्दगी को कलामय बना दिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और खूबी लिये हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नहीं। उनमें न कहीं नुकीलापन है, न कँटीलापन। उनमें उस अशिष्टता या साधारणपन का निशान तक नहीं जिसमें, दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे रहते हैं। भीतरी शान्ति प्राप्त करके वह दूसरों को भी शान्ति देते है और जिन्दगी के कँटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते है।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! लेकिन उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियां उनके लिए भी लागू होती है। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र और धुरीण वही बन जाते। जैसा कि एक अंग्रेज जज ने मुझसे कहा था, वह जहां-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटा वह उन लोगों को नाराज़ किये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसन्द या नापसन्द करना पड़ता। चौड़ा ललाट, चुस्त होंठ और

सुनिश्चित ठोडी। इटली के अजायबघरो मे रोमन शहशाहो की जो अर्द्ध-मूर्त्तियाँ है उनसे उनकी शक्ल बहुत काफी मिलती थी। इटली मे बहुत-से मित्रो ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होने भी इस साम्य का जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी जिन्दगी के पिछले सालो मे जबकि उनका सिर सफेद बालो से भर गया था, उनमें एक खास किस्म की महत्ता और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत ही कम दिखाई देती है। वह मेरी तरह न थे, उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे।

मै समझता हूँ कि शायद मै उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस सकुचितता और कमजोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी अमीराना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारो तरफ उनकी-सी अजीब ताकत और उनकी-सी शानो-शौकत को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गाधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनो गाधीजी की और स्वराजियो की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो में पिताजी के मूछें न थी और उस वक्त तक गाधीजीने उन्हे हमेशा सुन्दर मूछो-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गाधीजी चौंक गये और बहुत देर तक उसे निहारते रहे, क्योकि मूछे न रहने से मुँह व ठोडी की कठोरता और भी प्रगट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हँसी हंसते हुए उन्होने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबिला करना है। उनकी आँखो ने और निरतर हँसी ने चहरे पर जो रेखायें बना दी थी उन्होने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था, फिर भी कभी-कभी आखे चमक उठती थी।

पिताजी असेम्बली के काम में उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी मे। वह उनकी कानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौजूँ था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओ के खेलें के नियम तो वह

[illegible] थे [illegible]
शामिल थे। [illegible] और उनके
[illegible] और [illegible] कि वे
[illegible] के
[illegible] जिन्हें
के [illegible] था, और [illegible]
[illegible] के लिए [illegible]
[illegible] की
जरूरत थी। [illegible] इन बैठकों
[illegible] था। [illegible]
के लिए भी रखा गया था। [illegible] ने कहा है कि
[illegible] यह नाजुक समय है जिसमें [illegible] और [illegible]
के चुनाव के लिए [illegible] किये जाते हैं कि हम [illegible]
हमले से रक्षा करेंगे!

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोक तो जरूर पड़ती थी कि दूसरों से और ज्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायें। और कोई भी उसूल या प्रचार की प्रबल लालसा इन समझौतों से सुरक्षित नहीं रह सकती थी। धीरे-धीरे पार्टी की स्थिति और उसका अनुशासन बिगड़ने लगा और उसके कमजोर तथा समय-साधु मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गई थी कि हम 'भीतर जाकर मुखालिफत करेंगे'। लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमजोर आदमियों के रास्ते में तरह-तरह के तरीक़ों से खास

रिआयतो और ऊँचे ओहदो के लालच दिये जाने लगे। उन्हे सिर्फ इन चीजो में से जिसे वे चाहे उसे चुन लेना था। उनकी लियाकत, उनकी मीठी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणो की तारीफें होने लगी। उनके चारो तरफ एक आनन्द-मय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतो व बाजार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजिस्टो का आम लहजा नीचे गिर गया। कोई शख्स किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ खिसकने लगे, पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होने कहा, मैं सडे हुए अग को काट फेंकूगा। लेकिन जब सडा हुआ अग खुद ही शरीर छोडकर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बडा असर नही हो सकता था। कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबो मे कार्यकारिणी के मेंबर। उनमें से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम रक्खा प्रति-सहयोगी। इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी में इस्तैमाल किया था। इन दिनो में तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हडप लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगो के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना चक्र ने जो शक्ल अख्त्यार की उससे पिताजी व देशबधु दास को कुछ हद तक नफरत हो गई। कौंसिलो और असेम्बली के अन्दर उन्हे अपना काम बेफायदा-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी इस ऊब को बढाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम झगडा बढ रहा था, जिसकी वजह से कभी-कभी दगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे,

अब सूबे की सरकारो में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदो पर पहुँच गये थे। १९२१ मे हमें इस बात का फख्र था कि हमे एक ऐसी सरकार ने गैर कानूनी करार दिया है और वही हमे जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने कांग्रेसी भी थे। भविष्य में हमें यह तसल्ली और होने को थी कि कम से कम कुछ सूबो मे हमारे अपने पुराने साथी ही हमें गैर-कानूनी करार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलो से कही ज्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमजोरियो को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय। वे हमारे तरीको से भली-भांति वाकिफ थे तथा जन-समूहो और उनके मनोभावो का भी उन्हे कुछ तजुर्बा जरूर था। दूसरी तरफ जाने से पहले उन्होने नाजियो[1] की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोडा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियो का दमन करने में वे इन तरीको से अनभिज्ञ पुराने हाकिमो या लिबरल मिनिस्टरो से कहीं ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधी जी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोण्डी-सी बात थी, क्योकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढकर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसद नही आया। उसमें जरा भी स्फूर्ति नही मिली। जलसा खत्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मै फिर अगले साल के लिए अ० भा०

१ नाजी लोग हिटलर के अनुयायी है। ये यहूदियो के, तथा जो अपने को अनार्य मानते है उनके, घोर शत्रु है, तथा बलपूर्वक डिक्टेटरशाही के पुजारी है। ये लोग एकबार क्रान्तिकारी भी थे, परन्तु बादको क्रान्तिकारियो के दुश्मन बन गये। —अनु०

कांग्रेस कमिटी का कार्यकारी मत्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओं के वावजूद धीरे-धीरे मै कांग्रेस का अर्द्ध-स्थायी म ंत्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियो मे पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय मे डलहौजी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मै भी उन्हीके पास जा पहुँचा। हम लोगो ने हिमालय के भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफर किया जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाडी रास्तो पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुककर बैठे रहे, उनके मुह से एक शब्द तक नही निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हे इतना दुखी होते हुए कभी नही देखा था। वह एक शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगो से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था यकायक उन्हे छोड कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धो पर छोड गया। वह बोझा वैसे ही बढ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उसमे तथा लोगो की कमजोरियो से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेंस में देशबन्धु ने जो आखिरी भाषण दिया वह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाडो पर चलते-चलाते डलहौजी पहुँचे, वहाँ मे कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहा से कलकत्ता।

: १९ :

## साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ के जाड़े में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुखार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। मुझे शारीरिक कमज़ोरी से या बुखार से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज़ था और हिन्दुस्तान में आमतौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं खिलाफ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन खतरे के टल जाने पर मुझे कमज़ोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आस-पास की चीज़ों और अपने रोज़मर्रा के कामों से अजीब विराग-सा महसूस करता था और उन्हें तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में से पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मेरा दिमाग़ जितना साफ़ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सब लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख्त बीमारी में होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल उसके सकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजुर्बे का मुझ पर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-भरे वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित

किया उन्हें ज्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माकूल जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं जिन्दगी और राजनीति दोनो मामलो को मजहबी निगाह से देखने के दिन-पर-दिन ज्यादा ही खिलाफ होता गया। मैं अपने उस तजुर्बे की बाबत ज्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं आसानी से जाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत ही हल्की छाप रह गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक उसी तटस्थता से किया।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताकत के बाहर थी और जिनसे मैं दिक नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्तनों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल बात थी हिन्दू-मुसलमानों के ताल्लुकात में दिन-पर-दिन ज्यादा बढ़ने वाली खराबी, जो खास तौर पर इन दिनों हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रही थी। बड़े-बड़े शहरों में दंगे हो रहे हु[illegible], जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी थी। शक और [illegible] की आबोहवा ने नये-नये झगड़े पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममें से ज्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इनमें [illegible] पैदा करने वाली वजह थी गो-कुशी और [illegible]। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहार [illegible]

का त्यौहार था जिसमें बुराई के ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पा नहीं हो सकते थे, लेकिन खुश-किस्मती से ये त्यौहार तीन साल में सिर्फ एक दफा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत बदी नवमी को मनाई जाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताबिक कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज़ के वक्त बाजा बजाने या जरा भी आवाज़ जाने पर मुसलमान एतराज़ करने लगे—कहते, इससे नमाज़ में खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत सी मसजिदें हैं और उनमें हर रोज़ पाँच मर्तबा नमाज़ पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वगैरा के जलूस भी शामिल हैं, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक्त मौजूद रहता था। खास तौर पर जब मसजिद में शाम को होने वाली नमाज़ के वक्त जुलूस निकलते और बाजों का सिलसिला होता तब ऐतराज़ किया जाता था। इत्तिफ़ाक़ से यही वह वक्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और घण्टे बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घण्टे बजते हैं। इसी आरती-नमाज़ के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप ग्रहण कर लिया।

करने वाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ भिडा सकती है तब उस जोश को भडकाना बहुत ही आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोडे-से शहरो मे होने वाले इन दगो को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है, क्योकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरो और सूबो में और तमाम गावो में हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे, उनके ऊपर इन दगो का कोई कहने लायक असर नही पडा। लेकिन अखबारो ने स्वभावत ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगडे को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरो के आम लोगो में भी यह साम्प्रदायिक तनातनी और कटुता बढती गई। चोटी के साम्प्रदायिक लीडरो ने उसे और भी बढाया और वह साम्प्रदायिक राजनैतिक माँगो की कडाई के रूप मे जाहिर हुई। हिन्दू मुसलिम झगडे से मुसलमानो के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति मे प्रतिगामी दल के है और जो असहयोग के इतने बरसो में कोनो में पीछे पडे हुए थे, बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ से रोज-ब-रोज नई-नई और पहले से ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगें पेश होती जो हिन्दुस्तान की आजादी और कौमी एकता की जड को काटती थी। हिन्दुओ की तरफ भी जो लोग राजनीति में प्रगति-विरोधी थे वे ही हिन्दुओ के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओ के हको की रखवाली करने के बहाने वे नियमित-रूप से सरकार के हाथो की कठपुतली बन गये। उन्होने जिन बातो पर जोर दिया उन्हे हासिल करने में उन्हे कोई कामयाबी नही मिली। जिन तरीको से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नही हो सकते थे। हाँ, उन्होने मुल्क में जातिगत विद्वेष फैलाने में जरूर कामयाबी हासिल की।

काग्रेस बडे असमजस मे पड गई। वह तो कौमी जज्बात की

प्रतिनिधि-स्वरूप थी, उन्हींका उसे खयाल रहता था, इसलिए इन साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाजिमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसी की भी तरफदारी करने से साफ इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं, बल्कि और सिक्खों के मामलों में भी, क्योंकि अब तो सिक्ख वगैरा कम तादाद वाली जातियां भी ज़ोर-ज़ोर से अपनी मांगें पेश कर रही थीं। लाजिमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ के अन्तिममार्गी लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक मांग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीजों की कीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड़ लिया। लेकिन दूसरे लोग जो समझते थे कि वे हरेक चीज का बाजार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी चीज की सही कीमत से वाकिफ न थे बाजार के सौदा करने के तरीक़े से चिपटे रहे। उन्हें वह खर्च भी साफ-साफ दिखाई दिया जो असली चीज को पकड़ने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था, लेकिन जिस चीज को वे शायद खरीद लेते उसकी असली कीमत की वे कुछ भी कद्र नहीं कर पाते थे।

दूसरों की नुक्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी असफलताओं की जिम्मेदारी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूंढने

के लिए तो दूसरो के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना प्राय दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते है—कसूर हमारे खयाल का या काम मे किसी किस्म की गलती का थोडे ही था, वह तो दूसरे लोगो ने जान-बूझकर जो रोडे अटकाये उनका था। हमने सरकार को और साम्प्रदायिक लीडरों को दोष दिया। साम्प्रदायिक लीडरो ने हमारा कसूर बताया। इसमें कोई शक नही कि हम लोगो के रास्ते मे सरकार तथा उसके साथियो ने अडचने डाली, और जान-बूझकर लगातार रोडे अटकाये। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा साम्राज्यो का तरीका रहा है, और उनकी इस नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगो का वे उसमे शोषण करते है उनके ऊपर, शासको की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नही होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उसपर कोई अचम्भा नही होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करनी या पहले से ही उसका इन्तजाम न कर लेना, खुद हमारे विचारो की ही एक गलती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करे? यह तो तय है कि दूकानदारो की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्ही की चालो से काम लेने से कुछ फायदा नही हो सकता, क्योकि हम कितना भी क्यो न दें, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यो न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगो मे कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नही है तो हम अपने समान वैरी पर सब मिलकर एकसाथ चढाई नही कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढाचे की भाषा में ही सोचे

और तय करें कि उसी में सिर्फ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर देंगे, उनका सुधार या 'भारतीय करण' कर लेंगे, तो फिर संयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा। क्योंकि उस हालत में हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर काबू रखने वाली पार्टी या शक्ति का लाजिमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको जो इनाम चाहती है देती है। हां, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढांचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिल्कुल दूसरे सामाजिक ढांचे की बात सोचकर ही हम संयुक्त उपाय की मजबूत नींव डाल सकते हैं। हमारी आजादी की मांग की तह में जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दें कि कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी संस्करण नहीं चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे, और 'डोमिनियन स्टेट्स' के मानी यही है। लेकिन हम लोग तो बिल्कुल ही दूसरी किस्म के राजनैतिक ढांचे के लिए लड़ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक आजादी ही थे। उसमें आम लोगों के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल शामिल न थी, लेकिन उसके यह मानी जरूर थे कि आर्थिक नीति और मुद्रा-नीति जो बैंक आफ इंग्लैंड के द्वारा ठहराई जाती है वह बन्द हो जायगी और उसके बन्द हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढांचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूं कि मेरे खयाल में राजनैतिक आजादी भी हमें अकेली नहीं मिलेगी, जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आजादी को भी लेती आवेगी।

लेकिन हमारे करीब-करीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और,

विलाशक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तग दायरो में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही खयाल होता था। इसीसे वे ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा काबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नही सकते थे। क्योंकि सीधी लडाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यत सुधारवादी था, और वह समय बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या जातिगत मसला सुधारवादी तरीको में सन्तोष-जनक रूप से हजम हो सकता था। हालात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से योजना निर्माण करके क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओ में ऐसा कोई न था जो इन माँगो को पूरा करता।

इसमें कोई शक नही कि हमारी आजादी की लडाई में स्पष्ट आदर्शो और ध्येयो की कमी ने साम्प्रदायिक जहर को फैलाने मे मदद दी। जनता को स्वराज्य की लडाई का उनकी रोजमर्रा की तकलीफो से कोई ताल्लुक दिखाई नही दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लडे। लेकिन वह हथियार इतना कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामो के लिए भी उसका इस्तैमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय मे जातीय नेताओ को इस काम में कोई मुश्किल नही पडती थी कि वे इसी जज्बे को मजहब के नाम पर उभाडकर उसका इस्तैमाल करे। ताहम यह बात बडी अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो में बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगो को मजहब के नाम पर उन प्रोग्रामो और मागो के लिए भी जनता की हमदर्दी काफी हद तक मिल गई, जिनका

जनता से ही नहीं, निचली मध्यम श्रेणी के लोगों से भी कोई ताल्लुक न था। हरक जाति जनता से ही जो भी अपनी जातीय माँग पेश करती है उसकी जाँच करने पर अखीर में यही मालूम होता है कि यह माँग नौकरियों की माँग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती हैं। बेशक, यह माँग भी की जाती है कि कौंसिलों में, जोकि राजनैतिक ताकत का मुकाम हैं, स्पेशल और ज्यादा जगहें दी जायें, मगर इस माँग का भी यही मतलब है कि इससे खासतौर दूसरों से बड़े बनकर उन्हें अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी सियासी माँगों से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी के ऊपरी तह के थोड़े-से लोगों को कुछ कुछ फायदा पहुँचता था, लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नई अड़चनें पैदा होती थीं। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन माँगों को अपने मजहबी फिरके के आम लोगों की माँग के रूप में दिखाया जाता था। असल में उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मजहबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक [illegible] राजनैतिक मैदान में आये और [illegible] में जातिगत पक्षपात से [illegible] राजनैतिक [illegible] को रोकने के लिए [illegible] हमेशा [illegible] ही [illegible] पर [illegible] है। [illegible] और [illegible] के [illegible]

जातीय नेता यद्यपि ज़ाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक नही था। चूँकि वे कोई अमली उपाय नही कर सकते थे, इसलिए उन्होने सरकार की खुशामद करके उसे राज़ी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनो के नेता साम्यवाद या ऐसी ही "सत्यानासी" हलचलो की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों के हकों में खलल डालने वाली हर तजवीज़ के मामले में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानो के जातीय नेताओ ने ऐसी बहुत-सी बाते कही और बहुत-सी हरकते की जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो रूप मे उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओ की बाबत यह बात नही कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बडी थी, जिनमे बहुत-से काबिल शख्स भी थे। इतना ही नही, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमे से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानो ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होने जातीय मुसलमान नेताओ का मुकाबिला किया। शुरू में तो उन्हे इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पडता था कि पढे-लिखे मुसलमानो का बहुत बडा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगो में से थे और उनमें कोई ऐसा वेगवान् नेता न था। वे अपने-अपने काम-धन्धो मे लग गये और आम लोगो से उनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के आम लोगो के पास कभी गये ही नही। उनका तरीका अच्छे अच्छे

कमरों में बैठकर मीटिंगें करके आपसमें राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का था और इस खेल में उसके रकीब यानी जातीय नेता उससे कहीं ज्यादा होशियार थे। इन जातीय नेताओं ने नेशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन उसूलों के लिए वे शुरू में अड़े थे उनको वे इन से एक-एक करके छुड़वाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कहीं पीछे न ज्यादा हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मज़बूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ नहीं रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाकी नहीं रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का आधार रहा है और वह है शामलात चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा में तो बच आये लेकिन अपना असर बहुत खो गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होंने अपनी जमात बनाई थी उन सबको वे खो बैठे। इन्हीं उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फख्र के साथ अपनी जमात के झण्डे पर लगाया था, लेकिन अब उनमें से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नहीं रहा।

[illegible] नेशनलिस्ट मुसलमान, [illegible], कांग्रेस के अहम ओहदों में भी हैं, लेकिन जमात की हैसियत से नेशनलिस्ट मुसलमानों के

गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी का आखिरी अध्याय पिछले साल, १९३४ में ही लिखा गया है। १९२३ में और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे साम्प्रदायिक लोगों के मुकाबले में लड़ाकू ढंग भी अख्तियार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौकों पर गांधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ माँगों को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे, लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन माँगों की मुखालफत बड़ी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बात-चीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशें की गईं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से मशहूर हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होंने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे, क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था। वह तो वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी जातीय नेता वाकई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं? उनमें से बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रगति-

विरोधी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में कायापलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज़्यादा गहरी थीं और वे महज़ नेताओं की ख़राबी की वजह से ही नहीं थीं। अब तो सिक्ख भी अपनी जाति की मांगें ज़ोर के साथ पेश करने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब में भी एक ग़ैरमामूली और विकट तिकोना खिंचाव पैदा हो गया था। दरअसल पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और वहाँ हरेक जाति में दूसरे के डर की वजह से क्षोभ और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मींदारों के व बंगाल में हिन्दू-ज़मींदार और मुसलमान-किसानों के झगड़े जातीयवेश में सामने आये। पंजाब और सिन्ध में साहूकार और रुपयेवाले लोग आमतौर पर हिन्दू हैं और क़र्ज़ से दबे हुए लोग मुसलमान खेतीहर। वहाँ क़र्ज़ से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों के ख़िलाफ़ जो भाव होते हैं उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आमतौर पर मुसलमान ग़रीब थे और मुसलमानों के साम्प्रदायिक लीडरों ने ग़रीबों में अमीरों के ख़िलाफ़ जो बुरे भाव होते हैं उनका इस्तेमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से ग़रीबों की भलाई का कहीं कोई ताल्लुक़ न था, लेकिन इनकी वजह से साम्प्रदायिक मुसलमान लीडर कुछ हद तक ज़रूर आम लोगों के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताक़त भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगों के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौक़ों पर जन-साधारण की सहानुभूति इन्हें मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फ़िरक़ाबन्दी के मसलों में हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि सच की बात तो यह है कि लोगों

ने अभी इस बात को महसूस नही किया। हो सकता है कि यह बात बढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गो के झगडो की शक्ल अख्तियार करले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के साम्प्रदायिक लीडर, जो फिरके के अमीरो के प्रतिनिधि है, दौडकर अपने भेद-भाव को मिटा देगे जिससे कि वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुकाबला कर सके। यो तो जुदा हालतो में भी इन जातिगत झगडो को निपटा कर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बडी शर्त है—कि तीसरी पार्टी न मौजूद हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हो पाया था कि इलाहाबाद मे हिन्दू-मुसलमानो में दगा हो गया। यो और दगो को देखते हुए यह दगा कोई बडा दगा न था, क्योकि उसमे हताहतो की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने ही शहर में इस तरह के दगे के होने से मुझे रज जरूर होता था। मै दूसरे लोगो के साथ इलाहाबाद दौड पडा। लेकिन यहाँ पहुचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दगा खत्म हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी वैर-भाव बढा और मुकदमेबाजी चली वह बहुत दिनो तक बनी रही। मै यह भूल गया हूँ कि यह झगडा क्यो हुआ ? उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद में रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टण्टा हो गया था। रामलीला के उत्सव मे बडे भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदो के सामने बाजा बजाने मे कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगोने रामलीला मनाना ही छोड दिया। करीब-करीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नही हुई। यह त्योहार इलाहाबाद के जिले के लाखो लोगो के लिए सालभर में सबसे बडा त्योहार था। लेकिन अब वहा उसकी दु खद याद-भर है। बचपन में जब मै रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको

देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-भर से तथा दूसरे कसबों से लोगों की भारी भीड़ उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दुओं का था, लेकिन वह खुले आम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने को भीड़ में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनों बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया तथा जुलूस और स्वांगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे में मेरी रुचि का माप-दण्ड ऊँचा होगया था। लेकिन उस वक्त भी मैंने यह देखा कि आदमियों की भारी भीड़ उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह वक्त मौज करने का वक्त था, और अब आठ या नौ बरसों से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौका नहीं मिलता। उनकी जिन्दगी में रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के जोश का जो एक उज्ज्वल दिन साल उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज़ बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक मज़हब और मज़हब की स्पिरिट को ऐसी बहुत-सी बातों के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ़, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए हैं।

## : २० :

## म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन रोज़-ब-रोज़ इस काम में मेरी तबीयत

उचटती-सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने इस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफी वक्त और काफी ध्यान लगाया था। कुछ हदतक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियों का भी सद्भाव मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराजी को भूलकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ से जकड़ा हुआ हूँ और कोई वाकई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अटचनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं है कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़गें लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राजी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे में जैसा ढांचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकने वाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनों के मुताबिक सामाजिक विकास की और टॅक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करने वाली योजनाओं की इजाजत न थी। जो योजनायें कानून के मुताबिक की जा सकती थीं उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामने बहुत बड़ी जिन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक

पुनस्संघटन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और टील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ को दबाना हो तब जरा भी ढील और गलती नहीं रहती। इन दोनो कामो में सरकार के रुख की दुर्भांत देखने लायक होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक रखने वाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते है, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलो में ही नहीं बल्कि पब्लिक मामलो में भी बिलकुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कोई खयाल नही करते थे। उने तो इडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमो पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमो की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारीपन और माँ-बापपन के थोडे-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हद तक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की ज़रूरत को कोई भी महसूस नही करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज़ से दबी रहती है और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनि-सीपैलिटी को देखती है वह है कर्ज़ देनेवाले बोहरे की निगाह। आया कर्ज़ की किस्तें वायदे पर अदा हो रही है? आया म्युनिसिपैलिटी कर्ज़ अदा करने की ताकत भी रखती है? उनके पास काफ़ी रोकड़-बाकी है या नहीं? ये सब सवाल ज़रूरी और माकूल है, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने है—जैसे तालीम, सफाई वग़ैरा, और वह महज एक ऐसा मण्डल नहीं है जिसका काम

रुपये कर्ज लेकर उन्हें तयशुदा मियादों पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसिपैलिटियां शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन ये थोड़े-से काम भी रुपये की तंगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते हैं और आम तौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैल्टिी के मदर्सों में हाकिम लोगों की कोई खास दिलचस्पी नहीं, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर, दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बंगले-बंगलियों का रकबा। इन हरेक बंगलों में काफी बड़ा अहाता या बाग भी होते हैं। इस रकबे को अंग्रेज आम तौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज अफसर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल-लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियां खर्च जितना शहर खास पर करती हैं उससे कहीं ज्यादा सिविल-लाइनों पर करती हैं, क्योंकि सिविल-लाइनों के कहीं बड़े रकबे में ज्यादा सड़कों की जरूरत होती है। इन सड़कों की सफाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तजाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुँचाने का और सफाई का इन्तजाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और बिला शक, शहर के गरीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवाह ही नहीं की जाती। शहर खास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं और उसकी

तंग गलियों में रोशनी का इन्तज़ाम ज़्यादातर बहुत नाकाफ़ी होता है। उनमें नालियों और सफ़ाई का भी काफ़ी माकूल इन्तज़ाम नहीं होता। शहर ख़ास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नहीं करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी ऐसा कोई नतीजा नहीं निकलता, क्योंकि क़रीब-क़रीब सभी बड़े-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनों में ही रहते हैं।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक ग़रीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और कुछ सुधारों के कुछ काम करने के लिए मैं ज़मीनों की क़ीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज़ पेश की त्योंही एक सरकारी अफ़सर ने उसकी मुख़ालफ़त की। मैं समझता हूँ कि वह अफ़सर ज़िला-मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना ज़मीन के क़ब्ज़े के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व क़ानून हैं उनके ख़िलाफ़ पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-लाइन के बंगलों में रहनेवालों को ज़्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है, तमाम चीज़ों की—जिनमें खाने की चीज़ें भी शामिल हैं—क़ीमतें बढ़ जाती हैं और जिसका बहुत ज़्यादा बोझ ग़रीबों पर आकर पड़ता है। और समाज-विरुद्ध तथा हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज़्यादातर म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी की ख़ास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था जो बड़ी नज़ाकत के साथ पुरानी लीक पर धीरे-धीरे चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज़्यादा तेज़ी से या दूसरी तरफ़ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ़ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज़्यादातर

लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमे से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगो ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरो में न तो दूरदृष्टि ही थी, न तबदीली या सुधार करने की धुन। पुराने तरीके काफी अच्छे है, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगो से काम लिया जाय जो मुमकिन है कि पूरे न पड़े ? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन रोजमर्रा की जड बातो के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हां, एक बात ऐसी जरूर थी जिस पर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरो में नया जोश पैदा कर देगी, और वह थी अपने नाते रिश्तेदारो को नौकरियो तथा ठेके वगैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम मे अच्छाई नही बढती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियां और जिला-बोर्डो की नुक्ताचीनी करते है और उनकी बहुत-सी कमियो की तरफ इशारा करते है, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री सस्थायें हिन्दुस्तान के लिए मौजूं नही है। उनकी कमियां तो जाहिर है, लेकिन उस ढाचे की तरफ कतई ध्यान नही दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हे अपना काम करना पडता है। यह ढाचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनो की दोगली सन्तान है और उसमें दोनो की ही खराबियां मौजूद है। यह बात तो मजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक सस्थाओ पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख्त्यार जरूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-सस्थाओ के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतो का खयाल रखने वाली हो। जहां ऐसा न होगा वहा या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-सस्था में रस्साकशी होगी या मुकामी सस्था चुप-

चाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल में स्थानिक संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायेगी। लेकिन खासियत यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नहीं होगी। अख्तियार तो उसी को होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी। जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालों को खुश रखने की नहीं; और जहाँ तक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी आते हैं—खास तौरपर इसलिए, क्योंकि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का सबसे ज्यादा जाहिर काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक संस्थाओं के लिए वोट देने का हक़ भी थोड़े ही लोगों तक महदूद है। वोट देने का अख्तियार और भी ज्यादा बढ़ाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों और बड़े-बड़े शहरों के कार्पोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन में वोट देने का अख्तियार ज्यादातर लोगों को देने का प्रस्ताव गिर गया था। जाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे दूसरों को दखल देने या उसे खतरे में डालने की कोई जरूरत नहीं समझते थे।

इतना हुए भी मैं कहूँगा कि यह बात जरूर है कि हमारी स्थानिक संस्थाएँ आम तौर पर कामयाबी और कार्यक्षमता के समझते हुए

नमूने नही है, यद्यपि वे जैसी है वैसी हालत में भी बहुत आगे-बढे हुए लोकतन्त्री देशो की कुछ म्युनिसिपैलिटियो से टक्कर ले सकती है। आमतौर पर उनमें रिश्वत की बुराई नही है। महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमजोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब गलत है। यह सब स्वभाविक है, क्योकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे सुविज्ञ लोकमत और जिम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमे हुकूमत का सर्वव्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातो की जरूरत है वे नही पाई जाती। आम जनता को तालीम देने का कोई इतजाम नही है, न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनाई जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत मे पब्लिक का खयाल गल्ती या साम्प्रदायिक या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलो की तरफ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इतजाम में सरकार की दिलचस्पी इस बात में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्योरियां चढ जाती है। जिन पाठ्य पुस्तको में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसो में नही पढाने दिया जाता। इतना ही नही, उनमें राष्ट्रीय नेताओ की तस्वीरे भी नही लगाने दी जाती। म्युनिसि-पैलिटियो से राष्ट्रीय झडा उतारना पडता है, न उतारे तो म्युनिसि-पैलिटी तोड दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबो की सरकारो ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियो मे जितने काँग्रेसी नौकर हो उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन सस्थाओ पर सरकारी दबाव काफी होता है, क्योकि उसके साथ-साथ

यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को तालीम वग़ैरा के लिए जो इमदाद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन कहीं-कहीं तो—ख़ास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—क़ानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को जो असहयोग या सरकार के ख़िलाफ़ किसी और सियासी हलचल में जेल गये नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज़ राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख़्स की लायक़ी या नालायकी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी-सी मिसालों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे ज़िला-बोर्डों को कितनी आज़ादी मिली हुई है और उसमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है। यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इन राजनैतिक मुख़ालिफ़ों को तमाम म्युनिसिपल और ज़िला-बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में क़रीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौक़ों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसीको शक नहीं हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन शख़्स शामिल हैं। इन लोगों में जोश है, आगे बढ़ने की ताक़त है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के काम के लिए आदमी ढूंढ़ने का सबसे अच्छा सामान इन्हींमें मिल सकता था। फिर भी सरकार ने क़ानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ़ उन्हींको सज़ा मिले बल्कि उन लोगों को

भी जो उनमें हमदर्दी रखते हैं। सरकार खुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढ़ाती है जो बिल्कुल जी-हुजूर हो, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक संस्थायें ठीक तरह से काम नहीं करतीं, और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक संस्थाओं के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात में कोई ऐतराज नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखाकर, कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गांवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह वर्षों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी जिम्मेदारियाँ झेलनी पड़ी है और आखिर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताकतवर और सुरक्षित है। और यह नहीं कि उसमे उन्हे कामयाबी भी न मिली हो। बल्कि तालीम के इस कड़े क्रम ने उन्हे आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताकत दी है। जिन गुणो को एक हुकूमत की स्पिरिट में भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करने वाली तालीम ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलो ने हिन्दुस्तानियो मे फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनो की तरह कांग्रेस की हलचलो में भी बहुत-से नालायक, बेवकूफ, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और है। लेकिन इस बात मे भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसतन कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अपनी बराबर योग्यता रखने-वाले किसी दूसरे शख्स के मुकाबले मे ज्यादा होशियार और कार्यकुशल साबित होगा।

इस मामले का एक और पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारो ने नही समझ पाया है। वह यह है कि असली

क्रान्तिकारी तो इस बात का खुशी से स्वागत करते है जो सरकार कांग्रेस-कार्यकर्ताओं को ही कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तों को रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम है कि वे क्रान्तिकारी नही होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की जिन्दगी और हालतों को शुरू कर देते है। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलो में फँस जाते है। बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग से ओझल होने लगते है और उनमें जो थोडा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठडा पड जाता है। उनके पुट्ठो पर चरबी चढने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यमश्रेणी के कार्यकर्ताओ के इस लाजिमी झुकाव की वजह से ही आगे बढे हुए तथा क्रान्तिकारी खयालों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डो और कौंसिलो के विधानो के जजाल में पूरे समय के कामो में न फँसने पावे जो उन्हे कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हो।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है, क्योंकि वह कांग्रेसियो के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है,-जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा जरूर क़ायम रहेगा या हो सकता है कि वह भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनो तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहा अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूँ। मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई कहने लायक तब्दीली तो करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफा देना चाहता

था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरो ने मुझपर जोर दिया कि मै चैयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियो ने मेरे साथ हमेशा शराफत व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चैयरमैनी के दूसरे साल के अखीर मे मैने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल बसन्त-ऋतु मे मेरी पत्नी बहुत बीमार पड गई। कई महीनो तक वह लखनऊ के अस्ताल में पडी रही। उस साल कांग्रेस कानपुर मे हुई थी। मुझे मुद्दत तक दु खी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पडे थे। ( मै इन दिनो भी कांग्रेस का प्रधान-मत्री था। )

डाक्टरो ने सिफारिश की कि कमला का इलाज स्वीजरलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसद आई, क्योकि मै खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग साफ नही था। कोई साफ रास्ता नही दिखाई देता था। मैने सोचा कि अगर मै हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीजो को और अच्छी दृष्टि से देख सकूँगा और अपने दिमाग के अन्धेरे कोनो मे रोशनी पहुँचा सकूँगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज मे बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मै, मेरी पत्नी और हमारी बेटी। उसी जहाज में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत एस० पण्डित भी गये। उन लोगो ने अपनी योरप-यात्रा का इतजाम हम लोगो के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

: २१ :

# यूरप में

मुझे यूरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप में छः या सात महीने या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग दोनों के लिए चैन व आराम का वक्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा में और मोन्टाना के पहाड़ी सेनेटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग योरप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रान्स, इंग्लैंड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके आसपास चारों ओर बर्फ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन समाज से बिलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें खास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं दूर से देखने वाला एक तमाशबीन बन गया था जो अखबार पढ़ता था, और [illegible] की तरह समझदार उनपर

गौर करता था, नये यूरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कही ज्यादा आजादाना मानव-सम्बन्धो को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावत मुझे राष्ट्र-सघ के कामो मे और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर मे भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाडा आते ही, जाडे के खेलो में मेरा मन लग गया। कुछ महीनो तक इन खेलो मे ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीमे मै लगा रहा। बरफ पर एक किस्म के फिसल-खडाऊँ पहनकर तो मै पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकडी के आठ फीट लम्बे और चार इच चौडे फिसल-जोडे को पैरो से बाँध कर बरफ पर चलने का तजुर्बा मेरे लिए बिलकुल नया था और मै उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनो तक तो मुझे इस खेल मे काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मै हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर मे मुझे खूब मजा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनो हमारी जिन्दगी में कोई खास घटना नही हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहाँ हम लोगो को बहुत कम हिन्दुस्तानियो से मिलने का मौका मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाडी बस्ती मे रहनेवाले थोडे-से लोगो को छोडकर और किसीसे हमें मिलने का मौका नही मिला। लेकिन हम लोगो ने यूरप में जो एक और तीन-चौथाई साल बिताया उसमें हमे बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामो से मै वाकिफ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा मे एक मकान की नब मे ऊँची मजिल पर अपनी बीमार पत्नि के साथ रहते थे। ये दोनो बुड्ढे मियाँ-बीवी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पडे रहते थे, जिनमें दम-सा

१

घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नही करते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इसकी उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट है या उनके धन के ग्राहक है। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखबारो की पुरानी कापियो से भरी रहती थी। वह उन्हे खींचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखो को दिखाते जो उन्होने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने जमाने की बाते किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हे पहचान कर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरो की दीवारे पुरानी किताबो से भरी अलमारियो से सटी हुई थीं। उन किताबो को पढना-पढाता कोई नही था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहा जा पहुँचता उसको तरफ़ दुख भरी निगाहो से देखती-सी मालूम होती थीं। किताबें और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पडे रहते थे। ऐसा मालूम पडता था मानो वे कई दिनो और हफ्तो से, मुमकिन है महीनो से, इसी तरह पडे हुए है। उस तमाम जगह में मौत की छाप-सी, श्मशान की हवा-सी छाई हुई थी। किसी को वहाँ ऐसा मालूम पडता था जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सुनसान बरामदो में चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पडता था कि किसी कोने में कहीं मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। आदमी उस मकान में से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामो के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशो मे शिक्षा पाने वाले हिन्दुस्तानियो के लिए कुछ इन्तजाम करना पसंद करते थे। उन्होने मुझसे कहा कि मै भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी होजाऊँ। लेकिन मैंने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश जाहिर नहीं की। मै नही चाहता था कि मै उनके आर्थिक मामलो के चक्कर मे फसू। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कही जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हे फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दात है। यह तो किसी को नही मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। यह अफवाह भी उडी थी कि जर्मनी में सिक्के की कीमत गिरने पर उनको बहुत नुकसान हुआ था।

कभी-कभी नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा मे होकर गुजरते थे। जो लोग राष्ट्र-सघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते थे और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगो के पास तक नही फटक सकते थे। लेकिन मजदूर दफ्तर में कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी थे। श्यामजी इन लोगो से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिल-कर उन लोगो पर जो असर होता वह बडा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी मे भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफी माग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखे जाने मे खैर नही है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त

हैं, उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह तो पुराने जमाने की यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा जमाना उनके लिए मौजूं नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुंह फेरकर आगे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आंखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज नहीं फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज्जत को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अखबारों में खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी जिन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गईं। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की तालीम के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख्स जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्विट्जरलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता जबरदस्त थी। मेरा खयाल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिलकुल हवा में रहते हैं और असली हालत से शायद कोई वास्ता रखने से इनकार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैदानों के लिए भले ही मौजूं हो या साइबेरिया के मैदानों में हो, लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहां बिलकुल बेमौजूं थी। यह पोशाक एक किस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो चिट्ठी, पत्र, फोटोग्राफ वगैरह से भरी हुई थीं। इन चीजों में जर्मनी के [illegible] बैथमैन-हॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उनके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा

हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागजात और तस्वीरे थी। उन जेबो में कितनी चीजे भरी हुई थी, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होने हमसे कहा कि एक दफा चीन मे उनका एक डिस्पैच बक्स खो गया, जिसमें उनके बडे कीमती कागज़ात भरे हुए थे, तब से उन्होने इसी में ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने कागजात को अपनी जेबो मे ही रक्खें। इसीसे उन्होने इतनी ज्यादा जेबे बनवाई थी।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान की और उन यात्राओ में जो घटनायें हुई उनकी कहानियो की भरमार थी। उनको अपनी जिन्दगी तरह-तरह की हालतो मे बितानी पडी, जिनका हाल बडा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश "आनन्द-समाज" ( A Happiness Society ) के लिए था, जो खुद उन्होने कायम की थी और जिसका मूल-मन्त्र था—"खुश रहो"। मालूम पडता है कि इस सस्था को लटाविया (या लियुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनके प्रचार का तरीका यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सो के मेम्बरो के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डो पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गये थे, जो जाहिरा तौर पर जिन देशो की उन्होने सैर की थी उनमे से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि वह अपने को जाति, मजहब और क़ौम के बन्धनो से ऊपर समझते है। उस विचित्र नाम के नीचे आखिरी विशेषता "मनुष्य-जाति का मेम्बर" लि-

कुल मौजूं था। महेन्द्रप्रतापजी की बातो को ज्यादा महत्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासो के एक पात्र-से, डॉन क्विग्जोट-से,[1] मालूम होते थे, जो गलती से बीसवी सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहो आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बुढिया मेडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होने हमारे चेहरे की तरफ गौर से देखा, और हमारी तरफ अँगुली उठाकर एकाएक हमसे यह पूछा कि आप कौन है, तब वह कुछ-कुछ खूँख्वार और डरावनी-सी मालूम हुई। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पडता, शायद उनको इतना ऊँचा सुनाई देता है कि वह आपकी बात सुन ही नही पाती। वह अपनी इच्छाओ के अनुसार धारणायें बना लेती है, और फिर उन्हींपर अडी रहती है, चाहे वाकयात उन धारणाओ के खिलाफ ही हो।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझे कुछ वक्त के लिए इटली मे मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाकत पुराने जमाने की राजनैतिक चालबाजियो में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारो के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान की 'सयुक्त राज्यो' या 'हिन्दुस्तान के सयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनो तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलो की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्व नही दिया, इसलिए मै जल्दी ही उन सब बातो को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय

[1] थोडी शक्ति पर हवाई किले बाँधनेवाला एक पात्र जिसका अनुपम चित्र इसी नाम के एक स्पेनिश उपन्यास में चित्रित किया गया है—अनु०

से मिले और ऐसा मालूम पडता है कि उन्हे भी उन्होने वही बाते कह सुनाईं। लालाजी पर उनका बहुत असर पडा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँ तक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलो के चुनाव में उन बातो का बडा अहम हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबैदुल्ला हेजाज चले गये और कई पिछले सालो से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नही मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी किस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में मिला। वह बडे मजेदार बूढे आदमी थे। बडे उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ मे सेनफ्रान्सिसको मे उनकी मौत हुई, जबकि हम लोग स्वीजरलैंड में थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन मे ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होने लडाई के वक्त में हिंदुस्तानियो का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकडे-टुकडे हो गया। उन लोगो की आपस मे नही बनी और वे एक-दूसरे से लड पडे, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वास-घात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओ का यही हाल होता है। बर्लिन के उन हिन्दुस्तानियो मे से बहुत से तो मध्यश्रेणी के लोगो के उन बैठे-ठिठाले पेशो में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी मे इस तरह के पेशे अक्सर नही मिल सकते थे। अब जो उनमे हिलग गये उनमें क्रान्तिकारी-पन का कोई चिन्ह नही रहा। यहांतक कि वे राजनीति मे भी दूर रहने लगे।

लडाई के जमाने के इन पुराने दल की कहानी मनोरञ्जक है।

इनमें ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की इतिहास-पूर्ण गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उन्हीं-की सी जिन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) सस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लडाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफ़ान आया उससे विचलित हुए बिना नही रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनो की ओर झुका दिया। लडाई शुरू होने के बाद फ़ौरन ही कुछ और थोडे-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कही ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीज़रलैण्ड से जर्मनी में जा पहुँचे। इन लोगो ने अपनी एक कमिटी बनाली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनो सयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आ गये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफी महत्वपूर्ण हो गई थी। कमिटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार कुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी भावो को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने कौमी मकसदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठावे। वे यह नहीं चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फायदे के लिए अपने को इस्तैमाल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन वे यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ ज़रूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हे जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि हिन्दुस्तान की आज़ादी का जर्मन-सरकार समर्थन करे और इत्मीनान दिलाये कि इस

अहद पर कायम रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि जर्मनी के वैदेशिक दफ्तर ने इन लोगो से बाकायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगो की फतह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी को मजूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लडाई में जर्मनी की मदद करेगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज्ज़त करती थी, और उसके प्रतिनिधियो के साथ करीब-करीब विदेशी राजदूतो की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

खास तौर पर वेतजुर्बा नौजवानो के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्व मिल गया, उससे उनमे से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बडा ऐतिहासिक कार्य कर रहे है, वे बहुत ही बडी और युगान्तरकारी कार्रवाइयो में लगे हुए है। उनमे से बहुतो को बडे रोमाचक साहसो का सामना करना पडा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लडाई के पिछले हिस्से में उनकी अहमियत खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल नही बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनो ही उनको विश्वास-पात्र नही मानते थे। उन्होने उन्हे चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ मे मैं यूरप में था, तब मुझे यह देखकर अचम्भा हुआ कि यूरप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियो के दिलो में हरदयाल के खिलाफ कितनी कटुता और कितनी नाराज़गी है। उन दिनो वह स्वीडन मे रहते थे। मैं उनमे नही मिला।

लडाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह खात्मा हो गया। उन लोगो की तमाम उम्मीदो पर पानी फिर गया

था, जिससे उनके लिए ज़िन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और वे उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाक्यात हुए, उनके बाद तो हर हालत में ज़िन्दगी भारभूत मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को मुँह-माँगे इस तरह की बेफ़िक्री की ज़िन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान में लौट नहीं सकते थे, और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के लिए कोई आराम की जगह थी नहीं। उन बेचारों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान में आने की इजाज़त दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। ज़ाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुतसी मुश्किलें थीं, वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी ज़िन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। रोज़-बरोज़ उन्हें कोई-न-कोई फ़िक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायें और कैसे जियें?

१९३३ के शुरू से नाज़ियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नाज़ियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। अनार्यों और ख़ास तौर पर एशियायी विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नहीं होता। उन लोगों को ज़्यादा-से-ज़्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफ़दार है। इसमें शक नहीं कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है, इसीलिए

वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को गह नही देना चाहता जिसने ब्रिटिश मरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन में हमें जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमें से एक चम्पकरमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दलके एक मशहूर मेम्बर थे। वह कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियो ने उन्हे एक बुरासा खिताब दे रक्खा था। वह सिर्फ राष्ट्रीयता की भाषा में ही मोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी मे उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियो में से थे, जिनकी नाज़ियो से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने खबर पढी कि बर्लिन मे उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आम तौर पर लोग उन्हे चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बड़े मजे के आदमी थे। हमेशा मुसीबतो में रहते। उनके कपडे बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हे अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मजाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नही छोडा। जब मै इग्लैण्ड में पढ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो में दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड मे थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नही लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दुखी होने लगेगे, और यह पावेगे कि यहाँ उनका मेल नही मिलता। लेकिन इतने वर्षो के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफर करने के बावजूद घर का खिचाव

तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैज़िनी 'आत्मा का तपेदिक' कहता था, नही बच सकता।

मै यह ज़रूर कहूँगा कि मुझे दूसरे मुल्को मे जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगो का मेरे ऊपर अच्छा असर नही पडा, यद्यपि मै उनकी कुर्बानियों की तारीफ करता था और जिन वाकई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फँसे हुए थे और उन्होंने जो तकलीफें सही थी और जो सहनी पड रही थी, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मै उनमे से ज्यादा लोगो से नही मिला, क्योकि उनकी तादाद बहुत काफी है और वे दुनिया-भर में फैले हुए है। उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं, बाक़ी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये है और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयो की खिदमत करने की उन्होने कोशिश की वे उन्हे भूल गये है। उनमे से जिन थोडे-से लोगों से मै मिला उनमे वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय[1] के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पडा। राय से मै कोई आध घण्टे तक मास्को में मिला था। उन दिनो वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल ब्रांड के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद के उनके कम्यूनिज्म में फर्क हो गया था। मै समझता हूँ कि

[1] एम० एन० राय बंगाली है और पहले क्रान्तिकारी थे। यहाँ से भागकर वे रूस में बस गये। वहाँ इन्हें कोमिण्टर्न में अग्रगण्य स्थान मिला। कोमिण्टर्न कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल—साम्यवादियों की मुख्य संस्था है। बादको एम० एन० राय उससे हट गये। इसका कारण यह बताया जाता है कि यह मुख्य संस्था बाहर के देशो की संस्थाओं से स्थानिक परिस्थितियों का विचार किये बिना अपनी नीति का कठोरता से पालन चाहती थी। चीन में ये इसी संस्था की तरफ से गये थे। उसके बाद ये हिन्दुस्तान में आये और पकडे गये। अब छूट गये हैं। इनका असली नाम कुछ और ही है। —अनु०

चट्टो वाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलो में पडे हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये है।

इनके अलावा और भी बहुत से हिन्दुस्तानी थे जो यूरप के मुल्को में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियो की जबान में वात-चीत करते, वडे-वडे जीवट की और अजीव वाते सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पडता था कि इन लोगो पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हा, हम बहुत से यूरोपियनो और अमेरिकनो से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार वीलनाव में रोमा रोलाँ को देखने के लिए विला ऑल्गा गये। उनके पास पहली मर्तबा जाते वक्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि और नाटककार की याद भी मै बहुत बहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नाजियो के शासन में वह जर्मन नही रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-सघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक धनगोपाल मुकर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका में बस गये है।[1]

यूरप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान में फ्रैंक बुकमैन से मिला था। यह आक्सफोर्डग्रूप-मूवमेण्ट के हैं। इन्होने अपनी हलचल के सम्बन्ध मे कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ। यकायक मजहब बदल देना या गुनाहो का इकबाल करते फिरना और आम तौर

१. मई १९३६ में अमेरिका में इनकी मृत्यु हो गई—बडी करुण परिस्थिति में। अपनी अनेक पुस्तको में इन्होने भारतीय सभ्यता के उज्वल चित्र खींचे हैं। अंग्रेजी भाषा पर इनका आश्चर्यजनक प्रभुत्व था।
—अनु०

पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धिवाद के साथ मेल नहीं खाता। मैं यह नहीं समझ सका कि जो शख्स ज़ाहिरा तौर पर साफ़-साफ़ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारों का इस हद तक असर कैसे पड जाता है? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ्रैंक बुक्मैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया में उनका जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह सम्मेलन होने वाला है उसमें मैं शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मैं वहाँ नहीं जा सका और नज़दीक से इस नई भावपूर्णता को नहीं देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मैं इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट की बढ़ती की जितनी खबरें पढ़ता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

## : २२ :

## आपसी मतभेद

हमारे स्वीज़रलैण्ड में पहुँचने के बाद फौरन ही इंग्लैण्ड में आम हड़ताल हो गई थी, जिसने मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानो खुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौक़ा मिला। वहाँ कोयले की खानों के मजदूरों की लड़ाई अभी तक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अंधेरे-से में रहता था। एक खान में भी मैं कुछ समय के लिए गया। मेरा खयाल है कि वह जगह डरबीशायर में होगी। मर्दों, औरतों और बच्चों के पीले और पिचके हुए चेहरे मैंने अपनी आंखों से देखे। इससे भी ज्यादा आँखें खोलनेवाली

बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करनेवाले मजदूरो और उनकी औरतो पर मुकामी या देहाती अदालतो में मुकदमे चलते हुए देखे। इन अदालतो के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयलो की खानो के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्ही की अदालतो में मजदूरी का मुकदमा हुआ और उन्हे जरा-जरा-से जुर्मों के लिए कुछ खास तौर पर बनाये गये कानूनो के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुकदमे से मुझे खास तौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे में तीन या चार औरते ऐसी लाई गईं जिनकी गोद मे बच्चे थे। उनका जुर्म था कि उन्होने हड़ताल करनेवालो की जगह पर काम करने जानेवाले मजदूर-द्रोहियो को धिक्कारा था। ये नौजवान माताये और उनके नन्हे-नन्हे बच्चे दु:खी हैं और उन्हे भरपेट भोजन नही मिलता, यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमजोर हो गई थी। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमे उन मजदूर-द्रोहियो के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुंह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

वर्ग-न्याय अर्थात् अमीर श्रेणी के लोग गरीब दर्जे के लोगो के साथ कैसा इंसाफ करते हैं, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बाते पढ़ा करते है, और हिन्दुस्तान मे तो इस तरह के इन्साफो के किस्से रोजमर्रा की बाते हैं। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नही करता था कि इंग्लैण्ड मे ऐसे 'इंसाफ' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन में भारी धक्का लगा। एक और बात जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ यह थी कि हड़ताल करनेवालो में डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमो ने उन्हे बुरी तरह डरा दिया था जिससे वे बेचारे सब बातो को, मैं समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि

एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को ही थी। दूसरे मजदूर-संघों के उनके साथी मजदूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन गरीब हिन्दुस्तानी मजदूरों के मुकाबिले में फिर भी दुनिया-भर का फर्क था। ब्रिटिश खानों के मजदूरों का संगठन तो अभीतक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-भर के मजदूरों की ही नहीं दुनिया-भर के मजदूर-संघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरों को इनमें से एक भी बात नसीब नहीं। लेकिन फिर भी दोनों मुल्कों के मजदूरों की बदकिस्मती, बातों में एक अजीब साम्य दिखाई देता था।

इस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, लेकिन वहां जो घमासान वाग्युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाजें स्विट्जरलैंड में भी पहुंच गईं। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिलों में बाकायदा कौंसिल-पार्टी हो गई थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभीतक मैं नहीं समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फर्क था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिलों की ज्यादातर पार्टियों में कोई असली अन्दरूनी फर्क नहीं है—उतना ही फर्क है जितना ईसाई और ईसाइया के नामों में। कोई उसूल उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौंसिलों में एक नया और जोरदार रुख अख्तियार किया और दूसरों के मुकाबले में वह

ज्यादा गरम नीति से काम लेने की पक्ष-पाती थी। लेकिन यह तो मात्रा का फर्क था, तत्व का नहीं।

नई नेशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूपसे स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहो आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करती थी। प० मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था, क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक प्रदर्शित करती थी। पुराने ताल्लुकात की वजह से वह कांग्रेस में जरूर बने हुए थे, लेकिन उनकी विचार-दृष्टि लिबरलो या माडरेटो के दृष्टि-कोण से ज्यादा भिन्न न थी। कांग्रेस ने असहयोग और सीधी लडाई के जो नये ढग अख्त्यार किये थे, वे उन्हे पसन्द न थे। कांग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बडी इज्जत करते थे और कांग्रेस मे हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल मालवीयजी की कांग्रेस के प्रति आत्मीयता नही रही थी। वह उसकी छोटी कार्य-कारिणी,—कार्य-समिति—के मेम्बर नहीं थे। और वह कांग्रेस के आदेशो पर भी अमल नही करते थे, खासकर उन आदेशो पर जो कौंसिलो के बारे मे दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानो के मामलो मे उनकी नीति कांग्रेस की नीति से जुदा थी। कांग्रेस के प्रति उनको वैसी भावुकता-पूर्ण ममता थी, जैसी किसी एक सस्था से किसीका करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हद तक इसलिए भी उन्हें कांग्रेस से प्रेम था, क्योंकि आजादी की लडाई की दिशा में भी उनकी भावुकता उन्हे खींच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर

नहीं है। इस वजह से उनका दिल अक्सर कांग्रेस के साथ रहता था, खास तौर पर लड़ाई के वक्त में; लेकिन उनका दिमाग़ दूसरे कैम्पों में था। लाज़िमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर लगातार एक अन्तर्द्वन्द्व होता रहता था। कभी-कभी वह एक दूसरे के ख़िलाफ़ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ़, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही बनी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट हैं, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पक्ष के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म के माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुक़ेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। वह सिर्फ़ एक ही तब्दीली चाहते हैं, पर उसे उत्कट दिल से चाहते हैं। वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का क़तई हट जाना। उन्होंने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग़ पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की नवीन और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी०-एच० ग्रीन और जॉन स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विधान के तीन-चार वर्ष पुराने पृष्ठ-भाग से देखते हैं। वह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हज़म करने की अपनी [illegible] के इतिहास में उनका [illegible] आश्चर्य-जनक है। इतनी [illegible] से ही विभिन्न [illegible] में इनके द्वारा [illegible] राजनैतिक [illegible] पैदा होती हैं। गान्धी-[illegible]-विधान जैसी [illegible] स्थापित करने में उन्होंने

पारदर्शक है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही बा-असर है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व मोहक है। इन सब बातो से हिन्दुस्तान के लोगो को, खास तौर पर हिन्दुओ को, वह बहुत प्यारे है, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति मे उनसे सहमत नही है, न उनके पीछे ही चलते है, लेकिन वह उनसे प्रेम तथा उनकी इज्जत जरूर करते है। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के वृद्ध-वशिष्ठ है, लेकिन ऐसे जो समय से पीछे मालूम देते है और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से है। उनकी आवाज की तरफ लोगो का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते है उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही है न उसकी परवाह ही करते है।

इन बातो से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी में शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढी हुई थी, और उसमे काग्रेस की नीति पर डटे रहने का कडा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमें राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो मामलो में मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनो बाते उन्हे उस नई पार्टी में मिल गई जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ मे नही आती कि लाला लाजपत राय क्यो नई पार्टी मे शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दाहिनी तरफ और ज्यादा साम्प्रदायिक नीति की तरफ था। उस साल गर्मियो मे मैं जिनेवा मे लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बाते वहाँ हुई उनसे तो यह नहीं मालूम पडता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के खिलाफ़ लडाकू रुख अख्त्यार करेगे। यह क्यो हुआ, इस

बात का अभीतक मुझे कुछ पता नही। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट आक्षेप किये थे जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन मे क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर इल्जाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगो के साथ साज़िश कर रहे हैं। उन्होंने एक यह भी इलज़ाम लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होने कुछ साज़िश की है। मेरा ख़याल है कि उन्होंने अपने इन आक्षेपों की बावत कोई ख़ास बात कभी नहीं बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफ़सील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैण्ड में हिन्दुस्तानी अख़बारों में लालाजी के इलज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की कांग्रेस कमिटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने में मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरूआत देशबन्धुदास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नही मालूम था, अब भी नहीं मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलज़ामों की क्या तफ़सील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहांतक कांग्रेस का ताल्लुक़ है इन इलज़ामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफ़वाहों का उन्होंने एतबार कर लिया हो, और मेरा ख़याल है कि हाल्हीं में मौलवी उबैदुल्ला के साथ उनकी जो बात-चीत हुई थी उसका उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालांकि उस वक्त मुझे कोई बात ऐसी ग़ैर-मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त में ग़ैर-मामूली हालत पैदा होजाती है। उनमें एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगों का मिज़ाज बिगड़ जाता है और वे मारामार विचार करने लगते हैं। इन चुनावों में जितना ही

ज्यादा देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढती जाती है, और मेरे मन में उनके खिलाफ एक ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतन्त्री भाव के कतई खिलाफ है।

लेकिन, शिकायतो की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढते हुए साम्प्रदायिक वातावरण को देखकर, नैशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खडा होना लाज़िमी था। एक तरफ मुसलमानो के दिलो में हिन्दुओ की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओ के दिलो में इस बात पर बहुत नाराजगी थी कि मुसलमान उन पर धौंस जमाते है। बहुत से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानो का रुख बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दे नही ठीक कर दूँगा' जैसा है और वे दूसरी तरफ सरकार की तरफ मिलने की धमकी देकर जबरदस्ती खास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ अहमियत मिल गई, क्योंकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओ की हिन्दू-साम्प्रदायिकता मुसलमानो की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लडाकू हरकतो का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानो की यह साम्प्रदायिकता और भी जोर पकड गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में मुल्क का साम्प्रदायिक पारा बहुत चढ गया। खास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसख्यक दल और बहुसख्यक दल के झगडे का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि मुल्क के कुछ हिस्सो में बात बिलकुल उलटी थी। पजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनो की तादाद मिलकर भी मुसलमानो से कम थी। और इन सूबों के अल्पसख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाले बहुसख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानो को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबो में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों

कहिए कि दोनों दलों के मध्य-श्रेणी वाले नौकरी की फ़िराक में लगे हुए लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न होजाय कि नौकरियां मिलने ही न पावें, और कुछ हद तक स्थापित स्वार्थ रखने वाले जमींदारों और साहूकारों वग़ैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायें जिनमें हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज्य-पार्टी को बहुत नुक़सान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये और मुसलमानों की साम्प्रदायिक जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नैशनलिस्ट-पार्टी में जा मिले। जहाँ तक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक़ था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताकतवर मुक़ाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफ़ान के केन्द्र पञ्जाब में उनका बहुत असर था। स्वराज्य-पार्टी या कांग्रेस की तरफ़ चुनाव लड़ने का ख़ास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबन्धुदास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मज़ा आता था। किसी भी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और मुख़ालिफ़ की ताक़त को बढ़ती हुई देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताक़त लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खाईं और दीं। दोनों पार्टियों में से किसी ने भी किसी का कुछ लिहाज़ नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी। उस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नैशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफ़ी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली की राजनैतिक आब को कम कर दिया। राजनैतिक-केन्द्र और भी ज़्यादा नरम नीति की ओर चला गया। स्वराज्य-पार्टी ख़ुद कांग्रेस का दाहिना पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए इसने बहुत-से [illegible] लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से इसकी [illegible] में कमी होगई। नैशनलिस्ट-पार्टी ने और

भी नीचे जाकर उमी नीति से काम लिया। खिताबधारी लोगों, बडे जमींदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगो का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगो का भला राजनीति से क्या ताल्लुक ? उस साल १९२६ के अखीर में हिन्दुस्तान मे एक भारी दुखद घटना से अन्धेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगो को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चारपाई पर पडे हुए थे, एक मजहब के अन्धे ने कत्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखो की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियो का सामना किया था उसकी ऐसी मौत ! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्य समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओ और मुसलमानो की एक बहुत बडी जमात को एके का और हिन्दुस्तान की आजादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड ने 'हिन्दू-मुसलमानो की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियो में उन्होने उस ध्वनि को अपने खून की एक शामिल मुहर लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा !

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ सहने और मौत तक की परवाह न करने वाली हिम्मत का, मैं हमेशा से प्रशंसक रहा हूँ। मेरा खयाल है कि हममें से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, भव्य मूर्ति, सन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आखे

और चेहरे पर कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर आनेवाली चिड़-चिड़ाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ? अक्सर वह मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

## : २३ :

## ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर में मैं इत्तिफ़ाक से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि हाल ही में ब्रसेल्स शहर में पददलित क़ौमों की एक कान्फ्रेन्स होने वाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि कांग्रेस को ब्रसेल्स-कांग्रेस में हिस्सा लेना चाहिए। कांग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू में हुई। मुझे पता नहीं कि यह खयाल पहले पहल किसको सूझा? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था, जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे मुल्कों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्टदल भी काफ़ी मजबूत था। पददलित क़ौमों में आपस में तथा इन कौमों में और मजदूर उग्र-दलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज़ के खिलाफ़ आज़ादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि उस लड़ाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर काम करने की कोशिश की

की जाय। इग्लैंड, फ्रान्स, इटली वगैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मनी सरकार दूसरी ताकतों के उपनिवेशों और आधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील थे चीनी जो वहाँ की क्यूमिनटॅग-पार्टी के बायें दल (गरमदल) के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने जमाने के जागीरदारी तत्व जमीन में लुढकते नजर आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतों ने भी अपनी तानाशाही आदतों को और घौंस-डपट को छोड दिया था। ऐसा मालूम पडता था कि अब चीन के एके और उसकी आजादी के मसले के हल हो जाने में ज्यादा देर नहीं लगेगी क्यूमिनटॅग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थीं उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताकत बढाना चाहती थी। गालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही, जो दूसरे मुल्को के कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते लोगो से मिलकर काम करते थे, इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्को में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मजबूत कर सके। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर-शत्रु-दलो में नही बँट गई थी। उस वक्त वह बाहर से देखने वाले सब लोगो को सयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्यूमिनटॅग के यूरोपियन प्रतिनिधियो ने पद-दलित कौमो

की कान्फ्रेंस करने के खयाल का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस खयाल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्टों से मिलने-जुलते लोग भी शुरू से इस खयाल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेंस के मामले में अलग, पीछे ही रहे। लेटिन अमेरिका[1] से भी क्रियात्मक मदद और सहायता आई, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्य-वाद के मारे कुड़कुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि संयुक्तराज्य के खिलाफ लेटिन अमेरिका के गुट्ट की रहनुमाई करे। इस-लिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहाँ की सर-कार एक सरकार की हैसियत से तो कांग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक तटस्थ दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स में जावा, इण्डो चाइना, फिलस्तीन, सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफरीका के अरब और अफरीका के हब्शी लोगों की कौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मजदूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी जिन्होंने एक युग में मजदूरों की लड़ाइयों में खास हिस्सा लिया था, वहाँ मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहाँ थे। उन्होंने कांग्रेस की कारवाई में काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहाँ कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मजदूर-संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

१ लैटिन अमेरिका अर्थात्-मैक्सिको, ब्राजिल, बोलिविया, इत्यादि अमेरिकन प्रदेश—जहाँ लैटिन भाषा से निकली भाषा में बोलने वाले लोग योरप से जाकर बसे हैं, जैसे—फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश, पोर्चुगीज लोग। —अनु०

जार्ज लेन्सवरी उस कांग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होने बहुत ही जोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि काग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टो के साथ जोड दिया था। लेकिन इस बात में कोई शक नही कि वहा एकत्र लोग कम्यूनिस्टो के प्रति मित्र-भाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टो में कई बातो में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थी जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहाँ जो स्थायी सस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग कायम की गई उसका भी सभापतित्व लेन्सवरी साहब ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हे अपनी इस जल्दवाजी पर पछताना पडा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियो ने उनकी इस बात को पसन्द नही किया। उन दिनो यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही वढकर 'सम्राट्-सरकार' बनने को था। अब भला मन्त्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति मे कैसे पैर फँसा सकते थे? मिस्टर लेन्सवरी ने पहले तो काम में बहुत मशगूल रहने का वहाना करके लीग की सदारत से इस्तीफा दे दिया, वाद को उन्होने उसकी मेम्बरी भी छोड दी। मुझे इस बात से बहुत अफसोस हुआ कि जिस शख्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैने इतनी तारीफ की थी उसमें यकायक ऐसी तब्दीली हो गई।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के सरक्षक है। उसमें एक तो आइस्टीन[1] साहब है और दूसरी श्रीमती सनयातसेन,[2] और मेरा खयाल है कि रोमा रोलाँ[3] भी। कई महीने बाद

१. सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, जो यहूदी होने के कारण अमेरिका में देश निकाला भोग रहे है। २. स्वतन्त्र चीन के प्रथम प्रमुख की विधवा पत्नी। ३. सुप्रसिद्ध साम्राज्य-विरोधी फ्रेंच विद्वान्। —अनु०

आइन्स्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया, क्योंकि फ़िलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रुसेल्स-कांग्रेस के बाद लीग की कमिटियों की कई मीटिंगें वक्तन्-फवक्तन भिन्न-भिन्न जगहों में हुईं। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मजदूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुँचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी क्योंकि उनसे मेरा कोई ज़ाती ताल्लुक़ नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं। दूसरी[1] इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल नाम की मजदूरों की जो दो दुनिया हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी के साथ थी। लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में

१. अखिल यूरप के श्रम जीवियों के संघ के ये नाम हैं। पहला संघ जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था वह नाममात्र का था। दूसरा संघ १८८९ में स्थापित हुआ उसमें जोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूंजी-पति राज्यतन्त्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये १९१४-१८ के महायुद्ध में यों ही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविक लोगों ने तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ स्थापित किया। इस संघ की कार्यप्रणाली क्रान्तिकारक है। इसका प्रधान उद्देश है—संसार से पूंजी-शाही का नाश और श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप की स्थापना करना। दूसरे संघ सुधारक और यह क्रान्तिकारक माना जाता है। —अनु०

इस इंटरनेशनल के सबसे जबर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीको का जाती तर्जुबा हो चुका था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बावत मेरा खयाल अच्छा हो गया, क्योकि उसमे कितने भी ऐब क्यो न हो, कम्यूनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तो की वजह से नही था, क्योकि मै कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातो की बावत ज्यादा नही जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातो तक ही महदूद थी। ये बाते और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टो से मै उनके डिक्टेटराना ढग तथा उनके नये लडाकू और कुछ हदतक अशिष्ट तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हो उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतो की वजह से चिढ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओ की-सी, अमीराना, तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियो की बैठको मे बहस के छोटे-छोटे मामलो में मै मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरो की तरफ रहता था। किस तरीके से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगो के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मै और वे लोग ऐसी सब तजवीजो के खिलाफ थे जो लम्बी-चौडी और आलकारिक हो और जो घोषणापत्रो जैसी मालूम पड़ती हो। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी-सी चीज चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशो की परम्परा इसके खिलाफ थी। अक्सर कम्यूनिस्टो में और गैर-कम्यूनिस्टो में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे।

इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियों की मीटिंगों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ़ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अगूर' ने अपनी एक किताब में इस कान्फ्रेंस का कुछ सनसनीदार और कहीं-कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। ग़ालिबन खुद कांग्रेस में खुफ़ियाओं की भरमार थी। बहुतसे प्रतिनिधि भी कई खुफ़ियादलों के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मजेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ्रांस की खुफ़िया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीके से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन सज्जन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूं। अमेरिकन ने उन्हें बड़े गौर से देखा, लेकिन उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहां देखा। तब खुफ़िया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वग़ैरा सब बिलकुल काले कर लिए थे।

२

साम्राज्य-विरोधी-संघ की एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक खत्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि, चलो, नजदीक ही डुसेलडॉर्फ़ में सेक्को-वेन्ज़ेटी[1] के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है उसमें चलें। जब हम उस सभा से वापस

१. दो इटालियन मजदूर-कार्यकर्त्ता जिन्हें अमेरिकन सरकार ने झूठे मुकदमे चलाकर फांसी की सजा दी थी। सारे मजूर-संसार में इस घटना से भारी खलबली मची थी।

आरहे थे तब हममे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पास-पोर्ट दिखाइये। हममें से ज्यादातर लोगो के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मै अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल मे छोड गया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ तो सिर्फ कुछ घण्टो के लिए ही आये थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीवत में मुझे दो साथी भी मिल गये। वे थे एक अग्रेज और उनकी वीवी। ये दोनो भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड आये थे। हमें वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पडा होगा, इस वीच में शायद फोन से सब वाते दर्यापत करली गईं। इसके वाद पुलिसवालो ने हमें जाने देने की महरवानी की।

पिछले सालो में यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है, उसने किसी भी वक्त अपनी अलग हस्ती को नहीं खोया। मै तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रो द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के वीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग वहुत ज्यादा नाराज हो गई और उसने मुझे विलकुल निकाल वाहर किया, या ठीक-ठीक यो कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मै यह मजूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराजी का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियो में मेरे पिताजी यूरप आये। मै उनसे वेनिस में मिला और उसके वाद वे कुछ महीनो तक अक्सर हम लोग साथ-साथ रहे। हम सव लोगो ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी वहन और मैंने—नवम्वर में थोडे दिनो के लिए मास्को की यात्रा की। उन दिनो सोवियट सरकार की दसवी सालगिरह मनाई जा रही थी। हम लोग

मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ़ तीन-चार दिन के ही लिए गये थे, क्योंकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की खुशी है कि हम वहाँ गये, क्योंकि उसकी इतनी झाँकी भी काफ़ी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज्यादा बता ही सकता था न उसने बताया ही, लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये नव सोवियट और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढाँचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अखबार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी-कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। वह एक पुरानी ज़मींदारी का मुक़दमा था जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे में शामिल होने के लिए साइमन साहब के चेम्बर में गया था।

१९२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और यूरप में हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरप, टर्की और मिस्र में भी बिताते। लेकिन उस वक्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन

की छुट्टियो मे होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी वहन व मेरी पुत्री दिसम्वर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्वो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरप में ही रहे।

## : २४ :

## हिन्दुस्तान में वापसी और फिर राजनीति में

यूरप से मैं वहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चगी तो नही हुई थी, लेकिन वह पहले से वहुत वेहतर थी। इसीलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नही रही थी। मै ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लवालव भर गया है, और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व और मनसूवो के विगड जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-विन्दु व्यापक हो गया था और वजात खुद राष्ट्रीयता का मकसद मुझे निश्चित रूप से तग और नाकाफी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आजादी, लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में कदमभर है। जवतक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का वनाव समाजवादी न होगा तवतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक्की कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग हीं। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामलात ज्यादा साफ दिखाई दे रहे हैं। आज-कल की दुनिया को जोकि हर वक्त वदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलो और राजनीति के वारे में ही नहीं लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूव पढ़ा। यूरप और अमेरिका में जो वडे-वड़े

राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरों से अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास यूरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहां से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य में यूरप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होने वाली है, तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को इन विश्वव्यापी घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहांतक हमसे हो सके वहांतक तैयार रक्खें। यह तैयारी ज्यादातर खयालों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली थी कि हमारी राजनैतिक आजादी के मकसद के बारे में किसीको कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय-यही हो सकता है और यह औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उनसे बिल्कुल जुदा है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ वह ज्यादा दूर जा सकेगी बहुत ज्यादा होगा। कांग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है जिसे दूसरे तरीकों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरुआत की जा सकती है। कांग्रेस के बाहर मजदूर-मण्डलों में और नौजवानों में यह [illegible] कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे। इसके लिए मैं अपने को कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना

कि मैं कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवो में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करनें मे विताऊँ। लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओ ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेगी।

हम लोगो के मदरास में पहुँचने के वाद फौरन ही मैं कांग्रेस के भँवर में फँस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पास किये। आजादी के वारे में, लडाई के खतरे के वारे मे, साम्राज्य-विरोधी सघ के वारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव पेश किये। करीव-करीव ये सव प्रस्ताव मजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव वना लिए गये। कांग्रेस के खुले अधिवेशन मे भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पडे और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सव-के-सव करीव-करीव एक राय से पास हो गये। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज़ एनी वेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इस चारो ओर के समर्थन से मुझे वडी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह खयाल वेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगो ने उन प्रस्तावो को समझा ही नही है कि वे क्या हैं या उन्होने उनके मानी तोड मरोडकर विलकुल दूसरे लगा लिये हैं। कांग्रेस के वाद फौरन ही आज़ादी के प्रस्ताव के वारे में जो वहस उठ खडी हुई उससे यह जाहिर हो गया कि असल मे यही वात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के हस्वमामूल प्रस्तावो से कुछ भिन्न थे। वे एक नये दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे। इसमें शक नही कि वहुत-से कांग्रेसी उन्हे पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हे नापसन्द करते थे लेकिन इतना नही कि उनकी मुखालिफत करे। गालिवन ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव महज़ तात्विक है, उनके पास होने न होने से कोई खास फर्क नही पडता, और उनसे पिण्ड छुडाने का सवसे अच्छा तरीका यही है कि उनको पास कर दिया जाय और और ज्यादा महत्व-पूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनो आज़ादी का

प्रस्ताव कांग्रेस मे उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढते जानेवाले भाव को ही व्यक्त करता था।

गांधीजी मदरास मे ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नही लिया। वह जिस कार्य-समिति के मेम्बर थे उसकी बैठको तक मे भी शामिल न हुए। जबसे कांग्रेस में स्वराज्य-पार्टी का ज़ोर हुआ तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हां, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नही की जाती थी। मुझे नही मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हे वह कहाँ तक पसन्द करते थे। मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ है कि वह उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावो में जो कुछ कहा गया था उसकी वजह से उतना नहीं जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नही की। मेरे पिताजी तो उन दिनो यूरप ही थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक्त ज़ाहिर होगई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बायकाट के लिए अपील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फल स्वरूप यह तजवीज़ की गई कि सब दलो की एक कान्फ्रेंस बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह ज़ाहिर था कि जिन माडरेट दलो का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी, वे आज़ादी की भाषा में कभी विचार नही कर सकते थे। वे तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कॉंग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। इसके कुछ कारण तो जाती थे। उस साल के प्रेसिडेंट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी कि मै ही सेक्रेटरी बनूँ और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए है तब मेरा फर्ज है कि मैं यह देखूँ कि उनके मुताबिक काम हो। यह सच है कि सर्वदल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि काग्रेस सब दलो की कान्फ्रेस के जरिए या दूसरी वजह से कही माड-रेट स्थिति की तरफ, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनो ऐसा मालूम होता था कि काग्रेस दुविधा में पडी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ बढती तो कभी नरमी की तरफ हटती। मैं चाहता था कि जहातक मुझ से हो सके वहातक इस दुविधा में झूलती हुई कॉंग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दू और उसे आजादी के ध्येय पर डटाये रहूँ।

राष्ट्रीय कॉंग्रेस के सालाना जलसो के मौको पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते है। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लि-कन कान्फ्रेंस' नाम का हुआ। इसका पहला (व आखरी) जलसा उसी साल वही हुआ। मुझ से कहा गया कि मै उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह खयाल पसन्द आया, क्योकि मैं अपनेको रिपब्लिकन (प्रजातन्त्र-वादी) समझता हू। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नही मालूम था कि इस कान्फ्रेंस को करानेवाले साहब कौन है और मैं यो ही बरसाती मेढको की तरह पैदा होनेवाली चीजो से अपना सम्बन्ध नही करना चाहता था। अखीर में जाकर मै उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पडा, क्योकि ऐसे बहुत-से

मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेंस भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियां मुझे मिल जायं। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गई। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीज़ें कायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ़ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि खबर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलखां की मृत्यु हो गई। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह इनके अलावा कुछ विशेष भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी ख़ास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने अनुदार तरीक़े से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुग़लों के ज़माने की शाही दिल्ली की संस्कृति में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफ़त को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर और उनके [illegible] मज़ाकों को सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने ज़माने के रईसों के नमूने थे। उनकी नज़र और उनके तौर-तरीक़े शाही थे। उनका चेहरा भी मुग़ल-बादशाहों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और [illegible] परेशान करना शुरू किया [illegible]

परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालो के ज़माने की घटनाओ और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर एम० ए० अन्सारी का असर उन्हे कॉंग्रेस की तरफ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओ ने, पजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफत के सवाल ने, तो उनके दिलपर गहरा असर डाला और वह राजी-खुशी से गाधीजी के असहयोग के नये तरीके के हामी हो गये। कॉंग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई बहुमूल्य खूबियाँ लाये। वह पुराने और नये ढर्रे के लोगो के बीच दोनो को मिलानेवाली कडी बन गये, और उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगो की मदद दिला दी। इस तरह उन्होने नयो और पुरानो मे एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढनेवाली टुकडी को ताकत और मजबूती पहुँचाई। हिन्दू और मुसलमानो को भी उन्होने एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया, क्योकि दोनो ही उनकी इज्जत करते थे और दोनो पर ही उनकी मिसाल का असर पडता था। गाँधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानो के मामले मे उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओ ने मुझपर यह इलजाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फारसी सस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओ के भावो से अनभिज्ञ हूँ। मैं किस सस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई सस्कृति है भी या नही, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदकिस्मती से फारसी जबान को तो मैं जानता भी नही। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फारसी सस्कृति की आबोहवा में बडे हुए थे। यह सस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने

दरबार से विरासत में मिली थी और आज के इन बिगड़े हुए दिनो में भी दिल्ली और लखनऊ उनके खास केन्द्र है। कश्मीरी ब्राह्मणो में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होने उन दिनो यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होने उसे अख्त्यार कर लिया और उनमें फारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होने उतनी ही तेजी के साथ बदलनेवाली व्यवस्था के भी अनुसार अपने को बदल लिया। जब अंग्रेजी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति के अंशो को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होने इन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियो में फ़ारसी के कई-नामी विद्वान् हैं। इनमें से दो के नाम लिये जा सकते है, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूंढ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनो में से सिर्फ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतो में हकीमजी बहुत ही पुराण-पंथी थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नहीं छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा विकट परदा किया जाता था वैसा मैंने कभी कहीं नहीं देखा था। फिर भी हकीम साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरतें अपनी आजादी हासिल न करले तबतक वह मुल्क हरगिज तरक्की नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी की लड़ाई में वहां की औरतो ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही क़ाबिल-तारीफ

समझता हूँ। उनका कहना था कि खास तौर पर टर्की की औरतो की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखाँ के शरीरान्त से कांग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि कांग्रेस का एक सबसे ताकतवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगो को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज की कमी मालूम होती है, क्योकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर मे तरह-तरह की हलचलो की भरमार थी। ऐसा मालूम पडता था कि एक नई प्रेरणा, एक नया जीवन जो तरह-तरह के सभी समूहो मे एक-सा मौजूद था, लोगो को आगे की तरफ बढा रहा है। जिन दिनो मैं देश से बाहर था शायद उन दिनो धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बडी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान जैसा-का तैसा सुप्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१–२२ की मेहनत की थकान दूर नही हुई थी। १९२८ मे वह तरोताजा क्रियाशील और रुकी हुई शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखानो के मजदूरो मे भी और किसानो में भी। मध्यमवर्ग के नौजवानो में भी और आमतौर पर पढे-लिखे लोगो मे भी।

मजदूर सघो की हलचल बहुत ज्यादा बढ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इंडिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके सगठन में ही काफी तरक्की हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हडताले अक्सर होती थी और मजदूरो में वर्ग-चेतना जोर पकड रही थी। कपडे की मिलो में

और रेलों में काम करने वाले मजदूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इन में से भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों की हलचल को कायम हुए देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बँट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इंटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ, सुधारवादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रांतिकारी था तथा आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इनमें समय-साधुलोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जागृति संयुक्तप्रान्त में और खासतौर पर अवध में दिखाई देती थी जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएँ आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानों को हीन-हयाती मौरूसी दी थी और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दुःखभरी जिन्दगी में कोई फर्क नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो इस बड़े पैमाने पर मुकाबला शुरू कर दिया, क्योंकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुजारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान खुद अपनी जमीन के मालिक हैं, जहाँ सरकार सीधे किसानों से मालगुजारी लेती है। यह श्री सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की शानदार विजय हुई, जिसे देखकर

तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा और शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ कायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेंसें की जा रही थीं। ये संघ और कान्फ्रेन्स तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका नियंत्रण किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभायें हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट करदी जाय।

महज राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए और (बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले) सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट में नरम-दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें गजब की कामयाबी हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ-वहाँ विरोधी जन-समूहों ने "साइमन गो बैक" (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका स्वागत किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई बल्कि अंग्रेजी के "गो बैक" ये दो शब्द भी उसे मालूम होगये। बस, अंग्रेजी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान खतम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दों से कमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और

अपनी इसी मज़ाक की वजह से वे चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होस्टल में ठहरे हुए थे तब उन्हें रात के अँधेरे में "साइमन गो बैक" का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के उजड़ प्रदेशों में रहते हैं।

विधान के ख़ास-ख़ास उसूलों के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई। ये उसूल लोकतंत्रीय पार्लमेन्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमत वाली क़ौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेन्स में भिन्न-भिन्न जातियों के तमाम कट्टर-से-कट्टर प्रतिनिधि थे उनमें किसी तरह का राज़ीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंसों की तरह ही थी। पिताजी जो उस वक़्त यूरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त में आख़िरी तरकीब के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुक़र्रर कर दी गई। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए ज़िम्मेदार भी थे।

मैं इस कमिटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का

हो तब तफसीलवार कागजी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचडी कमिटी ने हमारा ध्येय लाजिमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक की ही महदूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर मे तो कमिटी की असली अहमियत इस बात मे थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नही थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगो का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलो की तरफ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनो तरफ के लोगो की काफी तादाद थोडे वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगो का ध्यान दूसरे मसलो की तरफ लग जाता। इसलिए मैंने कमिटी के काम मे रोडे अटकाने के बजाय उसको जितनी मदद मैं दे सकता था उतनी मदद दी।

एक बार तो यह मालूम पडा कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बात तय करने को रह गई थी और इनमें असली महत्वपूर्ण सवाल पजाब का था, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खो का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में पजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढग से गौर किया और उसने इस मामले में जो सिफारिशें की उनकी पुष्टि जन-सख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अको से की। लेकिन यह सब बिलकुल बेकार था। दोनो तरफ डर और शक का राज रहा और दोनों में जो थोडा-सा फर्क रह गया था उसे पूरा करने के लिए दो-एक कदम आगे तक नही बढा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये सर्व-दल सम्मेलन लखनऊ मे हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा में पड गये;

क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से साम्प्रदायिक सवाल के हल होने में किसी क़िस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस बात के लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायें। हमने अर्ज़ किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे, जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करे। कांग्रेस आज़ादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते हैं वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन में आज़ादी चाहनेवालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ़ से सम्मेलन में एक बयान दूँ, जिसमें यह कहूँ कि आज़ादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सब से हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम साम्प्रदायिक समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख अख़्तियार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज़्यादा-से-ज़्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आज़ादी-संघ ( इंडिपेण्डेन्स फ़ार इण्डिया लीग ) क़ायम करके अपने इस रुख को विधेयात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार क़ायम किये गये थे, उनमें अवध के ताल्लुक़ेदारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुक़ों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि

वे नहीं छीने जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नही कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतो मे उनकी मिलकियत के हक़ूक को विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा गैर-कांग्रेसी अपने ही साथियो में सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढे हुए समूह थे उनके मुकाबिले में बड़े-बड़े ज़मीनदारो का साथ पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओ के और हमारे बीच में एक बहुत बडी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मै प्रधान-मत्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफा दे देना चाहा कि मै हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो सघ कायम किया गया है उसके सचालको में से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझ से और सुभाष बाबू से, जिन्होने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग सघ का काम मज़े से कर सकते है, उस काम मे और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नही है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आज़ादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मै फिर राज़ी हो गया। यह बात आश्चर्य-जनक है कि उन दिनो मुझे अपना इस्तीफा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्त्तबा हुई और क्योंकि कोई भी पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के खयाल को पसन्द नही करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गाधीजी ने इन तमाम पार्टियो की कान्फ्रेन्सो और कमिटियो की

मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। यहाँतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहाँ मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच में साइमन कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए "गो-बैक" के नारे लगानेवाली मुख़ालिफ़ भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गई और यकायक मुल्कभर में गुस्से की लहर-सी दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हज़ारों प्रदर्शनकारियों की ओर खड़े हुए थे तब एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ़ से भी किसी क़िस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जबकि वह एक तरफ़ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके बड़े साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख़्स को यह [illegible] रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन क़रीब-क़रीब हमेशा ही बिल्कुल शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस बात को ज़रूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर [illegible] उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढंग से उनपर हमला किया गया [illegible] और [illegible] की [illegible] पाशविकता में [illegible] था। वे दिन वे थे जब हम [illegible] के आदी न थे। [illegible] होने से [illegible] थे। [illegible] [illegible] होना

विलकुल पैशाचिकता मालूम पडी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान मे, एक मूढ क्रोध फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने तुच्छ है, कि हम अपने नेताओ की इज्जत की भी रक्षा नही कर सकते !

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नही लगी, क्योकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गई थी और वह वहुत दिनो से दिल की वीमारी से पीडित थे। अगर ये चोट किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होती तो इतनी घातक न साबित होती। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तो वाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटो का क्या असर पडा, निश्चित रूप से यह वताना तो मुमकिन नही है, हालाँकि उनके डाक्टरो की यह राय थी कि इन चोटो के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस वात में कोई शक नही है कि शारीरिक चोटो से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर वहुत ज्यादा असर पडा। वह वहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गये—इसलिए नही कि उनका जाती अपमान हुआ था, वल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जव उसके कुछ दिनो वाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तव लोगो ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गये हमले से जोडा और इस खयाल से लोगो के दिलो में जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप मे वदल गया। इस वात को समझ लेना जरूरी है, क्योकि इस वात को समझकर ही हम पीछे होनेवाली वातो को, भगतसिंह की कहानी, उत्तरी भारत में भगतसिंह को एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली,

उनको, समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग अच्छी तरह नहीं जानते थे, और उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में करीब-करीब तीस बरस से रह-रहकर अपना काम कर रहे हैं, और बंगाल में आतंकवाद के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवां हिस्सा भी नहीं मिला। यह एक ऐसी जाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ और जाहिर बात यह है कि यद्यपि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी जोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर जोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फलस्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के खयाल के पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक होगये हैं। जिस दर्जे के लोगों में से आम तौर पर आतंकवादी निकलते हैं उस दर्जे के लोगों पर, यानी निचली तरह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी, हिंसा के साधन के खिलाफ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली तबियतें जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब यह पूरी तरह महसूस करने लगी हैं कि क्रान्ति आतंकवाद के जरिये से नहीं होसकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और हानिकर तरीका है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है।

हिन्दुस्तान में और दूसरे मुल्कों में भी अब तो आतंकवाद मरा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ दबाना या जेल में बन्द कर देना भर जानता है, वह जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा के बचपन का द्योतक होता है। वह अवस्था गुज़र जाती है और उसके साथ-साथ अहम घटना के रूप में आतंकवाद भी गुज़र जाता है, मुकामी कारणों या वैयक्तिक ज्यादतियों के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिलाशक हिंदुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कोई शक नहीं कि उसके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी होजानेवाली आतंकवादी घटनायें भी धीरे-धीरे बन्द होजायेंगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमें से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत-से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आसकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए जरूरी होजाय—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे मुल्कों में जरूरी होगया था। आज तो यह सवाल महज़ एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो, आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य के लिए लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इसलिए प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में कौम की इज्जत रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गये। उनके काम

को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गाँव व कस्बे में और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत में उनका नाम घर-घर में गूँजने लगा। उनकी बाबत बेशुमार गीत बने और उन्होंने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में अखिल-भारतवर्षीय काँग्रेस-कमिटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली तकलीफों को वह भुगत रहे थे। वह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आजादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहाँ देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आगया है जब काँग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि आया वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन में कायापलट करने की जरूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों को। इस भाषण में ऐसी कोई महत्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन उसकी इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसमें कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंने एक चेतावनी इस आशय की दी कि हम लोगों को ब्रिटिश मजदूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी, क्योंकि मैं ब्रिटिश-मजदूरों के जो अधिकारी नेता हैं उनका प्रशंसक नहीं हूँ। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई का समर्थन करने या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे आश्चर्य होता।

कांग्रेस-कमिटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने हफ्तेवार अखबार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु होगई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण स्मृति छोड गया है।

## : २५ :

## लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला और बाद में उनकी मृत्यु होजाने से साइमन-कमीशन आगे जहां-जहां गया वहां-वहां उसके खिलाफ प्रदर्शनों का जोर और भी बढ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था, और वहां भी कांग्रेस-कमिटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियां की थी। कई दिन पहले से ही बडे-बडे जुलूस, सभायें और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इनमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारंभिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया, और उन्होंने खास-खास जगहों में जुलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डे और लाठी की मार पडी।

जुलूस, आमद-रफ्त में रुकावट पडने न देने का सबब जाहिर करके,

बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौक़ा न दिया जाय, और, जहाँतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर उन्हें अलग-अलग एकान्त रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्तज़ाम किया। क़ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियों का निकलना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, और एक बड़े फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दोसौ गज ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों के टापों की टपटपाहट सुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेज़ी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फ़ौरन ठीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोड़ों की जुड़ी हुई क़तार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, और स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाजू की तरफ हटे और कुछ तो छोटी दुकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पाटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊँ। वह हिम्मत तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूँ, मुझसे कुछ ही गज की दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने-

आप ही मैं, कम नुमायाँ होने की खातिर, सडक की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पल में होगया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नही देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुडकर देखा कि एक घुडसवार मेरे ऊपर घोडा छोडता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो प्रहार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सतोप हुआ कि मैं फिर भी खडा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सडक रोकने को कहा गया। हमारे स्वयसेवक फिर इकट्ठे हो-गये, जिनमें से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपडियाँ फूटी हुई थी। हममे पन्त और उनका दल भी आ मिला, वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा होगया। एक तरफ तो कई बडे-बडे अफसर इकट्ठे होगये, और दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगो की बडी भीड इकट्ठी होने लगी। आखिरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राजी होगये, और उसी रास्ते से हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुड़-

सवार भी चले, जिन्होंने हमपर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ तफसील से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर खास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक मजबूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी, मेरा दिमाग ठीक-ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा। इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक्त हम विरोधी प्रदर्शन करनेवाले थे।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे अंदेशा था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अखबारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित होजावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करें। मगर उन्हें फिक्र तो हुई। और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के क़रीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ होगई, और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सवेरे क़रीब ५ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह क़रीब-क़रीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उमड़ न सकता था, उतना पहले दिन की घटनाओं से उमड़ गया, और सूरज उगने

से भी पहले वडी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ हिस्सो से वेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफिस से वडा जुलूस चार चार की लाइन मे रवाना हुआ, जिसमे कई हजार आदमी थे। हम वडे जुलूस मे थे। ज्योही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने करीव आध मील लम्वा और इतना ही चौडा वडा भारी खुला मैदान था (यहाँ अव नया स्टेशन वन गया है) और उस मैदान की एक बाजू पर हमें कतार से खडा कर दिया गया। हमारा जुलूस वही खडा रहा, हमने आगे वढने की विलकुल कोशिश नही की। उस जगह सव दूर पैदल और घुडसवार पुलिस और फौज भी आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशवीनो की भीड भी वढ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान में जा खडे हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुडसवारो की दो या तीन लम्वी लाइने थी, जो सारे मैदान को घेरे हुए थी और हमारी तरफ दौड रही थी, और मैदान में जो कई लोग जा खडे हुए उन्हे मारती-कुचलती हुई आ रही थी। घोडे को छोडते हुए सवारो का हमला एक वडा अच्छा दृश्य था, वशर्ते कि रास्ते में खडे हुए वेचारे वेखवर तमाशवीनो के साथ, जो घोड़ो के पैरो-तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाकया न होजाता। इन हमला करनेवाली लाइनो के पीछे वे लोग जमीन पर पडे हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नही सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे। उस मैदान का सारा नजारा रणक्षेत्र का-सा होगया था। मगर उस नजारे को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमे ज्यादा वक्त नही मिला; घुडसवार फौरन हमारे ऊपर आगये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खडे हुए लोगो से एक ही छलांग में टकरा गई। हम वही डटे रहे, और चूँकि हम हटते हुए नही दिखाई दिये, उन्हे उसी दम

घोड़ो को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरो पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरो पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार दोनो की मार और लाठियाँ खटाखट पड़ने लगी। वह बहुत भयकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मुझे अँधेरी आ गई और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी मुझको आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोड़े पर खुद चढ़ जाऊँ। वह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा, मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ से कुछ भी मुक़ाबिला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना होजायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायँगे।

हमें वह समय भयकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ कुछ ही मिनटो का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बगैर, पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनो तरफ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया, जिससे मुझे बड़ी झुझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियो ने, यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीब एक सौ फीट पीछे फिर कतार में खड़े होगये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे

पचास फीट के फासले पर एक लाइन में खड़ी होगई। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर करीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडो या प्रदर्शन करनेवालो से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही, हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ्तर आये, और वहाँसे अलग-अलग चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता मे मेरा इन्तजार कर रहे थे।

अब जब सामायिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। जिस्म का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अधी चोटो और मार के निशान होगये थे। मगर खैर थी कि मेरे किसी नाजुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत न थे। उन्हे बुरी तरह चोटें आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छ फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक्त जो चोटें उनके आई उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हे इतना दर्द और तकलीफ रही कि वह कमर भी सीधी नही कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त की ताकत का कुछ ज्यादा घमण्ड हो-गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिस-वालो, खासकर अफसरो, के चेहरो की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टो ने की, हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन चेहरो में हिकारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और उनमें हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफरत-

भरे होंगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग में कोई प्रेम भर नहीं गया होगा, और न हमारे चेहरों पर सद्भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमें कोई शिकायत न थी, हमारा कोई जाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और जो हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमागों पर बड़ी खूबी से कब्जा करके हमारी अभिलाषाओं और राग-द्वेषों को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किस लिए करते हैं या कहाँ चले जा रहे हैं? कार्य की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किस लिए किया जा रहा है?—किस मकसद के लिए?

## : २६ :

# ट्रेड यूनियन कांग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। कांग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मंत्री की हैसियत से मैं उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने में लगा रहा। खासतौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ खींचूँ। मुकम्मिल

आज़ादी के सिलसिले मे मदरास में हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी पुष्ट रखना था। खासतौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगो को पीछे खीचने की तरफ था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफर किया और कई बडी-बडी आम सभाओ में व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ में मै चार सूबो की राजनैतिक कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पजाब, दिल्ली और सयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बगाल में मै युवक-सघो और विद्यार्थियो की कान्फ्रेन्सो का सभापति बना। समय-समय पर मै सयुक्तप्रान्त के देहात में भी गया और कभी-कभी कारखानो के मजदूरो की सभाओ मे भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानो मे सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतो के मुताबिक बदल जाता था, और जिन बातो पर मै जोर देता था वे उस तरह की होती थी कि जिस किस्म के लोग सभाओ में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आज़ादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आज़ादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले राजनैतिक आज़ादी हो। खास तौर से काग्रेस के कार्यकर्ताओ और पढे-लिखे लोगो में मै समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था। क्योकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ थे और यही ज्यादातर निहायत सकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानो में प्राचीन काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियां पहुँचाई है। हमारे लोगो को घोर कष्ट सहने पड रहे है, हमारे ऊपर दूसरो का राज्य रहना बडी बेइज्ज़ती की बात है, इसलिए हमारी क़ौमी

उसका [illegible] कि हम [illegible] कि हम [illegible] मातृभूमि की [illegible] थी। वे [illegible] चित थी। [illegible] हिन्दुस्तानी [illegible] थी। मेरे मन में भी [illegible] कल्पना [illegible] था, और मैं उसमें गद्गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तान [illegible] भी पुराने ज़माने का अन्धा प्रशंसक कभी नहीं था। लेकिन यद्यपि इसमें सच्चाई ज़रूर थी, फिर भी [illegible] में वे बातें और [illegible] होती जाती थीं और इसके साथ-साथ पुराने [illegible] का नतीजा यह होता था कि हम असली [illegible] ज़्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर [illegible] पाते थे। इन बातों से जोश ज़रूर आता था, लेकिन उनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहाँ बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये, वहाँ मैं तो बहुत-सी तकलीफ़ के साथ कदम-कदम आगे बढ़ा। विचार-धारा की दृष्टि से मज़दूरों की ट्रेड यूनियनों का आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज़्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर १९२७ में यूरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत-से थे। ये लोग ज़्यादातर स्वप्नदर्शी थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स[1] के उसूलों का

१. जीव-दया और मानवदया की दृष्टि से समाज-व्यवस्था को सुधारने की इच्छा रखनेवाले तो प्रत्येक युग में होते हैं। मार्क्स के पहले भी थे। वे यह कहते थे कि ग़रीबों पर दया करना अमीरों का कर्तव्य

असर बढता जाता था और उनमें से कुछ तो अपनेको सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान मे भी, सोवियट यूनियन में जो कुछ हो रहा था उसमे और खासकर पाँच-साला योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मेरा महत्व सिर्फ इस बात में था कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस मे बडे ओहदो पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस-कमिटी में पाई जाती थी, जिसमे हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्य-क्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में जमींदारी और ताल्लुके-दारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमें जिस सवाल का सामना करना पडा वह था ज़मीन का सवाल। हम लोगो ने ऐलान किया कि मौजूदा जमींदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच में किसी दूसरे की कोई ज़रूरत नही है। हम लोगो को फूंक-फूंककर कदम रखना पडा, क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के खयालात की आदी नही थी।

इसके बाद, १९२९ में, युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस-कमिटी एक कदम और आगे बढ गई और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढग

---

हैं। क्योकि उन्हें ईश्वर ने धन-दौलत दी हैं। लेकिन मार्क्स ने बताया कि गरीबो की गरीबी में ही क्रान्ति के बीज हैं, इनकी गरीबी पूंजीवाद और मुट्ठीभर लोगो के धन को अन्यायी सिद्ध करती है। उनकी गरीबी ईश्वर प्रदत्त नहीं है, बल्कि एक निश्चित सामाजिक परिस्थिति का परि-णाम है। इस परिस्थिति में क्रान्ति भी की जा सकती है, जबकि गरीब वर्ग बलवा करदे। पुराने समाज-सुधारक आदर्शवादी समाज-सुधारक कहे जाते हैं; मार्क्स और उनके अनुयायी वैज्ञानिक समाजवादी कहलाते हैं।

—अनुवादक

पर अ० भा० कांग्रेस कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जब १९२९ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमें युक्तप्रान्त की तजवीज़ का दीबाचा मंजूर कर लिया गया और इस तरह उस तजवीज़ में समाजवाद का जो उसूल मौजूद था वह भी मंजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज़ में जो तफ़सीलवार कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठकों के लिए मुल्तवी करदी गई। ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० कांग्रेस-कमिटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावों को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से साम्यवाद की चर्चा कांग्रेस में एकाएक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० कांग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बरों ने शायद यह महसूस नहीं कर पाया कि वे क्या कर रहे हैं?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' ( हिन्दुस्तान की आज़ादी चाहनेवालों का संघ ) की संयुक्तप्रान्त वाली शाखा में सूबे के ख़ास-ख़ास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह साम्यवाद की तरफ़ और कांग्रेस-कमिटी ने, जिसमें सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'स्वाधीनता-संघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मजबूत बनाकर यह चाहते थे कि आज़ादी और समाजवाद का प्रचार करने में उस संगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हद तक संयुक्तप्रान्त को छोड़कर और कहीं संघ का कार्य ठीक तौर से नहीं चला और इससे मुझे बहुत मायूसी हुई। इसका सबब यह नहीं था कि

देश में हमारे मददगारों की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूंकि कांग्रेस ने कम-से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कांग्रेस के संगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगो ने शुरू-शुरू में आजादी-संघ कायम किया उनमें से कुछ ने गंभीरता-पूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मजबूत बनाना है, वे तो यह समझते थे कि यह संस्था तो महज इसलिए है कि कांग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पड़ता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाय। इसलिए 'आजादी-संघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज्यादा लड़ाकू होती गई त्यो-त्यो उसने तमाम गति-मानतत्वों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमजोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर गायब हो गया।

१९२८ के पिछले छ महीनो में और १९२९ में मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और जानकार दोस्तों से मुझे जो निजी चेतावनियां मिला करती थी उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक किस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूं। मुझे खास तौर पर कोई दूसरी चिन्ता न थी, क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामों की निश्चित जिन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊं

इतना ही कहना है। और मेरा ख़याल है कि कुछ मिज़ाज में इस ख़याल का आदी होने से मदद हुई। मेरे स्वभाव ने भी इस ख़याल के आदी होने में कामयाबी हासिल की, क्योंकि जितनी शोहरतें मुझे मिली उन्हें उनसे बहुत कम मिली। इसलिए, जब-जब मैं गिरफ़्तार हुआ तब-तब मुझे उसमें कोई ख़ास बात मालूम नहीं हुई। हाँ, अगर मैं एकाएक गिरफ़्तार होने के ख़याल का आदी न होता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ़्तारी की वजह से नुक़सान-ही-नुक़सान न था, फ़ायदा भी था। उन्होंने मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कुछ उलझन और एक उलझन पैदा कर दी। आज़ादी का हरेक दिन बेशक़ीमती मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफ़े में मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भर काम करता रहा और आख़ीर में मेरी गिरफ़्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। इसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें क्षणस्थायिता की काफ़ी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ, जो थोड़े दिनों के लिए वहाँ आया है। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है। यह आशंका तो हर वक़्त बनी रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यों-ज्यों १९२८ का अख़ीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नज़दीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग़ उस वक़्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था, क्योंकि मैं आज़ादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राज़ी न था। इस बात पर वह नाराज़ थे। इस मामले पर हम

लोगोंने बहुत बहस नही की। लेकिन हम दोनो के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ जा रहे हैं। मत-भेद तो हम लोगो मे इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षो मे रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौके पर हम लोगो में इतनी तनातनी नही हुई जितनी की इस वक्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुखी थे। कलकत्ते मे तो मामला इस हद तक बढ गया कि पिताजी ने यह बात साफ-साफ कर दी कि अगर कांग्रेस मे उनकी बात नही चली, यानी अगर कॉंग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष मे जो तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मजूर नही किया, तो वह काग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीका अख्तयार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके बहुत-से उन मुखालिफो के लिए वह बहुत-ही परेशानी की बात थी जो यह नही चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ जाय। मेरा खयाल है कि काग्रेस मे और दूसरी सस्थाओ मे भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते है, लेकिन खुद जिम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की जिम्मेदारी हमारे सिर नही पडेगी। जहाँ जिम्मेदारी हम लोगो को सौंपी ही नही जाती और जहाँ कार्य-कारिणी को न तो हम हटा ही सकते है न उससे जवाब ही तलब कर सकते है, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहाँ विलाशक सीधी मार को छोडकर हमारे पास सिवा नुक्ता-

करने का कोई मार्ग नहीं और वह नुक्ताचीनी ज़रूर खण्डनात्मक होगी, फिर भी अगर हम इस खण्डनात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमें मौक़ा मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और ज़िम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वह महकमे मुल्की हो या फ़ौजी, भीतरी हो या बाहरी। महज़ आंशिक अख्तियार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग फ़ौज के मामले में करते हैं, इस बात का इक़बाल करना है कि हम सरकार का काम नहीं चला सकते। इस इक़बाल से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख़्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामों को नापसन्द करते हैं और इसलिए बड़े ज़ोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन वे इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इंसाफ़ नहीं करता।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी क़िस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बात-चीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है लेकिन आख़ीर में वह गिर गया। ये सब बातें बड़े गोलमाल में डालनेवाली थीं और इनमें शोभा भी नहीं थी। कांग्रेस के खास प्रस्ताव में, जैसाकि वह आख़ीर में पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंज़ूर कर लिया गया, लेकिन इसमें ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक

साल के अन्दर इस विधान को मजूर नही किया तो काग्रेस फिर अपने आजादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी। इसमें कोई शक नही कि यह प्रस्ताव हमें आजादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी मॉग नही की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में काग्रेस में फूट नही होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० में जो लडाई शुरू हुई उसके लिए सब काग्रेसियो को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलो द्वारा बनाये गये विधान को मजूर नही करेगी। सरकार से लडाई होना लाजिमी था, और उस वक्त, मुल्क की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी किस्म की लडाई उस वक्त तक कारगर नही हो सकती थी, जबतक उसे गाधीजी की रहनुमाई न मिले।

मैंने कॉग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुखालिफत मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, ताहम इस बार भी मुझे प्रधानमत्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मत्री पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र मे ऐसा मालूम पडता था कि मैं वही काम कर रहा हूँ जो वह प्रसिद्ध[1] 'विकार आफ ब्रे' करता था। कॉग्रेस की गद्दी पर

१. अपनी ही दिल्लगी उडाकर आनन्दित होने की पडितजी की क्षमता का यह नमूना है। 'विकार आफ ब्रे' सोलहवीं सदी का एक ऐतिहासिक पात्र है। ब्रे के 'विकार' का अपना पद कायम रहे, इस शर्त पर चाहे जैसे विचार बनाने और रखने वाले इस मजेदार 'विकार' के सबध में अॅग्रेजी भाषा में एक प्रशस्ति लिखी गई है। आठवे हेनरी, छठे एडवर्ड, मेरी और एलिजाबेथ इन चारो के राजत्व काल में यह 'विकार'

कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मंत्री बनाया जता था।

झरिया कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचो-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उनके पहले दो दिन मैंने उसमें हाजिर रहकर उनकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चले आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-कांग्रेस में शामिल होने का यह पहला ही मौक़ा था और मैं वस्तुतः एक नया आदमी था, यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मजदूरों में जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता में काफी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बातें ये थीं कि किसी इन्टरनेशनल से नया साम्राज्य विरोधी संघ से और अखिल-विश्व-शान्ति संघ से अपना ताल्लुक जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं? इन सवालों से भी कहीं ज्यादा जरूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनों हिस्सों के दृष्टिकोण में बहुत भारी फ़र्क़ था। एक हिस्सा तो मजदूर-संघ के पुराने लोगों का था, जो राजनीति में माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक

---

रहा था। लेकिन तीन बार इसने अपने विचार बदले, दो बार यह रोमन कैथोलिक बना, दो बार प्रोटेस्टेण्ट हुआ। विकार को तो किसी भी दशा में अपना पद छोड़ना नहीं था, हलवा खाने के लिए वह साधक बनने को सदा तैयार था। पंडितजी को मन्त्रिपद की जरूरत न थी, परन्तु अभ्यास, नीति और परिस्थिति के बदलते हुए भी वह उन्हें नहीं छोड़ना था। —अनु०

की निगाह से देखता था कि उद्योग-धंधों के मज़दूरों और मिल-मालिकों के झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मज़दूरों को अपनी शिकायतें दूर कराने से आगे नहीं जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूंक-फूंककर कदम रखना चाहिए। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मज़दूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मज़दूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टों का या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हां, यह दल उनके नियंत्रण में नहीं था। बम्बई में कपड़ों के कारखानों के मज़दूर इस दल के हाथ में थे। और उनकी रहनुमाई में बम्बई के कपड़े के कारखानों में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में 'गिरनी कामगार यूनियन' नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी जिसका बम्बई के मज़दूरों पर प्राधान्य था। आगे बढ़े हुए दल के असर में एक और ताकतवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों का था।

जबसे ट्रेड यूनियन कांग्रेस कायम हुई है तभी से उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नज़दीकी साथियों के हाथ में रहा है और मज़दूर-संघों के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हीं को है। यद्यपि उग्र दल का मज़दूर जनता पर ज्यादा ज़ोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौका नहीं मिला। यह हालत संतोषजनक नहीं कही जा सकती और न इससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनके आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा

था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कांग्रेस की ताक़त को अपने काबू में करलें। इनके साथ ही साथ मामलों को बहुत ज्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ़ बढ़ रहा था। वह कमज़ोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज्यादातर ख़ुद मज़दूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मज़दूरों को इस्तैमाल करके अपना मतलब गाँठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मज़दूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। ताहम, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मज़दूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और पिछड़ा समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मज़दूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवायें की हैं वे क़द्र के लायक हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहाँ पहुँचा था इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इन घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग़ चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगड़ों से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ओहदेदारों का आगला चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उनका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरम दल वालों ने पेश किया था, खासकर इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौक़ा मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इस-

लिए अगर मै चुनाव के दिन झरिया मे मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मै उन कार्यकर्त्ता उम्मीदवार के मुकावले मे अपना नाम वापस लेलेता। मुझे यह बात खासतौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नही किया और नया-नया ही आया एकाएक सभापति की गद्दी पर पटक दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मजदूर-सघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमजोर है।

१९२८ के साल में मजदूरो के झगडो और हडतालो की भरमार रही। १९२९ में भी यही हाल रहा। बम्बई के कपडो के कारखानो के मजदूर बहुत दु खी और लडाकू थे। उन्होने इन हडतालो की रहनुमाई की। बगाल के सन के कारखानो में भी एक बहुत बडी हडताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानो में, और मेरा खयाल है कि रेलो के मजदूरो मे भी, हडताले हुई। जमशेदपुर के टीन की चद्दरो के कारखानो में तो बहुत दिनो झगडा रहा। यह हडताल मजदूरो ने बहादुरी के साथ कई महीनो तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरो के साथ लोगो की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानो की मालिक थी उसने मजदूरो को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनो साल मजदूरो में बेचैनी के साल थे और मजदूरो की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लडाई के बाद के साल यहा के धन्धो के लिए मौज के साल थे। इन दिनो उन्होने अनाप-शनाप मुनाफा कमाया। सन या रुई के कारखानो ने पाँच या छ साल तक अपने हिस्सेदारो को जो मुनाफा बाँटा वह सौ फीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ सौ फीसदी तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके-सब कारखानो के मालिको और हिस्सेदारो की जेब

में गये। मजदूरो की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मजदूरी मे जो थोडी-बहुत तरक्की हुई, वह आम तौर पर चीजो की कीमतें बढ जाने से बराबर हो गई। इन दिनो में जब लोग धड़ा-धड कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरो में रहते थे और उनकी औरतो तक को कपड़ा भी पहनने को नही मिलता था। बम्बई के मजदूरो की हालत बहुत बुरी थी, लेकिन सन के कारखानो में काम करनेवाले उन मजदूरो की हालत तो बहुत बुरी थी, जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलो से घटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहा बाल बिखरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनगी औरतें महज रोटियो पर काम करती थी, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौडा दरिया लगातार ग्लासगो और डडी की तरफ बहता रहे और उनमें से कुछ हिस्सा कुछ हिन्दुस्तानियो की जेबो में चला जाय।

तेजी के इन सालो में कारखाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरो की हालत पहले जैसी बनी रही और उन्हे कुछ भी फायदा नहीं हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना उतना आसान नही रह गया तब सारा बोझ मजदूरो के सिर पटक दिया गया। कारखाने के मालिक पुराने मुनाफ़े को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हे काफी मुनाफा नहीं होता है तो वह रोज़गार किस तरह चले? इसीके फल-स्वरूप मजदूरो में बेचैनी फैली, झगडे खडे हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हडतालें हुई कि देखने वाले दग रह गये और जिनसे कारखानो के मालिक और सरकार दोनो ही डर गये। मजदूरो के आन्दोलन में वर्ग-चेतनता आने लगी थी और विचार-धारा तथा सगठन दोनो ही दृष्टियो से वह लडाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मजदूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल

एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस मे कोई सम्बन्ध न था, फिर भी कुछ हद तक एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशकारहित नही समझती थी।

मार्च १९२९ में सरकार ने आगे बढे हुए दल में से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओ को गिरफ्तार करके सगठित मजदूरो पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बगाल, युक्तप्रान्त और पजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमे से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टो से मिलते-जुलते और महज मजदूर सघो वाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढे चार वर्ष के करीब चला।

मेरठ के मुल्ज़िमो की मदद के लिए एक सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डाक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगो का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगो को कम्यूनिस्ट समाजवादी आन्दोलन करनेवालो से कोई हमदर्दी नही थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिए बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसीका खून ही चूसकर दिया जा सकता था। हमारी कमिटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नही पडता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनो लगातार मेरठ मे ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलो के पास हम गये वे, मालूम होता है, यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक ज़रिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेंस कमिटियो से भी मेरा

ताल्लुक रहा है—जैसे एम० एन० राय के तथा दूसरे मुकदमों में। हर मौक़े पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक़्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फ़ौजी क़ानून की रू से मुक़दमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हें पूरी फ़ीस दी जाय। यह रक़म बहुत बड़ी थी। उन्होंने इस बात का कोई ख़याल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग हैं जो फ़ौजी क़ानून के शिकार हुए हैं और उनमें उनका साथी एक वकील भी है। इनमें से बहुतों को लोगों को क़र्ज़ लेकर या अपनी जायदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब को फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजुर्बे हुए वे तो और भी दुखदायी थे। हम लोगों को ग़रीब-से-ग़रीब लोगों से तांबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे। और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिल्कुल बेकार मालूम पड़ता था क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मजदूरों के मामले में हम सफ़ाई दें या न दें, नतीजा आख़िर वही होता है। लेकिन मेरठ के मुक़दमे जैसे मुक़दमे में, बिला-शक, सफ़ाई देना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र-डिफ़ेन्स-कमिटी को मुल्ज़िमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुल्ज़िमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफ़ाई भी अलग-अलग क़िस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई ग़ायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाक़ायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलने जा रहे थे उसकी तरफ़ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० में तो हम सबके-सब जेल में बन्द हो गये।

## : २७ :

# विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में आई थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनायें, जलियाँवालाबाग, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्जतियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस बरसों में बहुत घटनायें हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था, संघर्ष का वातावरण तेजी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों में बहुत समय से लोगों की दिलचस्पी न रही थी, सिवा उन मुट्ठीभर लोगों के जो उनके चौके में चक्कर काटा करते थे। ये असेम्बली और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को सत्तापरस्ती और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगों को हिन्दुस्तान की पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना। असेम्बली का आखिरी सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगों का ध्यान गया, १९२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के [illegible] प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में काँटे की तरह खटकते

थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गईं। ऐसी बातो की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओ की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलो के बारे में कोई भ्रम नही रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलो से ज्यादा फायदा नही उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौका आ जावे तो वह उनमें से खुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालाकि उनका दिमाग वैधानिक था और कानूनी तरीको और जाब्तो का आदी था, मगर हालात से मजबूरन उन्हें यही नतीजा निकालना पडा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीके बेकार और फुजूल हैं। वह अपने कानूनी दिमाग को यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नही है, और न दरहकीकत यहा कानून की हुकूमत ही है, जबकि यहा किसी एक व्यक्ति या दल की मर्जी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पडते है उसी तरह, आर्डिनेन्स वगैरा निकल पडते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज होती तो वह बिलाशक विधान के बडे भारी स्तम्भ होते। मगर, जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान में नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहा वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह ज्यादा-ज्यादा चिढ़ने लगे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-कांग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और कांग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे-चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से हरएक प्रान्त को लिया, वह उसके हर जिले और

करीव-करीव हर महत्वपूर्ण कस्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सो मे भी गये। हर जगह उनके लिए लोगो की भारी-भारी भीड जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पडती थी। इस तरह से उन्होने वार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाडो से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होने देख लिया है। मैं नही समझता कि और किसी मनुष्य ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफर किया होगा।

प्राचीन काल मे बडे-बडे भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे और सैलानी तवीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफर का मुकाविला नही कर सकेगा। गाधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्हीसे बन्धे हुए नही थे, वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगो का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोडो लोगो ने उन्हे देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ मे अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त मे आये, और उन्होने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनो तक लगातार रहता, और हालाकि उनके आने पर इससे पहले भी वडी-वडी भीड देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए एकत्र इन भीडो को देखकर ताज्जुव किये वगैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी जिलो मे खास तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियो का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात मे मोटर से गुजरते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फासले पर ही दस हजार से लेकर पच्चीस हजार तक की भीड हमें मिला करती

थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज़्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के, सभाओं में ब्राडकास्टिंग का इन्तज़ाम न था, और ज़ाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे, वे महात्माजी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। गांधीजी अपने पर आवश्यक बोझ न पड़ते देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज़ काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे में उनके साथ न रहा, क्योंकि मेरा उनको कोई खास उपयोग नहीं हो सकता था, और दौरे के दल में मेरे एक के और बढ़ जाने में कोई मतलब न था। यों मजमों से मुझे परहेज़ न था, मगर गांधीजी के साथ चलनेवालों का आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफ़ी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम काफ़ी था, और सिर्फ़ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नज़र आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं ग़ैर-राजनैतिक कामों में लगे रहने से नाराज़ था, और मैं उनके विचारों या आधार कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि मुझे 'दरिद्रनारायण' अर्थात् 'गरीबों के नारायण' या 'गरीबों में रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि इससे वह गरीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अलग रूप में दरिद्रता—गरीबी—का गौरव बढ़ना दिखाई देता था, क्योंकि नारायण खासकर गरीबों का नारायण है, गरीब उसके प्यारे हैं। मैं समझता हूँ कि यह उनकी धार्मिक भावना रही है। मैं इस

वात को पसन्द नही कर सकता था; क्योकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लडकर उसे उखाड फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह वढावा देना चाहिए। इसके लिए लाजिमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को वरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हे मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पडता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीजो की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नही कर सकते थे कि जिसमें सवको जीवन की आवश्यक चीजे भरपूर मिल सके। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में गरीव और अमीर तो हमेशा ही वने रहेगे।

जब कभी मुझे इस वारे में गांधीजी से वहस करने का मौका मिला तभी वह इस वात पर जोर देते थे कि अमीर लोगो को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और हिन्दुस्तान मे, मध्यकालीन यूरप में भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो इस वात को विलकुल नही समझ सका हूँ कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी ?

असेम्वली, जैसा कि मैने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली हो गई थी और उसकी वेलुत्फ कार्रवाइयो मे शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जव भगतसिंह और वी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी मे उस सभा-भवन के फर्श पर दो वम फेंक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नीद खुली। किसीको सख्त चोट नहीं आई, और शायद वम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसे कि मुल्जिम ने वाद में बयान किया था, कि शोर और खलवली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाय।

उनसे सचमुच असेम्बली में और बाहर खलबली मच गई। आतंककारियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफसर को, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर में गोली से मार दिया गया। बंगाल और दूसरी जगहों पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू होगईं। षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चलाये लगे, और नज़रबन्दों की—यानी बग़ैर मुकदमा चलाये और सज़ा सुनाये जेल में रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगों की—तादाद जल्दी बढ़ गई।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुक़दमे में अदालत में पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ लोगों का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में मुल्जिमों के साथ जो वर्त्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर कैदियों ने भूख-हड़ताल करदी। यह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल गया हूँ, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि क़ैदियों, खासकर राजनैतिक क़ैदियों, के साथ आमतौर पर कैसा वर्त्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ्तों तक बढ़ती गई, और इसने सारे देश में खलबली मच गई। मुल्जिमों की शारीरिक कमज़ोरी के सबब से उन्हें अदालत में न ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा क़ानून बनाने का सूत्रपात किया, जिससे मुल्जिम या उनके पैरोकारों की ग़ैर-मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई आगे चला सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी ग़ौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक़्त मैं इत्तफ़ाक़ से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ क़ैदियों से जेल में मिलने की इजाज़त दे दी गई, और मैंने इसका फ़ायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली

मुलाकात थी। मैं जतीन्द्रनाथ दास वगैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें गुस्सा नहीं दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बातचीत में बड़ी मृदुलता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, अध्यात्मिक और मृदुल दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्र दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और मुलायम, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही, भूखहड़ताल के इकसठवें रोज, मर गया।

भगतसिंह की खास हसरत अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ ज़िला-वतन कर दिये गये थे, मिलना या कम-से कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसों तक विदेशों में जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये हैं, मगर मुझे खयाल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित खबर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्र दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा होगई। इससे राजनैतिक कैदियों के बर्त्ताव का सवाल आगे आगया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारों के फल-स्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियों के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नज़र आई, मगर असल में कुछ भी फर्क नहीं पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योंही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस कमिटियाँ कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए

अध्यक्ष चुनने के काम में लग गई। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में करीब-करीब एकमत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने की इस इच्छा से, वास्तव में, कांग्रेस के नेताओं मे उनका पद और ऊँचा नहीं होजाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूंकि लड़ाई अनक़रीब है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हींके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस के 'विधियुक्त' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय? इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालांकि उन्होंने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजाइश मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आखिरी फैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गई, और आखिरी घड़ी तक करीब-करीब हम सभीका यह खयाल था कि वह राजी होजायेंगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आखिरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौंचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा में, बदर्जे लाचारी, उन्होंने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे पहले कभी इतनी झुंझलाहट और जिल्लत महसूस न हुई, जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे इस इज्जत बड़ी

जाने का—क्योंकि यह एक बडी भारी इज्जत की बात है—अहसास न हो, और अगर मै मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज्जत तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी नही मिली, मै तो गोया किसी पोशीदा रास्ते से आखडा हुआ और अचानक लोगो को मुझे मजूर कर लेना पडा। उन्होने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे करीब-करीब यह महसूस हुआ कि मै इस इज्जत को लौटा दूं। मगर खुशकिस्मती से मैने अपने भावो को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहांसे चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नही करते थे, मगर वह मुझे तो काफी ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हे खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे खिलाफ कुछ कह नही सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बडी इज्जत और जिम्मेदारी की बात थी, और यह चुनाव खुसूसियत इसलिए रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आरहा था। यह अक्सर कहा गया कि मै कांग्रेस का सबसे कम-उम्र सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस की थी। मगर यह गलत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी करीब-करीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आजाद की (हालाँकि वह मुझसे कुछ बडे है) उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जबकि वह सभापति बने थे। मगर गोखले जबकि वह ३५–४० के

अन्दर ही थे, तब भी योग्यता के लिहाज से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आजाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बड़ा विद्वान् होने का इल्जाम भी किसीने नहीं लगाया, इसलिए मैं बड़ी उम्र के होने के इल्जाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये हैं और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा देता है।

लाहौर-कांग्रेस नजदीक आती जाती थी। इस बीच घटनायें एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताक़त से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा भाग था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ़ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक क़दम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। इस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कईको तो यह साफ़ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नहीं पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फ़ौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ्रेन्स' बुलाई गई, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गांधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वग़ैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति

से एक सयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ, जिनके बारे में लिख दिया गया कि ये जरूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएँ, मजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मजूर कर लेती तो सहयोग दिया जाता। ये शर्तें[1] काफी वजनदार थी, और उनसे कुछ तो फर्क होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलो के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मजूर किया जाना एक बडी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच मे एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊँची चीज थी। मगर उसमें एक घातक पकड भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हे सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नही होसकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थी। यह बात कांग्रेस-कार्य-समिति-की एक बाद की बैठक में साफ करदी गई और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज् सिर्फ अगली कांग्रेस तक के लिए ही है। मगर नरमदलो के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा माँगे थी, जिनका बयान किया जाना अच्छा था मगर जिनपर इतना-जोर नही दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि से

१. शर्तें ये थीं :—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के लोगो का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियो की आम रिहाई हो।

४—अभीसे आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहाँ-तक मुमकिन है, उपनिवेश-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।

वे शर्तें महत्त्वपूर्ण कहलाते हुए भी वास्तव में कोई शर्तें नहीं थी। और बाद में हुआ यह कि, जबकि इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज्यादातर लोग बीसियों हजार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े हुए थे, उस वक्त, हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमें जेल में डालने-वालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हदतक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कांग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एकतरफा सहयोग देने की आदत से बाज आयेंगे। हम कई लोगों की निगाह में तो, जो इस समझौतावादी प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, उनका ज्यादा जबरदस्त कारण यह था कि इससे हमारे कांग्रेस के लोगों को आपस में एक बनाये रखा जाय। एक बड़ी लड़ाई की शुरूआत में हम कांग्रेस में फूट डालना बरदाश्त नहीं कर सकते थे। [illegible] मालूम था कि हमारे [illegible] और इस तरह हमारी स्थिति और भी [illegible], और [illegible] मालूम था [illegible] । [illegible] था। [illegible] कि [illegible] सहयोग [illegible]।

कोई सारभूत चीज़ न थी, जिसके बगैर हमें कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा मे पड गया और मैंने वक्तव्य पर दस्तखत नही किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित रूप से दस्तखत करने से इन्कार कर दिया), मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मै नरम पड गया और मैंने दस्तखत कर दिये। मगर फिर भी मैं बडी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नही समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं विक्षुब्ध तो काफी होगया था। फिर गांधीजी का एक सान्त्वनाप्रद पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से अन्त को मैं शान्त होगया।

लाहौर कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढने की एक आखिरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नही मालूम कि इस मुलाकात के इन्तज़ाम में पहला कदम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खास तौर पर किया होगा। इस मुलाकात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे खयाल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। समझौते का कोई सम्भव आधार हाथ न आया, और [illegible] कि दोनों [illegible]

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आखिरी हफ्तों में मुझे एक-दूसरे क्षेत्र में भी जरूरी काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही गैरमामूली बात थी एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही, कुछ हफ्तों के अन्तर पर, सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊँगा, और दोनों को ज्यादा नजदीक लेआऊँगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय होजाये और संगठित मजदूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवादी और श्रमिक-पक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालाँकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यम-वर्गीय है, फिर भी देश में वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताक़त है। इस हालत में मजदूर-वर्ग को उसको मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर में लाना चाहिए, मगर साथ ही उनको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग कायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि जैसे-जैसे घटनायें बढ़ती जायँगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाजिमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी और सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को अपने हाथ में लेती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गाँवों की तरफ बढ़ा है। अगर इसी तरफ इसका कदम बढ़ता रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वर्ना ऐसा संगठन तो हो ही जायगा जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। संयुक्तप्रान्त की कई जिला-कमिटियों में इस वक्त भी

किसानो की तादाद में बहुत थी, हालांकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरो के निरन्तर संघर्ष का राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन कांग्रेस (टी० यू० सी०) के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर वह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगो के हाथो मे है और उसपर शहरवालो का कब्जा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नही हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कांग्रेस को सगठित मजदूर-वर्ग के नजदीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त मे तो हमने प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी में ट्रे० यू० का० की प्रान्तीय शाखा मे प्रतिनिधि चुनाये थे। कांग्रेस के कई लोगो ने भी मजदूरो की हलचलो में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मजदूरो के कुछ आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कांग्रेस से [illegible] थे। वे इसके नेताओं पर अविश्वास रखते थे और [illegible] को [illegible] और प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से [illegible] था। जैसाकि इसके भाग मे जाहिर होता है, कांग्रेस [illegible] राष्ट्रीय [illegible]।

१९२९ ईस्वी मे [illegible] हिन्दुस्तानी [illegible] मे [illegible] नाम [illegible]

इसलिए कि यही राष्ट्रीय कांग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रे० यू० कांग्रेस में ह्विटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बड़ा सवाल बन गया, और इसपर और दूसरे भी कई बहस-तलब सवालात पर बायें पक्ष को कामयाबी मिली। इस कांग्रेस में मैंने बहुत ही कम नुमायाँ हिस्सा लिया। मैं मज़दूर-क्षेत्र में बिलकुल नया था। अभी मैं रास्ता ही ढूंढता रहा था, इसलिए मैं थोड़ा झिझकता रहा। आमतौर पर मैं अपनी राय ज्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ़ ज़ाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ होजाने से अपनेको बचाया। मैंने सचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० कां० के टुकड़े होजाने और एक नये नरम संगठन के क़ायम होजाने में मैं प्रायः एक खामोश तमाशबीन बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलों का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर बायें पक्ष के कुछ नेताओं ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बायें पक्षों के झगड़ों में बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रे० यू० कां० में फूट पड़ने से बचा ली होती, और अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मज़दूर-संगठन के आन्दोलन को एक ज़बरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले ही से हमला

शुरु कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठ वाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिको ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९–३० के जाडे मे ससार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरह से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन सगठन की हालत उस समय बहुत ही कमजोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग के लिए बडी कठिनाई का जमाना आगया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद भी या दूसरे साल एक और टुकडा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेडयूनियन-काग्रेस से अलहदा होगया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान में मजदूर-सघो के तीन सगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी० यू० सी० दल, और एक कम्यूनिस्ट-दल। अमली शकल में ये सभी कमजोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगडो से आम कारीगर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मै इन सबसे अलग था, क्योकि मै तो ज्यादातर जेल में रहा, जब कभी बीच-बीच में मै जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सब में एकता होने की कोशिशे की जा रही है। मगर वे कामयाब न हुईं[1]। नरम दल के यूनियनो के साथ रेलवे कारीगरो के रहने से उनकी ताकत बढ गई। दूसरे दलो के मुकाबले में उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको तसलीम करती थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेंसो के लिए उनकी सिफारिशो को मजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ खिंच गये और वे अपने साथ अपनी यूनियन को भी उधर खींच ले गये।

१. इसके बाद ट्रेड-यूनियनो में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और मुख्तलिफ दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

: २८ :

# पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ खिची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था और उन भीड़-भड़क्के के दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनायें पैदा हुई उनके खयाल से मुझे आनंद होता है। लाहौर के लोगों ने मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, जो लोगों की तादाद और दिल की गहराई दोनों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अथाह उल्लास मेरे लिए व्यक्तिगत नहीं था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही नहीं, बहुत लोगों की आँखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय। मेरे आनंद का पार न था और मैं मानो अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को पार कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसकी कोई अहमियत नहीं है। क्योंकि वहाँ तो बड़े-बड़े सवालात सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के इजहार के ही ठहराव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई का आवाहन करना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की जिन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था, मगर निकट-भविष्य में क्या

होगा, यह तो साफ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियो के लिए लडाई और तकलीफ सामने नजर आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह में गभीरता ला दी थी, और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमने जो हरेक वोट दिया वह अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रो के मिलने-जुलने को विदाई का पैगाम था, और थी एकान्त के दिनो और रातो और शारीरिक और मानसिक कष्टो को दावत।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लडाई चलाने के लिए किये जाने वाले काम के मुताल्लिक खास ठहराव तो करीब-करीब एकमत से पास होगया, कई हजारो में से मुश्किल से बीस आदमियो ने उसके खिलाफ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक छोटे मामले पर हुआ, जो एक तरमीम की शकल मे आया था। वह तरमीम गिर गई और दोनो तरफ की रायो की तादाद जाहिर कर दी गई। खास ठहराव इत्तफाक से इकत्तीस दिसम्बर की आधीरात के घटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुजरकर उसकी जगह नया साल आरहा था, मजूर हुआ। इस तरह ज्योही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई त्योही नया फैसला किया गया और लडाई की तैयारी शुरू की गई। काल का चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नही जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० काग्रेस कमिटी को हमारी लडाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख्त्यार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गांधीजी के हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस मे नजदीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठक में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसो से खान अब्दुलगफ्फारखां हमारे अधि-

वेशनों में आया और हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमाप्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल-भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उनके ताज़ा दिमाग़ों पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह खयाल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज़ बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से नुमायाँ और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक, मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहों से इस्तीफा दे देने को कहा। करीब-करीब सभी एकसाथ बाहर आगये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालाँकि इससे उनके चुनाव के इकरारों की खिलाफवर्ज़ी होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ़ सूझता न था। हालाँकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहाँतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-क़रीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से छब्बीस जनवरी को आज़ादी-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देशभर में आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ

कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओ के इतजार में रहे। जनवरी के शुरू में मै इलाहाबाद में था, मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बडे भारी सालाना मेले, माघ मेले, का वक्त था। शायद वह खास कुभ का साल था, और लाखो स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियो की भाषा में प्रयागराज में, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे। खासकर किसान थे, और मजदूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओ में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मै इस बडी भीड को और नदी पर जाते और आते हुए लोगो की अटूट धारा को देखता तो मै सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के ठहरावो को जानते है या उनकी परवा करते है? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मजबूत था कि जिससे वे और उनके बुजुर्ग हजारो बरसो से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गगा में स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस बेहद ताकत को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नही लगा सकते? या क्या उनके दिमागो में धर्म का अत्याचार और दकियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे खयालात की गुजाइश ही नही रही? मै तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उसमे पहुँच चुके है, जिनसे सदियो की शान्त निश्चितता मे खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारो और आकांक्षाओ की हलचल के जनता मे फैलने से ही पिछले बारह बरसो में बडे-बडे उतार-चढाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारो के अस्तित्व के विषय में और उनकी बड़ी भारी ताकत के बारे मे तो कोई शक ही नही था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खया-

लात कितने फैल चुके है ? उनके पीछे कितनी ताकत है, सगठित काम करने की कितनी काबलियत है, लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है ?

हमारे घर को देखकर यात्रियो के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पडता था, जहाँ पुराने जमाने मे एक विद्यापीठ था। मेले के दिनो में सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर लोग तो कौतूहल से, और जिन बडे आदमियो का नाम उन्होंने सुन रक्खा है उन्हें, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालो मे ऐसे भी बहुत-से-लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, और वे काग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होने वाला है, ये सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए ? हमारे राजनैतिक नारे उन्हें खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हींसे गूँजता रहता था। उस दिन मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस, पचास या सौ आदमियो का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोडे शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे तो मैं चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगे, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगो से भर गये और हरेक दरवाजे और खिडकी मे से बहुत-से लोग हमें झाँकने लगे। कुछ काम करना या बातचीत करना या भोजन करना भी मुश्किल हो गया। इससे सिर्फ परेशानी ही नहीं होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखो से देख रहे थे, जिनमें पीढियो की ग़रीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, और हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा

और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं मांगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता के प्रभाव मे हृदय को अपनी अल्पता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक्त हमारे यहा ठहरी हुई थी। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योंकि चार-चार पाच-पांच मिनट में मुझे आये हुए झुड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पडता था। और बीच-बीच मे हमें बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देता था। मेरी परेशानी में उन्हे कुछ हंसी-सी आई, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझकर कि मैं जनता में बहुत लोक-प्रिय हूं, वह प्रभावित भी हुई। ( सच बात तो यह थी कि लोग खासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूंकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगो के सामने जाना पडता था।) उन्होंने अचानक मेरी तरफ मुडकर मुझसे पूछा, कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फख्र नहीं होता? जवाब देने से पहले मैं थोडा झिझका और उससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिल्कुल जाती सवाल से उन्होंने मुझे परेशानी मे डाल दिया। उन्होंने इसके लिए माफी चाही। इनके सवाल से मुझे परेशानी बिल्कुल नहीं हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूंढना बडा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, खास इलाहाबाद में ही, मैं जनता मे बडा लोकप्रिय हो गया था। पढे-लिखे लोगों में मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो एक प्रकार से मैं वीर—हीरो—बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ रोमांस की आभा दिखाई पडती थी। मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐरी-गैरी कहानी

कहानियाँ घड ली गई थी जिन्हे सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय ज़ाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढग से कहते थे कि मुझमें काबलियत या ईमानदारी की कमी नही है।

शायद किसी महात्मा या बडे भारी हैवान पर ही इन सब बातो का असर नही हो सकेगा। मगर मैं तो अपने को दोनो में से एक भी नही मानता। बस, ये बाते मेरे दिमाग में बैठ गई। उन्होने मुझ पर थोडा नशा चढा दिया और मुझको हिम्मत और ताकत दी। मेरा यह अन्दाज है, (क्योकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है,) कि मैं अपने काम-काज में थोडा एक-तन्त्री और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा खयाल है कि, मेरा गरूर कुछ ज्यादा नही बढा। मुझे खयाल हुआ कि मुझमे भी काफी बातो की लियाकत है और उनके सम्बन्ध में मैं ऐसा नाचीज़ नही हूँ। मगर मै यह भी खूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नही है, और मुझे अपनी कमजोरियो का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने मे मदद दी और इसी से मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओ पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियो के पास रहती है, वह यकीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नही होती। तो क्या मैं अपनी कमज़ोरियो के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणो के सबब से? सचमुच में लोकप्रिय किस कारण से था?

इसका सबब मुझमें दिमागी काबलियत का होना नही था। क्योकि मुझ में दिमागी काबलियत कोई गैरमामूली नही थी और कम-से-कम इसीसे ही लोकप्रियता नहीं मिलती, और 'कुर्बानी' कहे जानेवाले कामो ने भी मेरी लोकप्रियता नहीं दी, क्योकि यह सभी जानते है कि हमारे ही समय में हिंदुस्तान में सैकडो और हज़ारो आदमियो ने मुझसे बेहद

ज्यादा तकलीफें उठाई हैं और आखिरी कुर्बानी तक की है। मैं बड़ा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल झूठी है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नही समझता और जीवन मे वीरो का-सा ढंग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बिलकुल वाहियात बात मालूम होती है। प्रेमशौर्य की अद्भुतता का मुझ मे नाम भी नही है। यह सही है कि मुझमें कुछ शारीरिक और दिमागी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद अभिमान—अपना, अपने खानदान का और अपने राष्ट्र का अभिमान, और किसी के भी दबाव से कुछ न करने की वृत्ति।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नही मिला। तब मै दूसरे ही तरह उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे मे एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपड़े पेरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने इसकी कई बार तरदीद की है, फिर भी यह बात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीब वाहियात बात की कल्पना भी मै नही कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फिजूलखर्ची करे, तो मै समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि तरदीद करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल में पढ़ता था। यह भी कहा है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त मैं जेल मे था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी शोहरत या लोकप्रियता इन या ऐसी कहानियों के बदौलत ही है। इससे ज्यादा मजबूत बुनि-

याद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से जाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहिले मैं बड़े-बड़े लोगों से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था, और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी शोहरत हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणों की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द है, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उनकी दूसरी ही दृष्टि से क़दर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यों में पड़ना चाहते हैं उनमें सख्त आघातों के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना जरूरी है। मगर जीवन की त्यागमय दृष्टि, जीवन के निषेध, उसके आनन्दों और अनुभूतियों से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ़ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज को जिसका मैंने वास्तव में महत्व समझा, जानबूझकर त्याग नहीं किया है, मगर, हाँ, चीजों का मूल्य सब समय समान नहीं रहता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला। क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था। और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनों ही तरह से मुझे तसल्ली नहीं थी। मगर कुल मिलाकर, भीड़ ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूँ, और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस खयाल ने मुझमें उनके दिल और

दिमाग पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का सचार हो जाता था। हालांकि मैं व्यक्तिवादी हूं, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगो के साथ-साथ मुसीबतो में रहना, अलग रहकर बचे रहने की बनिस्वत, अच्छा है। मगर वे दीवारें हटनेवाली न थी, और मैं उन्हींके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखो से इस गम्य घटना की तरफ देखा करता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढती रहती है। यह जिस आदमी पर चढती है उसे पता नही पड़ता कि रोजाना कितनी चढती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटो से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले वर्षों में हमपर इन सख्त चोटो की कोई कमी नही रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बडा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात में भी मैं खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे हैं, जिन्होने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग बिगडने न देने मे मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवो, म्युनिसिपैलिटियो, स्थानिक बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक सस्थाओ की तरफ से अभिनन्दनो और जुलूसो वगैरा से मेरे दिमाग, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बडा बोझ पडता था। इन मौको पर बहुत लम्बी-चौडी और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गभीर और भला बनता था कि इस सबको

देखकर मेरी यह जबरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मै हँस पडूं या अपनी जबान बाहर निकाल दूं या सिरके बल उल्टा खडा होजाऊं, सिर्फ इसलिए कि उस गभीर सम्मेलन में लोगो के चेहरो पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखूं और इसका मजा लूं। मगर खुशकिस्मती से अपनी शोहरत के सबब से, और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गभीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आमतौर पर ठीक औचित्य से ही वर्ताव करता था। मगर, हमेशा नही। किसी-किसी भारी मीटिंग में, या ज्यादातर अक्सर जुलूसो में, जिनसे मैं बहुत परेशान होजाता हूं, मैंने कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान में निकाले जानेवाले जुलूसो को मैं अचानक छोड देता था और भीड में अनजाने शामिल होजाता था। मै अपनी पत्नी को या और किसी को जुलूस की गाडी में ही बैठा छोड देता था।

अपनी भावनाओ को हमेशा दबाये रखने की इस कोशिश और लोगो के सामने किसी खास ढग से बर्ताव करने के कारण दिमाग पर बडा जोर पडता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक मौको पर आदमी गभीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसी लिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक दफा लिखा गया था कि मैं हिन्दू-विधवा की तरह हू। हालां कि मैं पुराने ढग की हिन्दू विधवा की बडी इज्जत करता हूं, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का जाहिरा मतलब यह था कि उसके खयाल से मुझमें अपने-आपको नम्रता-पूर्वक समर्पित कर देने, त्याग, और बिना कभी हसी-मजाक किये हमेशा काम में लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ करता था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेजी है, और मजाक करने और हंसने की योग्यता भी है। और निःसदेह मैं चाहता हूं कि

ये गुण हिन्दू-विधवाओ में भी चाहिएँ। गाँधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था, कि अगर मुझमें विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुद-कुशी या ऐसा ही कुछ कर गुजरता। मै इतनी हद तक तो जाना नही चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्राय असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी में कुछ लोग हँसी-मज़ाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और बडे-बडे मान-पत्रो पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमें (जैसा कि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मानपत्रो मे होता है) बडी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौडी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बडा मज़ाक उडाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियो के लिए जैसे ऊँचे और शानदार लफ्ज़ और अलकाब अक्सर इस्तैमाल होते है, वैसे शब्दो को मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड लेते थे और उनका मौके बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज़ किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्त्ति आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गँभीर सार्वजनिक सभाओ की जहाँ मुझे बहुत शिष्टता का वर्ताव कर दिखाना पडता था, थकावट धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मजाक मे मेरी छोटी-सी लडकी भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थी कि मुझसे अदब का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मज़ाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन नही करती थी। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने विचारो और भावो को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीका रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमो, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्व-जनिक उत्सवो और अनन्त बहसो और राजनीति के घूम-धक्को का मुझ-

पर सिर्फ़ ऊपरी असर होता था, हालाँकि वह असर कभी-कभी तेज़ और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनायें बाहरी परिस्थितियों से झगड रही थीं। मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी। मैं एक लडाई का मैदान बन गया था, जहाँ तरह-तरह की ताकतें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं। मैं इनसे छुटकारा चाहता था। मैंने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूंढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लडाई में कूद पडा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेज़ी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा हुआ यह सब क्यों लिख रहा हूँ? मैं चाहे जेल में होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक संतोष मिल सके।

## : २६ :

# सविनय भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह से उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बडी-बडी सभायें हुई जिनमें बग़ैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गंभीरता से, लोगों ने आज़ादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभायें और जुलूस बडे प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस से आवश्यक बल मिल गया, और जनता की नब्ज़ की ठीक पहचान

१. यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

रखने के कारण उन्होने समझ लिया कि लडाई छेडने का यह ठीक वक्त है। इसके बाद तो घटनायें एक के बाद एक इस तरह घटित होने लगी, जैसाकि किसी नाटक मे रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भग नज़दीक आता गया और लोगो में जोश बढता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरीचौरा के बाद वह एकाएक मुल्तवी कर दिया गया था। तबसे अब देश में अनुशासन ज्यादा था और अब लोग ज्यादा साफ तौर पर समझ गये थे कि यह लडाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हद तक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गाँधीजी अहिंसा पर उत्कट रूप से ज़ोर देते हैं, और यह बात गाधीजी की दृष्टि से ज्यादा ज़रूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगो के दिमागो में शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नही हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साज़िश से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गांधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढग से विचार किया, हालांकि जिस समस्या की उन्हे चिन्ता मालूम होती थी, जहाँ तक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढग की लडाई करना ही उनकी निगाह में सच्चा तरीका था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल

किया जाय तो वही अचूक भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीके को अमल में लाने और कामयाब बनाने के लिए खास तौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर बाहरी हालतें इसके माफिक न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए? इससे भी यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक तरीका हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीका रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीका सार्वभौम भी है और अचूक भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफिक होने पर भी, और झगड़े और हिंसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम में आ सकता है। बदलती हुई हालतों में उसके अमल का ढंग भी बदलना पड़ सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद इस तरीके की विफलता को मान लेना होगा।

सम्भव है वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से नहीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फ़र्क हो गया है, और जब सविनय भंग आवेगा तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नहीं है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरों को बहुत हद तक संतोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय? शुरुआत किस तरह हो? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोकप्रिय हो? इतने ही में गांधीजी ने इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण शब्द, एक बलपूर्ण शब्द, बन गया। नमक-कर पर हमला करना चाहिए। नमक-कानून को तोडना चाहिए। हम हैरत में पड गये। नमक का राष्ट्रीय सग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य में डालनेवाली बात हुई गाधीजी का अपनी ग्यारह बातो[1] का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारो

१. सविनयभग के शुरू होने के पहले लार्ड अर्विन ने एक भाषण दिया था, उसके जवाब में गांधीजी ने 'यग इडिया' में एक लेख लिखकर बताया था कि यदि सरकार कुछ शर्तो का पालन करे तो देश के लिए सविनय भग करने का कारण न रह जाय। वे शर्ते ही ये ग्यारह मुद्दे हैं—

१—सम्पूर्ण मद्य-पान-निषेध।

२—रुपये की कीमत डेट शिलिंग के बदले एक शिलिंग चार पेंस की जाय।

३—लगान पचास फी सदी कम किया जाय और उसे सोलहो आना धारा सभा के अकुश में रक्खा जाय।

४—नमक-कर रद्द किया जाय।

५. सैनिक खर्च कम किया जाय, फिलहाल आधा कर दिया जाय।

६. लगान कमी की पूर्ति बडे अधिकारियो की तनख्वाह पचास फी सदी कम करके की जाय।

७ विदेशी कपडे पर बहिष्कार-कर लगाया जाय।

८ समुद्र-तट पर देशी जहाजो के चलने का कायदा बनाया जाय।

९. हिंसा-काण्ड के अपराध के सिवा शेष सब राजनैतिक कैदियो को छोड दिया जाय, तमाम राजनैतिक मुकद्दमें वापिस लिये जायें, १२४ अ धारा, और १८१८ का कानून रद्द किया जाय और जिन्हें देश निकाला दिया गया है उनका दरवाजा खोल दिया जाय।

१० खुफिया विभाग बन्द कर दिया जाय या लोक-नियत्रण में रक्खा जाय।

११ आत्मरक्षा के लिए बन्दूक आदि रखने का परवाना दिया जाय और इस विषय को लोक-नियत्रण में रक्खा जाय। —अनु०

शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब [illegible] का जमाना आ [illegible] है। मगर किसानों ने तो उसमें [illegible]।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा चढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्राय: हमारे सिरपर आ चुकी थी, आख़िरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे [illegible] नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कां० कमिटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियाँ हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ से कार्य-समिति के गिरफ्तार-शुदा लोगों की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख्त्यारात रखनेवाले अपने अनुगामी को नामजद करदेने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमि

टियो ने भी अपने-अपने सभापतियो को ऐसे ही अख्त्यारात दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जबकि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग कायम हो गये और उन्होने काग्रेस की तरफ से सग्राम का सचालन किया। इनपर भारत-मत्री और वाइसराय और गवर्नरो ने बडी नफरत ज़ाहिर की और वे चीख-चीखकर कहने लगे कि काग्रेस कितनी खराब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरो को मानने लगी है, जबकि वे खुद तो मानो प्रजातन्त्रवाद के पक्के माननेवाले ही थे। कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारो ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभो का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से (क्योकि हम तो जेल मे थे) और हैरत मे होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बल-पूर्वक शासन हो रहा था, जिसमे आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक प्रजातन्त्रवाद की चिकनी-चुपडी बाते कर रहे थे। और क्या मामूली हालत में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कही थी? अग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताकत और हिन्दुस्तान मे स्थापित स्वार्थो की हिफाजत करे और उसकी सत्ता को हटानेवालो का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका था, ऐसी बात है जो अगली पीढियो के गौर करने और तारीफ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

कांग्रेस ऐसी हालत मे जानेवाली थी कि जब उसका मामूली ढग पर काम करना गैर-मुमकिन हो जाय, जब वह ग़ैर-कानूनी करार देदी जाय, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढग से उसकी कमिटिया किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठा न हो सके। हमने पोशीदगी को बढावा नही दिया, क्योकि हम अपनी लडाई को बिलकुल खुली रखना

चाहते थे, जिससे कि हमारा सारा ढाँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। आम पोशीदगी से भी ज्यादा काम नहीं चल सकता था। अन्त में, प्रान्तों में और स्थानीय हल्कों में हमारे सब कार्यकर्ता स्त्री-पुरुष भी गिरफ्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था जिस तरह का रास्ता हर फ़ौज में होता है, कि पुराने सेना-नायकों के हटते ही नये स्थानापन्न बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमिटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव में कभी-कभी ऐसा हमने किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एकसाथ गिरफ्तार हो जाती। हमें यह भी मुमकिन नहीं था कि लड़नेवाली सेनाओं के पीछे जनरल स्टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफ़ाजत से मुल्की मन्त्रि-मण्डल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियों और मन्त्रि-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ्तार कर लिए गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता देदी थी? राष्ट्रीय संग्राम चलाने की दृढ़ निश्चय के संकेत-रूप में उन्हें यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हें ज्यादातर खुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नहीं कर सकती थी, और जब या जहाँ उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने आप नहीं रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे में कुछ फ़ैसला नहीं कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल पहुँचने की

सीढी थी। और रोज-ब-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह अपनी आखिरी तैयारिया करके, अहमदाबाद मे हमने अ० भा० काग्रेस कमिटी के अपने साथियो से विदा मॉगी, क्योकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेगे, या इकट्ठे हो भी सकेगे या नही। हम अपनी-अपनी जगहो पर जाकर अ० भा० का० कमिटी की हिदायतो के मुताबिक अपने-अपने मुकामी इन्तजाम को आखिरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक्त पिताजी और मै गाधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर मे थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पडाव के लिए पैदल चल पडे। वह हाथ मे डण्डा लिए हुए, अपने अनुयायियो के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और चेहरे पर शान्ति तथा निर्भयता छिटकी पडती थी। इस तरह उस समय मैने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर मे मेरे पिताजी ने गाधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर स्वराज्य भवन रख देंगे। इलाहाबाद लौट कर उन्होने इसकी घोषणा कर दी, और कॉग्रेसवालो को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बडे मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई को पूरी न कर सके, पर डेढ साल बाद मैने उनकी इच्छा के मुताबिक उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गांधीजी समुद्र तट पर पहुंच गये और हम नमक-कानून को तोड़कर सविनय भंग करने की आखिरी हिदायत का इन्तज़ार करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को कवायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमें शामिल हो गई थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन लिया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियां तक, न था। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जावें और बड़ी-बड़ी भीड़ का नियंत्रण में रख सकें। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियांवाला बाग तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और छः अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दाडी में समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाजत दे दी गई कि वे भी नमक-कानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय भंग शुरू करें।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन दबा दिया गया, और अचानक सारे देश में शहरों में और गांवों में, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही धूम फैल गई। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गईं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहां इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत हिदायतें देने के लिए कई पत्रिकायें प्रकाशित कीं, और बर्तन और कड़ाइयां इकट्ठी कीं और अन्त में एक भद्दी-सी चीज बना ही डाली, जिसे हम बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊंची क़ीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था, क्योंकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोड़ना था। इसमें हम ज़रूर कामयाब हुए, चाहे हमारा

बनाया हुआ नमक कितना भी खराब क्यो न हो। जब हमने देखा कि लोगो मे उत्साह उमड रहा है, और नमक बनाना जगली आग की तरह चारो तरफ फैल रहा है, तो हमे कुछ शर्म मालूम हुई, क्योकि जब गांधीजीने इस तरीके की तजवीज पहलेपहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी की बाबत शक किया था। हमे ताज्जुब होता था कि इन व्यक्ति में लोगो पर असर डालने और उनसे सगठित रूप मे काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है।

मै चौदह अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मै रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेन्स में शामिल होने के लिए रेलगाडी में सवार हो रहा था। उसी दिन जेल मे मेरा मुकदमा भी होगया, और मुझे नमक-कानून के मातहत छ महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की सभावना से मैने ( अ० भा० कांग्रेस कमिटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार ) पहले ही मेरी गैरहाजिरी मे कांग्रेस के सभापति की जगह के लिए गांधीजी को नामजद कर दिया था, मगर, अगर वह मजूर न करे तो, मेरी दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा खयाल था, गांधीजी राजी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नही थी, फिर भी वह बडे जोर-शोर से लडाई मे कूद पडे। उन शुरू के महीनो मे उनके जबरदस्त सचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनो बडी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसो का निकलना, लाठी-प्रहारो का होना और गोलियां चलना, नामी-नामी आदमियो की गिरफ्तारियो पर अक्सर हडताले होना, पेशावर-दिवस, गढवाली-दिवस आदि का खासतौर पर मनाया जाना

वगैरा। उस वक्त भी विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेजी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा होगया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा खयाल था कि कितने वरसों से मैं उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और जिले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहाँ मेरे पास आगये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा कद्र करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी जबानी मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

इन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे बड़ी खबर तेईस अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमाप्रान्त में होनेवाली घटनायें थीं। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीन-गनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासनपूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत बताई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमा-प्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नहीं थे। उन्हीं पठानों ने वह मिसाल कायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई

जिसमें गढवाली सिपाहियों ने नि शस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपाहियों को निहत्थी भीड पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोगो से उन्हे हमदर्दी थी। मगर सिर्फ हमदर्दी ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नही कर सकती। क्योकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढवालियो ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हे (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टो को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नहीं पाई) यह गलत खयाल होगया था कि अग्रेजो की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियो मे ऐसा खयाल पैदा होजाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनो या हफ्तो तक आम हलचल और सविनय-भग से लोगो में यह खयाल पैदा होगया था कि अग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फौज पर भी पडा, मगर जल्दी ही यह भी जाहिर होगया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नही है, और फिर फौज में हुकुम-उदूली नही हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रक्खा गया कि सिपाहियो को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनो बडी-बडी आश्चर्यजनक बाते हुईं, मगर सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात थी स्त्रियो का राष्ट्रीय सग्राम में हिस्सा लेना। स्त्रियाँ बडी तादाद में अपने घर के घेरो से बाहर निकल आईं, और हालाकि उन्हे सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लडाई में पूरी तरह कूद पडी। विदेशी कपडे और शराब की दुकानो पर धरना देने का काम तो उन्होने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरो में सिर्फ स्त्रियो के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आमतौर पर

स्त्रियाँ पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे कांग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-कानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भंग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्सों के, जिनमें कई कामों की मुमानियत की गई थी, निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियतें बढ़ती गई, वैसे-वैसे उन्हें तोड़ने के मौके भी बढ़ते गये। और सविनय-भंग की यह शक्ल होगई कि आर्डिनेन्स में जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्मेण्ट की निगाह में परिस्थिति न सम्हली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबिले में कार्य-समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए हिदायतें जारी करती थी। इन हिदायतों पर देश में आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अखबारों की प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नहीं हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अखबारों से जमानत माँगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अखबारों से यह कहा कि वे जमानत देने से इन्कार करदें और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अखबारवालों के लिए तो यह एक कड़वी घूंट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगों में खबरों की बहुत ज्यादा माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारों को छोड़कर ज्यादातर अखबारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह

हुआ कि तरह-तरह की अफवाहें फैलने लगी। मगर वे ज्यादा वक्त तक न टिक सके। प्रलोभन वहुत भारी था, और अपना धधा नरम-दल के अखवार छीने लिये जा रहे है यह देखकर उन्हे वुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी पांच मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के वाद समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानो और गोदामो पर धावे किये गये। इन धावो में पुलिस की वेरहमी की वहुत दर्दनाक घटनायें हुई। उन दिनो भारी-भारी हडतालो, जुलूसो और लाठी-प्रहारो के कारण वम्वई सवसे ज्यादा प्रसिद्ध होरहा था। इन लाठी-प्रहारो के घायलो के इलाज के लिए कई आरजी अस्पताल कायम होगये थे। वम्वई में कई वातें ऐसी हुई जो मार्के की थी, और वडा शहर होने के कारण वम्वई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्वो और देहाती हिस्सो में भी ऐसी ही वातें हुई, मगर वे सव प्रकाश मे न आ पाई।

जून के अन्त में मेरे पिताजी वम्वई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गई। उनका वडा स्वागत किया गया। जब वह वहां ठहरे हुए थे, तभी कुछ वहुत जवरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में यह तो वम्वई मे मामूली वात-सी होगई थी। करीव दो हफ्ते वाद ही वहां सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जवकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्वर एक वडी भारी भीड के साथ पुलिस के सामने, जिसने कि उनका रास्ता रोक रक्खा था, सारी रात डटे रहे।

वम्वई से लौटने पर तीस जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये, और उनके साथ सैयदमहमूद भी पकडे गये। वे कार्य-समिति के, जो ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मत्री की हैसि-यत से गिरफ्तार हुए। दोनो को छ-छः महीने की सजा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक वयान प्रकाशित करने पर हुई थी,

जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिसमैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत में उनका क्या फ़र्ज़ है यह बताया था। यह बयान सिर्फ़ क़ानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डियन क़ानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़कानेवाला और ख़तरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था और हर ज़रूरी काम का फ़ैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल थककर लौटे, और अपने डाक्टरों की ज़रूरी सलाह से उन्होंने फ़ौरन पूरी तरह आराम लेने का फ़ैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वग़ैरा बँधवा लिया, मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे सामने आ पहुँचे।

## : ३० :

## नैनी-जेल में

मैं क़रीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुँधली हो गई थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में रक्खा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलख़ाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि बाईसरौ या तेईससौ क़ैदी थे अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एकसौ फ़ीट था और जिसके चारों तरफ़ क़रीब पन्द्रह फ़ीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोंबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियाँ थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियाँ,

जो एक-दूसरे से मिली हुई थी, दी गईं। एक नहाने-धोने वग़ैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक़्त तक खाली रहीं।

बाहर के विक्षोभ और दौड़-धूप के जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू होगया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में, खुले में सोने की इजाज़त मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी ज़ंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाज़ें आया करती थीं। ख़ास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाज़ें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाज़ें लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कहराने की-सी आवाज़ मालूम होती थी। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने क़ैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते में आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे यहाँ का हाल पूछता था। चूंकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाज़ें ज्यादातर साफ सुनाई न देती थीं, और पहलेपहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहलेपहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानो रात को जंगल और रात के जानवर सब मिलकर अपने गुनगुना रहे हैं।

मैं सोचता हूँ कि आया यह मेरा महज ख्याल ही है, या यह सचाई है कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोलाईदार दीवार में आदमी को अपने कैद होने का ज्यादा भान होता है? कोनों और मोंटों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आस्मान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हे नीले वितान पर
जिसे कहें बंदी आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडों पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास;[1]

अपनी सजल सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के तले में हूँ। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल का हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आमतौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नहीं था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खासतौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की जरूरत

१. ऑस्कार वाइल्ड के निम्न अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

"Upon that little tent of blue
Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
With sails of silver by."

इस लेखक ने अपने जेल-जीवन में 'रीडिंग जेल-प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तियाँ पंडितजी ने उद्धृत की हैं।—अनु०

हो, रक्खे जायें। बाद में वह राजनैतिक कैदियों, नजरबन्दों वगैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जोकि यहां सारे जेल से अलग रक्खे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज थी जिसे पहलेपहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली होजाती है। इसीलिए मैं भी उसके देखने का आदी होगया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खतापूर्ण और जंगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आ जाती।

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाजत न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जबकि प्रायः अँधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाजत मिल गई। यह बड़ी सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज किया गया था कि मैं दूसरे कैदियों के सम्पर्क में न आ सकूं, या वे मुझे देख न लें। मुझे उस समय बड़ी तरो-ताजगी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोड़े-से वक्त में ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जबकि बिलकुल अंधेरा रहता था, उठ जाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना होजाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी

वह ज्यादा पढ़ने के लिए काफ़ी नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारा-गणों की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ होजाता था। जहाँ मैं बैठता था वहाँसे मुझे ध्रुव-तारा दीवार के ऊपर झाँकता हुआ दिखाई देता था, और उसमें असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ़ का आस्मान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वहीं क़ायम था। वह मुझे प्रसन्ननिष्ठा और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नहीं था, क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफ़ाई करनेवाला एक क़ैदी थे। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे क़ैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सज़ायें भुगत रहे थे आ जाते थे। इनमें जन्म-क़ैदी, ज्यादा थे। आमतौर पर समझा जाता था कि जन्म-क़ैद बीस साल या कम में खत्म होजाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत क़ैदी थे जिन्हें बीस साल से भी ज्यादा होगये थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। क़ैदियों के कन्धों पर-कपड़ों में लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है, जिसमें उनकी सज़ाओं का हाल और रिहाई की तारीख़ लिखी रहती है। एक क़ैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६ में होगी। १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सज़ायें दी गई थीं और वह सब एक के बाद एक जोड़ दी गई थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सज़ा थी।

बरसों बीत जाते हैं और कई जन्म-क़ैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिल-कुल टूट जाता है, और कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन

हमेशा कुछ घुटा-घुटा सा रहते हैं, और उनका दिमाग भय, बदले और नफ़रत के गंदे विचारों से भर जाता है। वे दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं, और सिर्फ़ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से बैर और बैर-भाव भी चला जाता है, और उनका जीवन एक जड़ यन्त्र-सा बन जाता है। अपनेआप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुजारते हैं, क्योंकि सब बिलकुल एक-से ही गुजरते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना ही नहीं होती। वक्त-बवक्त कैदियों की तुलाई और नाप होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तोलता है? लोग मौत की सजा के खिलाफ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जँचती हैं। मगर जब मैं जेल का लम्बा यातनापूर्ण जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफ़ा एक जन्म-कैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम जन्म-कैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकाल देगा?"

और ये जन्म-कैदी कौन होते हैं? इनमें से बहुतेरे तो मजमूई मुक़दमों में आते हैं, जिनमें कि उन लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एकसाथ सजायें होती हैं। इनमें कुछ ही शायद क़ुसूरवार होते हैं, ज्यादातर लोग सचमुच क़ुसूरवार होते हैं इसमें मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमे में लोगों को फँसा देना बड़ा आसान है। किसी मुख़बिर की शहादत और थोड़ी शनाख्त होजानी चाहिए, बस इतना ही जरूरी है। आजकल डकैतियाँ बढ़ रही हैं, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर टीका करते नहीं थकते। मगर उनकी निगाह उसके जाहिरा आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इसके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी ज़मीन के टुकड़े की बाबत गाँव में झगड़ा होजाता है, लाठियाँ चल जाती हैं, और कोई मर जाता है—नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लंबी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष क़ैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियाँ रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं। इनमें एक भी व्यक्ति जरायमपेशा नहीं होता। साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कहीं ऊपर उठे हुए, होते हैं। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ़ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के क़ीमती धन बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलों में पक्के मुजरिम भी हैं, जो जान-बूझकर समाज के शत्रु बनकर उसके लिए बहुत खतरनाक होजाते हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले हैं जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिला झिझक विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नहीं मालूम कि असली जरायमपेशा और ग़ैर-जरायमपेशा क़ैदी कितने-कितने अनुपात में हैं, और शायद इस तरह विभाजन करने का ख़याल तक जेल-महकमे में किसीको नहीं आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लुई ई० लोज़ ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। वह अपनी जेल के क़ैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में पचास फ़ीसदी तो बिलकुल जरायम-वृत्ति के नहीं हैं, पचीस फ़ीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं, और बाक़ी पचीस फ़ीसदी में से शायद आधे, यानी साढ़े बारह फ़ीसदी, ही समाज में न रहने लायक़ हैं। यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराधवृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज्यादा होती है, और पिछड़े हुए इलाक़ों में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर हैं, और सिं-

सिग जेल भी खासतौर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयकर-से-भयकर मुजरिम भेजे जाते हैं। मगर, उनके वार्डन की राय के मुताबिक, उनके सिर्फ साढे बारह फी सदी कैदी ही सचमुच बुरे है। मेरे खयाल से यह बडी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलो मे तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोडी और अच्छी हो जाय, लोगो को रोजगार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ जाय, तो हमारी जेले खाली की जा सकती है। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है—हिन्दुस्तान मे पुलिस की तादाद और जेलो का बढाना। हिन्दुस्तान मे कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते है, यह देखकर सिर ठनकने लगता है। अखिलभारतीय कैदी-सहायक समिति के मन्त्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि १९३३ मे सिर्फ बम्बई प्रान्त मे ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बगाल की सख्या १,२४,००० थी।[१] मुझे सब प्रान्तो के आँकडे तो मालूम नही, किन्तु यदि दो प्रान्तो का जोड ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड करीब दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव में जेल मे हमेशा रहनेवालो की तादाद नही कह सकते, क्योकि बहुत लोगो को तो थोडी-थोडी सजायें मिलती है। स्थायी रहनेवालो की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बडी सख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बडे प्रान्तो की जेले ससार की बडी-बडी जेलो में समझी जाती है। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तो में माना जाता है, जिसे वह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत सभवत, यहाँ ससार का सबसे पिछडा हुआ और प्रतिगामी

१ स्टेट्समैन, ग्यारह दिसम्बर, सन् १९३४

जेल-प्रबन्ध है या था। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश यहां नहीं की जाती। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बढ़ा-चढ़ा है वह है अपने कैदियो को भागने न देना। यहां भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हज़ार मे से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलखानो की एक निहायत दु:खजनक बात है, वहां पद्रह साल या इससे ज्यादा उम्र के लडको का बडी तादाद मे होना। इनमें से ज्यादा-तर तो तेज और होशियार दीखनेवाले लडके होते है, कि जो अगर मौका मिले तो बडी आसानी से अच्छे बन सकते है। कुछ अर्से से इन्हें मामूली पढना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफी और बेकार है। खेल-कूद या दिल-बहलाव का बहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के भी अखबार की इजाजत नही है, और न किताबें पढने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सब कैदियो को उनकी बैरकों या कोठरियो में ताले मे रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शामो का वक्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नही रहता।

मुलाकातें तीन महीने में एक दफा हो सकती है, और यही खतो का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई कैदी तो इसमे भी लाभ नही उठा सकते। अगर वे बे-पढे होते है, जैसे कि ज्यादातर होते ही है, तो वे किसी जेल-अफसर से ही चिट्ठी लिखवाते है, और ये लोग चूंकि अपना काम और बढाना नहीं चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते हैं, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नहीं दिया जाता, और वह ठिकाने पर नहीं पहुँचती। मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है। करीब-करीब,

अनिवार्य रूप से, किसी-न-किसी-जेल कर्मचारी को कुछ नजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है। अक्सर कैदी दूसरे-दूसरे जेलो में बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगो को उनका पता नही लगता। मुझे कई ऐसे कैदी मिले है, जिनका ताल्लुक अपने परिवार से बरसो से छूट चुका था, और उन्हे मालूम नही था कि उनका क्या हुआ। तीन या अधिक महीनो के बाद जब मुलाकातें होती भी हैं तो अजीब तरह से। जगले के दोनो तरफ आमने-सामने बहुत-से कैदी और उनके मुलाकाती खडे कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत जोर से चिल्ला-चिल्ला कर बोलना पडता है, इससे मुलाकात में जो थोडा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नही रहता।

हजार में से किसी एकाध कैदी को (यूरोपियनो को छोडकर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाकात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनो में जबकि लाखो राजनैतिक कैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दर्जे के कैदियो की तादाद कुछ थोडी-सी बढ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत थोडी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियो मे से ९५ फीसदी के साथ मामूली ढग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हे ऐसी सुविधायें भी नही मिलती।

कई व्यक्ति, जिन्हें क्रान्तिकारी हलचलो [illegible] लम्बी सजायें दी जाती हैं, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियो में रक्खे जाते हैं। मेरा खयाल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब व्यक्ति आम तौर पर तनहाई कोठरियो में बन्द रक्खे जाते हैं। यों तो [illegible] जेल के किसी कसूर के लिए सजा के तौर पर दी जाती है [illegible], जो आम तौर पर करीब [illegible]

ही रक्खा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यो न हो। इस तरह अदालत की सजा के अलावा, जेल महकमा उसमे बगैर किसी सबब के एक और भयकर सजा बढा देता है। यह बडी असाधारण बात है और कानून की किसी दफा के अनुसार नहीं है। थोडे वक्त के लिए भी तनहाई में बन्द रक्खा जाना एक बडी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसो तक रहे तब तो कितनी खतरनाक हो जाती है। इससे मस्तिष्क की शक्ति धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, जो अन्त में पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी जिन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौजूँ बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव में किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था ? हिन्दुस्तान मे पुलिस के तरीके अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते है, और राजनैतिक मामलो मे तो वे बहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद है।

यूरोपियन या यूरेशियन कैदियो को, चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे मे रख दिया जाता है, और उन्हे ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाकात की सुविधायें दी जाती है। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातो के सम्पर्क में बने रहते है। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मजाक के विदेशी अखबार ले आता है, और जब जरूरत होती है तब उनके घरवालो से खतो-किताबत करता रहता है।

यूरोपियन कैदियो को ये सुविधाये क्यो मिली है इनकी किसीको

शिकायत नही है, क्योकि उनकी तादाद थोडी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—कैदियो के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर जरूर रज होता है। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नही समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नही किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये है। जब भावना-शील स्त्री या पुरुष यहाँ आते है, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीडा प्रतीत होता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के कैदी जेल की उदासी से ऊबकर फूट-फूटकर बच्चे की तरह रोने लगते है, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोडे-से शब्दो से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते है, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते है।

इतना होने पर भी, कैदियो में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा कैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नही कर सकते थे। एक ने जेल-दफ्तर में जमा की हुई अपनी कमीज दी, दूसरे ने कोई और कपडा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोडी मिली थी, जिसे उसने अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल मे यह चीज मिलना बडी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अधा नगे-पैर बाहर जा रहा है

तो उनने ख़ुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा उदारता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गाँधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद आई—उनमें मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताक़त है। शान्ति-पूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए, लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को, बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ़ जा रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से काम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर गया, और थोड़ा-थोड़ा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली क़ैदी भी कहते थे कि "स्वराज आ रहा है!" और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फ़ायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तज़ार करते थे। बाज़ार की बात-चीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नज़दीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफ़सर कुछ और घबराहट में पड़ गये।

जेल में हमें दैनिक अख़बार नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक अख़बार से हमें कुछ ख़बरें मिल जाया करती थीं, और ये ख़बरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज़ कर दिया करती थीं। रोज़ाना लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फ़ौजी क़ानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के लिए ही दस साल की सज़ा हो सकती थी, ऐसी ख़बरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, ख़ासकर स्त्रियों, पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी

माताजी, पत्नी और बहनो तथा दूसरी चचेरी बहनो और महिला-मित्रो के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ। और हालाँकि मै उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य मे साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत नजदीक आगये है। परिवार तो उससे भी बडे समुदाय में ऐसा मालूम होने लगा मानो लुप्त होगया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाबिला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे है, उस वक्त मै जेल में आराम से समय बिता रहा हूँ, यह खयाल मुझे दिक करने लगा। मै बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नही जा सकता था। इसलिए मैने अपना जेल-जीवन बडा सख्त, कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोजाना करीब तीन घटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घटे मैं निवाड बुनता, जो मैने जेल-अधिकारियो से खास तौर पर माँग ली थी। मै इन कामो को पसन्द करता था। इनमें न ज्यादा जोर पडता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग का बुखार भी शान्त होजाता था। मैं बहुत पढता रहता था, या सफाई करने या कपडे धोने वगैरा में लगा रहता था। मै मशक्कत अपनी खुशी से ही करता था, क्योकि मुझे 'सादी' सजा मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओ और अपने जेल-कार्य-क्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुजारने लगा। हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान मे

अँग्रेजी सरकार की प्रणाली से भिन्न नहीं है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का कब्जा मजबूत होता है मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिलकुल नहीं, की जाती है। ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह खयाल नहीं करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहाँ तो बस यह खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें, तबतक उनमें ज़रा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे। और जेल का प्रबन्ध-सञ्चालन किस तरह होता है, कैदियों को कैसे काबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है? यह बात ज्यादातर कैदियों की सहायता से ही होती है। कैदियों में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर ( सी० डबल्यू० ) या कनविक्ट-ओवरसियर ( सी० ओ० ) बना दिये जाते हैं, और वे खौफ से या इनामों या छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तनख्वाहदार गैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोड़े-ही हैं। जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफाजत और चौकीदारी कनविक्टर-वार्डर और सी० ओ० ही करते हैं। जेल में मुखबिरी का भी खूब जोर रहता है। कैदियों को एक दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और कैदियों को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नहीं रहती है। यह सब आसानी से समझ में आ सकता है, क्योंकि उनमें फूट रखने से ही वे काबू में रक्खे जा सकते हैं।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन में भी, यही एक प्रणाली व्यापक लेकिन कम ज़ाहिर रूप में दिखाई देती है। मगर यहाँ सी० डब्ल्यू और सी० ओ० लोगों का नाम बदल गया है। उनके बड़े-बड़े शानदार नाम

है, और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तडक-भडकदार है। और नियम-पालन कराने के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यो के लिए जेलखाना कितना जरूरी और लाजिमी है ? कम-से-कम कैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक विविध कार्य तो जेल, पुलिस और फौज के मौलिक कार्यों के मुकाबिले में थोथे मालूम होने लगते है। जेल मे आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की कदर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, कि जिसके हाथ मे शासन है, इच्छा को कार्यान्वित करने वाला एक जबरदस्ती का साधन है।

एक महीने तक मैं अपनी बैरक मे अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बडी राहत मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख को, हमारे अहाते मे असाधारण खलबली मच गई। अचानक बडे सवेरे मेरे पिताजी और डॉ॰ सैयद महमूद वहाँ लाये गये। वे दोनो आनन्द-भवन में, जबकि अपने बिस्तरो मे सोये हुए थे, गिरफ्तार किये गये थे।

## : ३१ :

## यरवडा में संधि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति गैर-कानूनी करार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एक-साथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमें और

जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालात में वहाँ रक्खे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एक-साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेंडेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहाँ उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छतसे पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फ़ीट लम्बा और ५ फ़ीट चौड़ा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी का बचाव हो सके ? कभी-कभी उन्हें बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फ़ायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे और रहे उन्होंने उसने पूरा फ़ायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेज-बहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस

और सरकार के दर्म्यान सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक अख-बार में पढी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमे हमने वह सारी खतो-किताबत पढी जो वाइसराय लार्ड अर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुई थी। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गाधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नही आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यो पडी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते है ? बाद को हमें मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होने बम्बई मे अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब का (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के सम्वाददाता, जो उन दिनो हिन्दुस्तान में थे) बनाया हुआ था, जो पिताजी से बात चीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] मे यह बताया

१. यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतो में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोल-मेज-कान्फ्रेन्स अपनी खुशी से क्या सिफारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफारिशो के बारे में क्या रुख रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की माँग का सम-र्थन करेंगे, बशर्ते कि दोनो में आपसी घटा-बढी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें वे हो जो हिन्दुस्तान की खास जरूरतो और अवस्याओ के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण जरूरी हो और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते है कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू

गया था कि अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस लेले।

वह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें भी यह साफ कह दिया गया था कि उन स्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी से और मुझसे मशवरा न करलें। मुझसे ज़रूरत इसलिए पड़ती थी कि मैं उस साल कांग्रेस का सदर था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दुःख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका गलत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी ग़लत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गये। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आजाती थी जहां से शुरू होती थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम

---

तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय-भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खत्म हो जायगी, राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर जो आपस में तय हो जायेंगी, गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में शरीक होगी।"

मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावो को समझ पाते थे। हमें यह साफ़ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत मे काग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौका नही है। हमने अपने साथियो—कार्य-समिति के सदस्यो—और खासकर गाधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ से कुछ भी कहने मे इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डाक्टर सप्रू वायसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वायसराय को इस बात पर कोई ऐतराज न था कि हम लोग यरवडा जावे (यरवडा पूना के पास है और यही की जेल मे गांधीजी रक्खे गये थे), लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम अज़ाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरो से मिलने की इजाजत नही दे सकती थी, जोकि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डाक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवडा जाने को तैयार है या नही ? हमने कहा कि हमे तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज्र नही है, न हो सकता है, लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियो से न मिल ले, तबतक किसी अतिम निर्णय पर नही पहुँचा जा सकेगा। इत्तिफाक से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार मे यह खबर पढी कि बम्बई में भयकर लाठी चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक शेरवानी वगैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये है। हमने डाक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नही है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वायसराय के सामने साफ करदें। फिर भी डाक्टर सप्रू ने कहा कि गांधीजी से तो जल्दी मिलने में हर्ज ही क्या है ? हमने उन्हे यह बात पहले ही कहदी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो

हमारे साथी डा० सैयदमहमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, बहै-सियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों—पिताजी, महमूद और मैं—एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गये। हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें झपाटे से पार करते हुए चले गये, कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई। फिर भी हमारे जाने की खबरें हमसे आगे दौड़ गई और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नहीं ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गई। हम ११ की बड़ी रात को पूना के नजदीक खिड़की स्टेशन पर पहुँचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गांधीजी की ही बैरक में ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाक़ात हो जायगी। यरवडा के सुपरिंटेंडेन्ट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस अफसर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडा वालों को ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिंटेंडेन्ट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के रोबरू ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायगे। लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिन भर तथा रातभर हम दूसरी बैरक में रक्खे गये। इस पर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहाँ लेजाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था। आखिर १३ को दोपहर के पहले हमें खबर की

गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये है और गांधीजी भी जेल के दफ्तर में उनके साथ मौजूद है और आप सबको वही बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालो की तरफ से बहुतेरी सफाइया दी गई और माफिया मांगी गई और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायेंगे, तब वह वहां जाने को राजी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनो यरवडा ले आये गये थे, और सरोजनी नायडू भी, जो हमारे सामने ही स्त्री-बैरक मे रक्खी गई थी, हमारे साथ बातचीत में शरीक किये गये। उसी रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वही रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहा लाये गये और वे भी वही रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस मे चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गईं जिनके पूरा होने पर सविनय-भग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठिया अखबारो में भी छाप दी गई थी।[1]

इन बातचीतो का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हे ज़ोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के

१- जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गई थीं वे परिशिष्ट न० २ में दी गई है।

खातिर का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल ने भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन एक मज़ेदार घटना हुई, जो मुझे अब तक याद है। सुपरिंटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा, कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूँ, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब हल्की चीज़ें गिना दीं। (नैनी में रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था) पिताजी ने सरल ढंग से जो-जो चीज़ें गिनाई थीं वे सब सादी और हल्की थीं, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिट्ज़ और क्लेरिज होटल में वे चीज़ें सादा और हल्की समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे, लेकिन यरवडा जेल में वे अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रुचि के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीज़ों के नाम सुनाते जा रहे थे। क्योंकि कई दिनों से उनके यहाँ भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रक्खा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियाँ। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छुड़वाते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेल्वे लाइन पर भी भीड़ जम गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सुहागपुर में। यहाँ तक कि दुर्घटनायें होते-होते बचीं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डाक्टर उन्हें देखने गये—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से

भेजे हुए डाक्टर भी। जाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहाँ किसी तरह माकूल इलाज नही हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार मे लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हे रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगडे और उन्होने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहाँतक कि उन्होने लार्ड अर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी कराके नही छूटना चाहता। लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढाचा मात्र रह गया था। आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया। जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पडता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातो का भी ध्यान रखना पडता था। और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बडी खुशी-खुशी उनकी सेवा मे दिन बिताते थे। मैंने निवाड बुनना छोड दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबें पढने का ही वक्त मिलता था। जब वह चले गये तो हमें फिर उन्ही कामो को शुरू करना पडा, मगर दिल पर भार बना रहता था। और व आनन्द नही रहा था। उनके रिहा होने पर तो दैनिक अखबार मिलना बन्द हो गया था। ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजीत पडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक मे ही रक्खे गये।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छ महीने की सजा पूरी हो जाने पर, मै छोड दिया गया। मैं जानता था कि मै थोडे ही दिन आजाद रह सकूंगा, क्योकि लडाई बहुत जमती और तेज होती जा रही थी। 'शान्ति-दूतों'—सप्रू जयकर साहबान—की कोशिशे बेकार हो चुकी थी।

उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे। ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूँ कुछ अच्छा और ज़ोरदार काम कर जाऊँ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और माँ तथा बहनें उनके साथ थीं। कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही मशगूल रहा। उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि सारा देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं? लगान-वसूली का वक्त नज़दीक आ रहा था और यों भी लगान वसूल होने में दिक्कत आनेवाली थी, क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। संसारव्यापी मन्दी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई देता था—दोनों तरह से, सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतंत्र रूप से भी। यह ज़ाहिरा तौर पर असम्भव था कि ज़मींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज़ का सहारा लिये बिना चारा न था। ज़मींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे कर्ज़ भी आसानी से मिल सकता है, मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातन्त्री देश में या उस जगह जहाँ किसानों का अच्छा संगठन और प्रभाव है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज़्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती है और उनका साथ देती है। हाँ, एक

बात और भी है। सरकार को यह डर जरूर लगा रहता है कि जब किसानो के लिए हालत असहनीय हो जायगी, तो वे उठ खडे होगे और बुरी तरह उमड पडेंगे। लेकिन, उन्हे तो युगो से यह तालीम मिलती चली आ रही है कि जो कुछ विपता आवे उसे बिना चूं तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तो में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्राय सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भग-आन्दोलन से जुडे हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहाँ रैयतवारी तरीका था और किसानो का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरन्त सीधा सरकार पर पडता था। मगर युक्तप्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी। क्योकि हमारा इलाका जमीदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द कर दे तो उसका सीधा असर जमीदार पर होता है, इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय सस्था है और उसमें कितने ही छोटे-मोटे तथा कुछ बडे जमीदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कही कोई वर्ग-विग्रह का प्रश्न न बन जाय, या जमीदार लोग न बिगड बैठें। इस कारण सविनय भग शुरू होने से ठेठ छ महीने तक वे देहात मे करबन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालांकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मै इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह कतई नही घबराता था, लेकिन मै इतना जरूर महसूस करता था कि कांग्रेस अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-सघर्ष को नही अपना सकती। हाँ, वह दोनो से —काश्तकार और जमीदार दोनो से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमींदार बहुत करके मालगुजारी दे देते, लेकिन उस दशा मे कुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशाएँ मुझे ऐसी मालूम हुईं मानो वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयाँ तो ज़ाहिर ही थीं। राजनैतिक क्षेत्र में हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालाँकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कहीं बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेज़ी और गर्मी नहीं दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों और जुलूसों से कुछ थक-से गये थे। दरअसल यह दिखाई देता था कि कुछ ज़िन्दगी डालने की, नया ख़ून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था? और यह ख़ज़ाना तो अभी अछूता पड़ा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न उठ खड़े होंगे।

इन थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर ख़ूब ग़ौर किया। जल्द ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंज़ूरी देदी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया और कार्यकारिणी ने उसे ज़मींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसमें वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हाँ, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों के ही तबके से मिलेगा।

जब इस तरह उसे अमल करने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे

इलाहाबाद ज़िले ने पहला कदम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद ज़िले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बी तकरीर की। इसी तकरीर पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते। मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इंदिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिए 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह झण्डा गान-गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीन कर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज़ की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा जरा घटनापूर्ण रही। देहरादून से ज्योंही मैं रवाना होने लगा, ज़ाब्ता फौजदारी की १४४ दफ़ा के मुताबिक़ मुझपर एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफ़ा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है। लेकिन वह तामील न हो सका, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफ़सर मुझतक पहुँच नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफ़ा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ़्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और इसमें सिर्फ़ प्रतिनिधियों को ही बुलाया गया था। और ऐसा ही वह था भी। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाज़त इसमें न थी। इलाहाबाद ज़िले के बहुत प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी। सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने ज़िले में करबन्दी शुरू करने का फ़ैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओं को ज़रूर हिचकिचाहट थी। उस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं। क्योंकि किसानों को डराने-धमकाने के साधन ज़मींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहाँतक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न थानों के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहाँ मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहाँ तो दिखाई नहीं

देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण दिया था। लेकिन मैं नही कह सकता कि मैंने १४४ दफा का उल्लघन किया या नही, जोकि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहाँ से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगो को लिवाने के लिए, स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हे वही छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-माँदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बाते करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योकि उनके आने के बाद हमे शायद ही बातचीत करने का मौका मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहाँ से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मैं गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरे लोगो को इस नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

## : ३२ :

# युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की गैरहाजिरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयदमहमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनो के बाद जेल में ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाएँ लगाई गई थी, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसी के अनुग-

अलग किस्मों को लेकर जुदा-जुदा इलजाम लगाये गये थे। हस्व-मामूल मैंने कोई सफाई पेश नहीं की, सिर्फ थोड़े मे अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। दफा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध में मुझे १८ मास की सख्त कैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-कानून के मुताबिक ६ महीने की कैद और १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत (मैं भूल गया हूँ कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास कैद और १००) जुरमाना की सजायें दी गईं। पिछली दोनों सजायें एक-साथ चलनेवाली थीं, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की कैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में ५ महीने और। यह मेरी ५वीं बार जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला ने उनको मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हें वेदना का एक धक्का लगा, मगर फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज को ठोक कर कहा —अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूँगा, अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुझ में अपने पर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवांमर्दों का-सा ही था। मगर अफसोस है कि उनका यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को जो, उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ-साफ तरक्की दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह मसूरी गये थे, उनके बलगम में खून आने लगा था। इसी इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द

हो गया और कुछ दिन तक विलकुल नही दिखाई दिया। इससे उन्हे खुशी हुई थी, और जब वह मुझ से जेल में मिलने आये तो उन्होने मुझसे इस वात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से यह तसल्ली थोडे ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ गई और खून ज्यादा मिकदार में आने लगा। इस अवधि में उन्होने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर में सविनय-भग-आन्दोलन को एक जोर का वेग दिया। जगह-जगह के लोगो से वह बात-चीत करते और उन्हे ब्योरेवार हिदायते भेजते। उन्होने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अश सभाओ में पढे जायँ जिनपर मुझे सजा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभाये बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज किया गया था कि उस एक दिन सारे देशभर में कोई पाँच हजार गिरफ्तारियाँ हुई। वह अपने ढग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमें इतनी ज्यादा ताकत का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुजिर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिल्कुल आराम ही करे। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नही क्योंकि यहा उनका दिमाग लडाई के उतार-चढाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रगून, सिंगापुर, और डच-इडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवे और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर-मित्र यात्रा में साथ रहे। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में

सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि में करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढकर उस आन्दोलन को बढानेवाली और कोई घटना नही हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ गया और वे ज़िले के करीब-क़रीब हर गांव में सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही ज़िले-भर में खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनो हमारी सबसे बडी मुश्किल खबर पहुँचाने की थी—लोगों को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अखबार हमारी खबरों को छापने के लिए तैयार नहीं थे, इस डर से कि सरकार उनको सज़ा देगी और दबा देगी, छापाखाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकायें छापने को तैयार नही थे, पत्रों और तारों को काट-छाट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरें पहुँचाने का क़ाबिले इत्मीनान तरीका जो हमारे पास बाक़ी था वह यह था कि हम हरकारों के मार्फत अपनी खबरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीक़ा खर्चीला था, और इसमें बड़े सगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने खास-खास ज़िला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों में कोई खबर फैलाना मुश्किल नही था। कई शहरों में

गैर-कानूनी खबरें रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के जरिये प्रकाशित होती रहती थी और ऐसी खबरो की माँग बहुत रहती थी। आम लोगो में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीका था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी, मगर इसकी कुछ परवा नहीं थी क्योंकि लोग गिरफ्तारी को तो पसन्दही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीके शहरो मे अनुकूल पडते थे परन्तु गाँवो में आसानी के साथ काम में नही लाये जा सकते थे। हरकारो और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारो के जरिये से खास-खास गाँवो के केन्द्रो से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि दूर के गाँवो में हमारी सूचनाओ को पहुँचाने में काफी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह कठिनाई दूर हो गई। जिले के भाय हर खास खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताजा फैसलो और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को जिले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान [illegible] [illegible] और [illegible] बिल्कुल नहीं [illegible] [illegible] डराया नहीं जा सकता। [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible]

थी। मगर उसकी हद में कई जमींदारों ने लगान कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुकसान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानों का सवाल है, वे तो मजबूत रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद जिले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलों में भी फैल गया। कई जिलों में उसको बाजाब्ता अख्त्यार नहीं किया गया न उसका ऐलान किया गया परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक लिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े जमींदारों ने उन सरकश किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था, क्योंकि एक तरफ तो सविनय भंग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दुःखी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे में हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानों में कोई तूफान न उठ खड़ा हो। उधर लंदन में गोलमेज-कान्फ्रेन्स हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तकलीफें नहीं बढ़ाना चाहती थी, और न "जोरदार" हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशों में चला गया, जिससे कि आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मजबूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम श्रेणी के लोग किसी हदतक हतोत्साह हो

गये, परन्तु संयुक्तप्रान्त में आन्दोलन मजबूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मजबूत रहा। शहर से देहात की तरफ परिवर्त्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओं की तरफ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तों में इतनी हदतक नहीं हुआ और फलत उनमें शहरों की प्रधानता बनी रही और वे मध्यमवर्ग के लोगों की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से अखीर तक आन्दोलन में खूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निरुत्साह फैलने लगा। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रही, परन्तु यह सब किसी कदर बनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक किसी क्रान्ति की स्थिति में रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भंग की यह अद्‌भुत शक्ति है कि जिससे यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी मन्दगति से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढा। स्थानिक कांग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग आदि, जोकि अभीतक आश्चर्य के साथ चलती रही थी, गैर-कानूनी करार दे दी गई और दबा दी गई। जेलों में राजनैतिक कैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्त्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। जाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक कैदियों को बेंत की सजा दी गई थी। इसकी खबर हमको नैनी-जेल में पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम

हिन्दुस्तान में इसके सिवा इससे भी ख़राब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गये हैं—क्योंकि बेंत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी क़ैदियों के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए, और सो भी नाममात्र के नियम-भंग के क़ुसूर में तो बेंत की सज़ा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारों ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ़्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज़ से यह कोई बड़ी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नहीं था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेंगे। इससे पहले २४ घंटे से ज़्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज़्यादा तकलीफ़ नहीं हुई, और मुझे यह जानकर ख़ुशी हुई कि उसमें वैसी सख़्त तकलीफ़ की कोई बात नहीं थी जैसा कि डर था। मगर एक बेवकूफ़ी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत भी जारी रक्खी थी, जैसे दौड़ना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वग़ैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज़्यादा फ़ायदा हुआ। ख़ासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ कमज़ोर थी। इन तीन दिनों में हम सब का वज़न ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वज़न हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के ख़िलाफ़ ख़ासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थीं कि आयन्दा बेंत न लगाये

जायें। मगर ये आज्ञायें ज्यादा दिन कायम नही रहने को थी और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तो की जेलो में बेंतो की सजा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओ से खलल न पडा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाडा तो इलाहाबाद में बहुत ही मजेदार होता है। रणजीत पडित क्या आये, हमारी बेरक को अलभ्य लाभ मिल गया, क्योकि वह बागवानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीराना अहाता फूलो और तरह-तरह के रगो से गुलजार होगया। उन्होने तो उस तग और थोडी जगह में छोटे पैमाने पर गोल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई-जहाज उडकर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरजन का विषय होगया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बडे-बडे हवाई जहाजो के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा, और फ्रेंच इन्डोचायना को जाने वाले बडे-बडे जहाज सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमे सबसे बडे और शाही थे डच जहाज, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से और हमारी खुशकिस्मती से जाडे में अलस्सुबह, जबकि कुछ-कुछ अधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज ऊपर से गुजरता था। उसमें खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनो सिरो पर लाल रोशनी होती थी। प्रात काल के स्वच्छ नीलाकाश में जब वह जहाज ऊपर उडता तो उसका दृश्य बडा ही सुन्दर मालूम होता था।

पडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत यहाँ में उनका अधिक

परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होंने जर्मन पढ़ना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंत लगाने की खबर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह खबर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार होगये। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गये और कुछ दिन बाद मियाद से पहले ही वहां से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३१ को अंग्रेजी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की खबर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी बहन दोनों तथा और भी दूसरी स्त्रियां बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होतीं, मगर उस वक्त सरकार जहांतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद बर आई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी। मगर साथ ही मुझे एक खौफ भी हुआ, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी और मुझे अंदेशा था कि जेल में कहीं उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहां मौजूद था और उसने उससे एक संदेश मांगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा संदेश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है

और मुझे फख्र है कि मैं अपने पति के पद-चिन्हों पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊँचे उठाये झंडे को नीचे न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा संदेश न देती, क्योंकि वह अपनेको पुरुषों के जुल्मों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने का बानी-मुबानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में मर्दों के जुल्म न जाने कहाँ बह गये।

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक न थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सजा के समाचार सुनकर वह बहुत उद्विग्न हो गये और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल में जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए, क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्त्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए खतरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के साथ साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का ख़याल कभी मन में नहीं आता था। मौत के ख़याल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे—उसे हँसी में उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊँगा। लेकिन इधर बाद में मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर

जाता, तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमा लेती थी। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के कितने अभ्यस्त हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह तरह की आशंकायें छा गईं। ताहम मुझे यह खयाल नहीं हुआ था कि खतरा इतना नज़दीक आ पहुँचा है। ठीक उन्हीं दिनों पता नहीं क्यों, खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसमें जो आलंकारिक भाषण हुए और आडंबरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गये वे हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ हिकारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लंबी-चौड़ी बातें और वादविवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हाँ, एक वास्तविकता साफ़ दिखाई पड़ती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया, तबभी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ़ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमें पहले से भी ज्यादा साफ़ नज़र आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हैं और किस तरह स्थापित स्वार्थ उनी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे हैं। गोलमेज-कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का

ही एक सम्मेलन था। उनमें से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ खड़े देखते थे—हाँ, समय-समय पर हम इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तजार करते हैं वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्योंही लन्दन से डोर हिली इस इन्तजारी का एकाएक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बाँटने के लिए एक के बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गई कि कांग्रेस तेजी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्त्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाजिमी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्त्तन पर जोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुँचा जावेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफत को देखकर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्त्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को और स्थापित स्वार्थों को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर कायम रहें। औपनिवेशिक पद पर जो इतना जोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही थी। एक दफा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े थे कि मैंने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अंग-रूप ब्रिटिश फौज के हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी फौज के लोकतन्त्र के मातहत कर दिये जाने पर जोर दिया था। वह तो यहाँतक आगे बढ़ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात

पर [illegible] हो भी, तब तो मैं अपनी पूरी ताकत से इसका विरोध करूँगा।' किसी भी तरह की कौमी आजादी के लिए यह माँग बहुत जरूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत में वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवाञ्छनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर है कि बाहरी शक्तियाँ हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी! लेकिन ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी खुद्दार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही कितना जलील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अंग्रेजों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख्वाहिश की तह में असली बात यह नहीं थी। अंग्रेजों की जरूरत तो समझी गई थी खुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपने को उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार से और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच में बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ—एक तरफ उसमें जहाँ वे लोग शामिल थे जो आजादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गये थे, तो दूसरी तरफ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी कतार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर

तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसी-में स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए कुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ, और तकदीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हे कुछ त्याग नही करना पडा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफा बढ गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुकाबिला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दुकानो मे बैठ बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होने अपने भाषणो का स्वर नीचा कर दिया, गरम-दलवालो को बुरा कहने लगे और मुखालिफो के साथ राजीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नही थी कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लडाई यहाँ हमारे कस्बो और गाँवो में हो रही थी। हमे इस बात में कोई भ्रम नही था कि हमारी लडाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खडा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओ ने हमें अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमें दुःख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरो के (जहाँ मैं समझता हूँ कि उन्हे 'शहर की आज़ादी' की उपाधि भेंट की गई थी) अपने एक भाषण मे उन लोगो के प्रति नफरत के भाव ज़ाहिर किये जो सविनय भग-आन्दोलन के सिल-सिले में जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उसने हमारे दिलो को ज़ख्मी कर दिया। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तोभी हम उनकी इज्जत करते थे।

कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहां न आ जायेंगे और आपसे बात-चीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभायें की गईं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[१] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अखबार न छापे-खाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभायें करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह, पास किया गया। बहुतेरी सभायें तो कानून की अवहेलना करके की गईं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गईं थीं।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में गुज़िश्ता साल का सिंहावलोकन कर रहे थे और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाज़ुक हो गई है और मुझे फौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी मेरे साथ थे।

उस शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और

१. यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

स्वाभाविक था । सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी । इसलिए, मैं उसी शाम को हर हालत में छूट जाता । पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई होगई । २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गई । वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी ।

: ३३ :

## पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा । १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था । तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था । बोलने में कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू नहीं रहा था, लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग को काम करने में ताकत देती रही ।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए । एक या दो रोज बाद रणजीत (वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये । इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते हैं तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है । उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा था । ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूँ डॉक्टरों के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजीत को छोड़ दिया ।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मै छोडा गया, गाँधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मै उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवे, और जब मैने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। एक जबरदस्त जन-समूह के द्वारा, जैसा कि बम्बई में पहले कभी नही देखा गया, स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गाँधीजी बम्बई से चल पडे। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी में जग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शाति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे इस बीच में असमजस मे पडे हुए मीटिंग के लिए सूचनाओ का इन्तजार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जाना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान के पास ही स्वराज्य-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगी। कभी-कभी मै इन मीटिंगो मे चला जाता था। लेकिन मै अपनी चिन्ताओ में इतना मुब्तिला रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नही लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नही है कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा खयाल है कि वे सविनय-भग-आन्दोलन को जारी रखने के हक मे हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजीसे मिलना चाहते थे और उनके अतिम दर्शन करके अन्तिम विदा लेना चाहते थे।

मुलाक़ात के वक्त में दो-तीन बजे और पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डील-डौल तो भव्य मगर चेहरा भाव-शून्य दिखाई देता था, क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे वैसे-वैसे उन्हें पहचान पहचानकर उनकी आँखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुक जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालाँकि वह ज्यादा नहीं बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मज़ाक़ क़ायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह ज़ख्मी हो गया हो और जिसकी ताक़त शरीर से क़रीब-क़रीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ़ देखता, तो मैं सोचता कि उनके दिमाग़ में क्या-क्या खयाल आते होंगे? क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में नहीं रहे हैं? यह साफ़ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीज़ें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर क़ाबू पाने की कोशिश करते थे। आख़ीर तक यह लड़ाई जारी रही। मगर वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहाँ तक कि जब गले की सिकुड़न ने उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह काग़ज़ पर लिख-लिखकर अपना आशय ज़ाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जो कि हमारे ही पड़ोस में ही हो रही थीं, उन्होंने, कहना चाहिए कि, कुछ भी दिलचस्पी नहीं ली। १५ रोज़ पहले उनमें उनका उत्साह ज़रूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उनसे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होंने

गांधीजी से कहा—"महात्माजी ! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज्य देखने के लिए जिन्दा नही रहूँगा । लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज्य फतह कर लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ मे आ जायगा ।"

जो दूसरे शहरो और सूबो से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये । गांधीजी रह गये । कुछ और घनिष्ठ मित्र, करीबी रिश्तेदार और तीन नामी डाक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनको वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर आपके हाथ मे महफूज रखने के लिए सौंप दिया है । वे थे डाक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता । ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फायदा उठाकर उन्हे लखनऊ ले जाया जाय, जहाँ कि डीप एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधायें है । उसी दिन उन्हे हम मोटर से ले गये । गांधीजी और कुछ लोग भी साथ गये । हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये । दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे । दूसरे दिन सुबह यानी छ फरवरी को मै उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था । रात उनकी तकलीफ और बेचैनी मे बीती थी । एकाएक मैंने देखा उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खत्म हो गई । मैंने समझा कि उन्हे नीद लग गई है और इससे मुझे खुशी भी हुई । मगर माँ की निगाह तेज थी । वह रो पड़ी । मैंने उसकी तरफ देखा और कहा कि उन्हे नीद लग गई है, वह जाग जायँगे । मगर वह नीद उनकी आखिरी नीद थी और उसके बाद फिर जगना नही हो सकता था ।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये । मै उसके साथ बैठा । रणजीत हाँक रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि

थी लगा था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी जिसमें माँ और गांधीजी थे और इसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं बिलकुल भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच ही न सका। इत्तिला मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई। वहाँ से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव हमारे राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक जबर्दस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने जमा हुई थी। घर पर कुछ अंतिम विधियाँ की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। जबरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। संध्या की किरणें गंगा-तट पर छिटक रही थीं। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटों ने उस शरीर को भस्म कर दिया जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्व था। गांधीजी ने छोटासा हृदयस्पर्शी भाषण किया और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेजी से चमक रहे थे।

माँ को और मुझे हजारों सहानुभूति के संदेश मिले। लार्ड और लेडी अर्विन ने माँ को एक सौजन्यपूर्ण संदेश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गांधीजी के वहाँ मौजूद रहने से, जिसने कि माँ को और हम सब लोगों को हमारे जीवन के उस विपत्तकाल का सामना करने का बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया था।

हम लोग वहाँ नुवारा एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुजार रहे थे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हे यहाँ क्यो न बुला लूँ ? वह बहुत थक गये होंगे और यहाँ आराम से उनको जरूर फायदा होगा। मैं उन्हे इलाहाबाद तार देने लगा था।

लका मे इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानो की मोहरे लगी हुई थी। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर पडी थी २८ फरवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियो में दिया गया था। इस तरह वह कोई साढे पाँच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ में मै जब कमला के साथ यूरप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से वह खत लिखा था। इटालियन लॉयड स्टीमर के पते पर, जिससे कि मै यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नही मिला और बहुतेरे स्थानो में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरों में हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब सयोग है कि वह विदाई का पत्र था।

: ३४ :

# दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और प्राय उसी समय बम्बई मे गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी

मेरव" जहाज से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल अब मुझे नही है, सीधे इलाहाबाद आये। गाधीजी तथा कार्यसमिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी मीटिंगें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में क्या-क्या हुआ? मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-ब-खुद अपने एडिनबरोवाले भाषण के सम्बन्ध में खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावरण का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियो ने हमें गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध में ऐसी कोई मार्के की बात नहीं कही, जिसे हम पहले से नही जानते हो। हाँ उन्होने यह अलबत्ता बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साज़िशें हुईं, और फला 'लार्ड' या फला 'सर' ने खानगी में क्या-क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तो की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्वत इस बात को ज्यादा महत्व देते हुए दिखाई देते हैं कि बड़े अफसरो ने खानगी बातचीत में या गप-शप में क्या-क्या कहा। लिबरल नेताओ के साथ हमारी जो कुछ बात-चीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गई कि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के निर्णयो की कुछ भी वक़त नहीं है। किसीने सुझाया—मैं उनका नाम भूल गया हूँ—कि गाधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बात-चीत करें। वह इस पर रज़ामन्द हो गये। हालांकि मैं नहीं समझता कि उन्होंने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफ़ो के साथ, कुछ कदम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। उन्हें चूँकि अपने

पक्ष की सत्यता का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगो को भी कायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्त्तन की कोशिश करते है। राग-द्वेप के बन्धनो को तोडकर दूसरे की सदिच्छा और उच्च भावनाओ तक पहुँचने की कोशिश करते है। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्त्तन हो गया तो विश्वास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध ढीला हो जायगा और सघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारो में अपने विरोधियो पर उन्होने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की है, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ कर लेते है। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशसक बन गये, और हालाकि वह नुक्ताचीनी करते रहते है, मगर उसमें कही उपहास या खिल्ली उडाने का नामोनिशान नही रहता।

चूँकि गाधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगो से मिलना पसन्द करते है जो उनसे मत-भेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलो में व्यक्तियो से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए, गाँधीजी कोई बडी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नही गये थे। सविनय भग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड गया था, क्योंकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की बातो का बडा ज़ोर था।

बातचीत का इन्तजाम फौरन हो गया और गाधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे में कोई बातचीत सजीदा तौर पर हुई तो मै कार्य-समिति के

देखना बन्द करना पड़ा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया, और हम तीन हफ्ते तक वहाँ रहे। बार-बार मिलने और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गांधीजी कई बार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में दो-दो चार-चार रोज खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन में इण्डिया-ऑफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने में ज़रा-ज़रा-सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा शब्द था सविनय-भंग को 'सस्पेन्शन' (स्थगित) कर देना। गांधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भंग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हाँ, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'डिस्कन्टिन्यूड, रोक देना शब्द इस्तेमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय सन्धि की अस्थायी तजवीजों पर गौर करने में लगा और मूल-भूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज़-रोज़ की लड़ाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण में आधार-भूत बातों पर गौर किया जा सकेगा। हम इस बातचीत को एक आरज़ी सुलह तक लेजानेवाली मान रहे थे, जिसके बाद असली विषयों पर आगे और बातचीत की जायगी।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिंचे-खिंचकर आते थे। बहुत से विदेशी, खासकर अमेरिकन, अखबार-नवीस थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज़-से थे। वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमें

गाधी-अर्विन-बातचीत के बारे मे नई दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा खबरे मिल जाती है। और यह बात सही थी। इसके बाद बडे-बडे अल्काब-धारी लोग थे जो गाधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड आते थे। क्योकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलन्द जो हो गया था। उन लोगो को, जो अबतक गाधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे और जब-तब उनकी बुराई करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता था। कांग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस-और उसके नेताओ के साथ मेल-जोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति जोरो के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे इनसे कोई वास्ता नहीं है।

सम्प्रदायवादी लोग भी इन घटनाओ से जगे और उन्हे यह आशका पैदा हुई कि कही ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊँचा स्थान-न रह जाय, और इसलिए कई लोग गाधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि कौमी मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल-रजामन्द हैं। अगर आप शुरुआत भी करदे तो समझौते में कोई दिक्कत पेश न आयगी।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियो के लोगो का सतत प्रवाह डा०अन्सारी के बगले की-ओर हो रहा था, जहाँकि गाधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फुरसत-के वक्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालो से हम खास करके कस्बो मे और देहात में रहने वाले गरीबो के और उन लोगो के जो जेलो मे ठूँस दिये गये थे, सपर्क में आते रहते थे, लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग जो गाधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वह पहलू जो घटनाओ

और शक्ति के साथ उनका मेल मिलाप जानता है। क्योंकि जहाँ कहीं उन्हें सत्ता और सम्मान दिखाई दी है उसी तरफ झुक गये और अपनी सहज मुस्कान से उनका स्वागत करने लगे। उनमें जितने ही हिन्दुस्तान के ब्रिटिश सरकार के अनुकूल मुख्य थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत के लोग नहीं, अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी इतने ही मुखर भक्त बन जायेंगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नई दिल्ली में घूमने जाया करता था। वहाँ एक ऐसा वक्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौका न मिलता था क्योंकि उनका शेष सारा वक्त बँटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसीको बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बात-चीत की। गुजिश्ता जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी, और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से आश्चर्य में डाल दिया। मैंने तो खयाल कर रक्खा था कि आज़ादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक ऑर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा। और अगर राज्य में हुकूमत का पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग में सचमुच कैसा ढाँचा बैठाया था; मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के

प्रबन्ध तथा दूसरे विभागो पर जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर कायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमें बेशुमार दिक्कते पेश आती हैं। मुझे यह दिखाई पडता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दें, तो इससे गाधीजी के विचारो का कुछ आधार समझने में जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है, क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताबिक राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे को बनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आजकल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दो में "ज्यादा-से-ज्यादा गधो को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरें खिलाना" है।

गाधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित-रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नही। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग और यह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (सतरह सितबर १९३४) लोकतत्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपने को 'पैदायशी लोकतन्त्र-वादी' मानते है और कहते है कि अगर 'मनुष्यजाति के निहायत गरीब-से-गरीब के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने, उनसे बेहतर हालत में अपनेको न रखने की उत्कठा से और उनके समतल तक पहुँचाने के जागृत प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतत्र की विवेचना इस प्रकार करते है—

हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के अपने लोकतंत्री-करण और प्रभाव की बढ़ती उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आने-वाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की तादाद के कारण नहीं, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है जिसकी मात्रा रोज़-ब-रोज़ बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगर अबतक विफल नहीं हुआ है तो कम-से-कम वह आज़माइश पर ज़रूर है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल होने चाहिएँ जैसे कि वे निःसन्देह हाल में हो रहे हैं, और न बड़ी संख्या लोकतन्त्र की सच्ची कसौटी है। यदि थोड़े-से व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं उनकी स्पिरिट, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो वह लोकतन्त्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा यह मत है कि लोकतन्त्र का विकास बल-प्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती, वह तो अन्दर से ही प्रकटाई जा सकती है।"

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतन्त्र नहीं है, जैसा कि वह खुद कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टों के लोकतन्त्र की धारणा से मिलता-जुलता है, क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकते हैं, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जाती और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी यह समानता थोड़ी ही है और इसको बहुत-दूर तक नहीं ले जाना है। अन्त को देखने और उस तक पहुँचने के साधनों में बहुत ज्यादा मतभेद है—खासकर उसे प्राप्त करने में साधन और बल के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतंत्री हों या न हों वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि अवश्य हैं। वह उन करोड़ों की जाग्रत और सुप्त इच्छा-शक्ति के सार-रूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज्यादा है, क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्त्ति हैं। हाँ, वह एक औसत किसान नहीं हैं। वह एक अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होंने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्यत्व प्रदान किया है और आध्यात्मिक मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक जबर्दस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और अपने प्रति भयंकर वफादारी और ममता को दूसरों के हृदय में उमड़ाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान है जो बातों को एक किसान दृष्टि-बिन्दु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत-किसान भारत है और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरत असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और प्रायः सहज-स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत सूझ रखते हैं।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लोगों और नजदीकी साथियों के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए हैं। शायद दूसरे किसी भी देश में आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है, पैगम्बरों जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है- या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने

करना कदाचित् उचित विधि नहीं है और उससे आगे चलकर तकलीफ़ और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता। हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूंकि एक कर्मयोगी है और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जो कि हमें वहां दिखाई देता था और हर हालत में वह रास्ता जिसपर वह चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमें जुदे-जुदे रास्ते चलना पड़े तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवकूफी होगी।

इन सबसे यह जाहिर होता है कि न तो हमारे विचार खुलते हुए थे और न निश्चित। हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं और जो शख्स इतनी जबरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और उच्च आकांक्षाओं के माफ़िक हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का क़ायल कर सकें तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे, और हमें यह सम्भव-नीय दिखाई पड़ता था कि हम उनको क़ायल कर सकेंगे। क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी बाग़ी है, एक क्रान्तिकारी है, जो भारी-भारी परिवर्तनों के लिए कमर कसे रहते हैं और जिन्हें परिणाम की आशंकायें रोक नहीं सकतीं।

जिस तरह उन्होंने इन सुस्त और पस्तहिम्मत लोगों को एक अनु-शासन में बांधकर काम में जोत दिया—बल प्रयोग करके या दुनयवी लालच देकर नहीं बल्कि महज़ मीठी निगाह, मृदुल शब्द और इनसे भी बढ़कर खुद अपने उज्ज्वल उदाहरण के द्वारा! सत्याग्रह की शुरुआत के दिनों में, सन् १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें

'स्लेव ड्राइवर' कहा करते थे। अब इस एक युग में तो हालत और भी बदल गई है। उमर उन परिवर्तनो के देखने के लिए मौजूद नही है। मगर हम जो ज्यादा खुशकिस्मत रहे, १९२१ के शुरू महीनो से पीछे के जमानो को देखते है तो दिल उमग और अभिमान से भर जाता है। १९२१ का साल सचमुच हमारे लिए एक अद्भुत साल था और ऐसा मालूम होता था कि गाधीजी ने अपनी जादू की लकडी से हमारे देश का नकशा ही बदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नही था जो यह समझता हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आखिरी विजयी पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक नही है। हमे तो अपने लोगो, अपनी बहनो, अपने नौजवानो और बच्चो पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होने योग दिया उसपर, फख्र था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्ही भी लोगो के लिए कीमती था। मगर हमारे लिए तो जोकि गुलाम और दलित है, दुहेरा उपकारी था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय कि जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खास मुझपर तो गाँधीजी ने असाधारण कृपा और ममता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हे खास तौर पर मेरे नजदीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओ को पूरा करने के लिए उन्होने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सभव है उन्हे समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मैं एक-एक कदम बढता जाऊँगा। उस वक्त मुझे यह लाजिमी-सा दिखाई देता था कि वह समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे,

क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था में हिंसा, बेइन्साफी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों में उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं महसूस करता हूँ कि गांधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मूल भेद है।

अब हम फिर फरवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गांधी-अर्विन-बातचीत होती रहती थीं। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाय-सराय ने गांधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय भंग पर (जोकि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यकीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी त्योंही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौका नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबके सरकार कांग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिए और हमने आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खास तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना वारिस मुकर्रर करदे और कार्य-समिति में जो स्थान खाली हो उनके लिए भी मेम्बरों को नामजद करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने की बहुत कम सत्ता थी। वे सिर्फ जेल जाने भर को थीं। और इनमें एक जोखम हमेशा ही लगी रहती थी। वह यह कि लगातार

स्थानापन्न बनाने की कारंवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोडी विषम हो जाय। इसमें स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएँ। जबतक मूल कमिटि के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमिटी की हैसियत से काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे तब कोई कमिटी नही रहेगी, और हमने बड़ा आडम्बर के साथ कहा कि कार्य-समिति की सत्ता उस अवस्था में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुप के पास चली जायगी। और हम उनको आवाहन करते हैं कि वे बिना झुके लडाई को जारी रक्खें।

यह प्रस्ताव क्या था, सग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमें दिखाया गया था और इसमें समझौते के लिए कोई गली-कूँचा नहीं रक्खा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मजूर की गई थी कि प्रधान कार्यालय के लिए दिन-पर-दिन यह मुश्किल होता जाता था कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रक्खे और नियमित रूप से हिदायतें भेजे। यह लाजिमी था। क्योकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्त्ता मशहूर स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लम-खुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० में छिपे तौर पर हिदायते भेजने, रिपोर्टें मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली भी अच्छी और उसने यह दिखा दिया कि हम गुप्त खबरे देने के काम को बडी सफलता के साथ कर सकते है। लेकिन कुछ हद तक यह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नहीं खाती थी। और गांधीजी इसके खिलाफ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायते मिलने के अभाव में से काम की जिम्मेदारी मुकामी लोगो पर ही छोडनी पडी थी। क्योकि नही तो वे ऊपर से हिदायते आने की राह देखते बैठते और कुछ काम नहीं करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता हिदायतें भी भेजी जाती थी।

इस तरह हमने यह तथा दूसरे प्रस्ताव पास किये। (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालात बदल गये थे।) और जाने के लिए बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधी रात तक गांधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात का कोई २ बजे आये, और हमें जगाकर कहा कि राजीनामा हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी कलमों को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी। लेकिन कलम नं० २[1] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो संरक्षण आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए कतई तैयार न था, मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ करने की गुंजाइश भी कहाँ रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जायं? अपने मतभेद की घोषणा करदें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम

१. दिल्ली-समझौते की कलम नं० २ (५ मार्च, १९३१) यह है—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेन्स में पहले विचार हो चुका है। वहाँ जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है, इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना) वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी इसके आवश्यक भाग हैं।"

फैसले पर उसका क्या असर पड सकता था ? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनयभग-आन्दोलन खतम हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती था कि गाधीजी समझौता कर चुके है, तो कार्य-समिति तक उसे आगे नही बढा सकती थी।

मै इस बात के लिए तो बिलकुल रजामद था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे, कि सविनय भग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममे से किसी के लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियो को वापस जेल भेज दे या जो कई हजार लोग पहले से जेलो मे पडे हुए है उनको वही पडा रहने देने के साधन बनें। जेलखाना ऐसी जगह नही है जहाँ हम अपने दिन और रात गुजारा करे, हालाकि हम बहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार करते है और उसके कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के बारे में बडे हलके दिल से बातें करते है। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गाधीजी और लार्ड अर्विन के बीच जो बाते चली उनसे लोगो के दिलो मे ये आशाये बँध गई कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खबर मिली तो उनसे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योकि इससे अधिक वह हो भी नही सकता था) हक मे थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्व की बात न छोडनी पडती हो।

जहाँतक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी मदो पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नही थी, मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातो का था। एक तो यह कि हमारा स्वतन्त्रता का ध्येय किसी भी कदर नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानो की स्थिति पर क्या असर होगा ? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ हमारे

मे तो मुश्किल से लगान वसूल होने पाया था। किसान खूब रंग में थे। और संसार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थायें और चीज़ों के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई आरज़ी समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जाएगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकर्रर क़िस्त के मुकाबिले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में क्या होगा? गांधीजी ने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होंने कहा था कि यद्यपि करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताकत या हैसियत से ज्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यक़ीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय में ख़ुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानों की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोलमोल आश्वासन था। लेकिन उन हालात में इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खतम ही कर दिया गया था।

जब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की धारा नम्बर २ से मुझे यह मालूम हुआ कि यह भी खतरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई? क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का नतीजा इसी तरह होना था? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी?

इस तरह के विचारो में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रातभर पडा रहा और अपने दिल मे ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमे से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो।

तरीका यह दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे वरसते नही।[1]

: ३५ :

## कराची-कांग्रेस

गांधीजी ने किसी से मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बडी देर तक हमने बात-चीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्व की बात खो दी गई है और न कही सिद्धान्त ही छोडा गया है। उन्होंने कलम नम्बर २ का एक खास अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की माग से मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—'भारत के हित में"। यह अर्थ मुझे खीचातानी का मालूम हुआ। मैं उनका कायल तो न हुआ, लेकिन उनकी बात-चीत से मुझे कुछ तसल्ली जरूर हुई। तो भी मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ रख दें, एकाएक कोई नई बात खड़ी कर देने के आपके तरीके से मैं डरता हूँ। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मैं कतई नही समझ सका हूँ और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया मगर कहा कि मैं खुद भी इसके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता, न यही

१- अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

पहले से बता सकता हूँ कि वह मुझे कहाँ, किस ओर ले जायगा।

कई दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ? इस समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक्त गुजर चुका था और मैं जो कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे मंजूर करते हुए उसूलन अपने को उससे अलग रक्खूँ। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती, लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज्य के बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मंजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ, जैसाकि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फ़ौरन अखबारवालों से बात-चीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर जोर दिया था और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लॉर्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई ग़लतफ़हमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतंत्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड अर्विन इस दावे को मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हाँ, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक़ है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और तहेदिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा बाद में लॉर्ड अर्विन के साथ बातचीत के दर्म्यान गांधीजी ने सत्याग्रही क़ैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक क़ैदियों

की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही कैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जानेवाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हजारों कैदी थे-जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नजरबन्द भी थे जो विना मुकदमा चलाये, बिना इलजाम लगाये या सजा दिये ही जेलो में बांध दिये गये थे। इनमे से कितने ही नजरबन्द वर्षो से वहाँ पडे हुए थे और उनके बारे मे सारे देश मे नाराजगी फैली हुई थी—खासकर बगाल में जहाँ कि बिना मुकदमा चलाये कैद कर देने के तरीके से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पेनग्विन आइलैण्ड[1] के (या शायद ड्रेफस[2] के मामले मे) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार का भी मन्तव्य था कि सबूत का न होना ही बढिया सबूत का होना है। सबूत न होना तो गैर-साबित किया ही नही जा सकता। नजर-बन्दो पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली

१—२. 'पेनग्विन आइलैंड' आनातोल फ्रान्स नामक प्रसिद्ध फ्रेञ्च लेखक की कृति है जिसमें लोकशासन हीन, यन्त्राधीन राज्य का चित्र खींचा गया है। ड्रेफस नामक एक फरासीसी सैनिक अफसर था जिसपर पिछली सदी के अन्त में सरकारी खबरें बेचने का झूठा इल्जाम लगाया गया था और लबी सजा दी गई थी। इसपर इल्जाम दोबार झूठ साबित हुआ, दो दफा उसपर फिर मुक़द्दमा चलाया गया और अन्त में बहुत सालो तक कैद भोगने के बाद बेचारा निरपराध साबित हुआ। पंडितजी का सकेत जिसकी तरफ है ऐसा पात्र तो 'पेनग्विन आइलैंड' में सम्भवित है, परन्तु 'सबूत का न होना ही बढिया सबूत है'- यह तो ड्रेफस के केस की याद दिलाती है। ड्रेफस के हाथ की सही का एक भी कागज मिलता नहीं था, इस सफाई के विरोध में यह कहा जाता था कि 'सबूत का न होना ही बढिया सबूत है' क्योंकि सबूत हो तो सच-झूठ प्रमाणित करना पड़े! सबूत रक्खा ही नहीं, यह साबित करता है कि इसपर जुर्म साबित होता है। —अनु०

या इनमें ज्यादातर क्रान्तिकारी हैं। गांधीजी ने समझौते के अंग-स्वरूप तो नहीं, परन्तु इसलिए कि बंगाल में राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति में आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इनपर रजामन्द न हुई।

भगतसिंह की फांसी की सजा रद कराने के लिए गांधीजी ने जो बारबार पैरवी की उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर जोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गई।

उन्हीं दिनों की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों की मनःस्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई है। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आजाद है। मैंने उसे पहले भी कभी नहीं देखा था। हां, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जबकि १९२१ में असहयोग-आन्दोलन के जमाने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम भंग करने के अपराध में जेल में उसे बेंत

को भी कुछ शान्ति मिलेगी या नही ? क्या हमारे साथ अब भी विद्रोही का-सा बर्ताव किया जावेगा ? जगह-ब-जगह हमारा पीछा इसी तरह किया जायगा ? हमारे सिर के लिए इनाम घोषित ही होते रहेगे और हमारे सामने फाँसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या हमारे लिए शान्ति के साथ काम-धंधे में लग जाने की भी कोई सभावना होगी ? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियो का यह विश्वास हो चुका है कि आतकवादी तरीके बिलकुल बेकार है और उनसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नही था कि शान्तिमय साधनो से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है, मगर वह आतकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आजादी के लिए तो उसने आतकवाद को खारिज ही कर दिया था। फर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-ब-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूँगा ? उसने कहा—इधर हाल में जो आतककारी घटनायें हुई है वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए की गई है।

मुझे आजाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद में उसका और सबूत भी मिल गया कि आतकवाद पर से उन लोगो का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप में तो यह अवश्य ही प्राय मर गया है, और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की-दुक्की घटनायें हो जाती है वे या तो किसी वजह से या बदले मे या बचाव मे या किसी की लहर से हुई घटनायें है, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नही है कि पुराने आतकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये है या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये है। हाँ, अब वे पहले की तरह आतकवादियो की भाषा में नही सोचते। मुझे तो ऐसा

मालूम होता है कि उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फ़ासिस्ट[1] बन गई थी।

मैंने चन्द्रशेखर आज़ाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का क़ायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूँ?', मेरे पास कोई जवाब न था। ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे। क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा खुद उनके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ़्ते बाद ही जब गांधी-अर्विन बातचीत चल रही थी, मैंने देहली में सुना कि चन्द्रशेखर आज़ाद पर इलाहाबाद में पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक्त किसी एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपने को बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ़ से गोलियाँ चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर आखिर गोली लगने से वह मर गया।

आरज़ी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे प्रान्त में सविनय भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम

१. फ़ासिस्ट पद्धति आज मुसोलिनी की पद्धति समझी जाती है। लेकिन यहाँ फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का अर्थ है—'रक्षित हित रखनेवाले वर्ग के लाभ के लिए बलपूर्वक बनाई गई डिक्टेटरशाही।' ऐसी डिक्टेटरशाही आज इटली में चल रही है और जर्मनी में भी है। पण्डितजी का कहना यह है कि हिंसावादी भी आज इस तरह की डिक्टेटरशाही बनाने की तरफ़ झुक रहे हैं।

कार्रवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओ ने हमारी हिदायतो का पालन बडे ही नियम के साथ किया। हमारे साथियो में ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज थे, और कितने ही तो आगबबूला भी थे। इधर उन्हें सविनय भग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहाँतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल सगठन ने इस नई व्यवस्था को स्वीकार करके उसपर अमल भी किया, हालांकि कितने ही लोगो ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे में इसका क्या असर होगा ? क्योकि वहाँ कुछ क्षेत्रो मे करबन्दी-आन्दोलन तेजी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही कैदी रिहा हो जायँ। वे हजारो की तादाद में छूटते थे और कुछ समय बाद सिर्फ वही लोग जेल मे रह गये जिनका मामला बहस-तलब था—उन हजारो नजरबन्दो के और उन लोगो के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए थे और जो रिहा नही किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए कैदी जो अपने गाँवो और कस्बो में गये तो स्वभावत लोगो ने उनका स्वागत किया। कई लोगो ने सजावट भी की, वन्दनवारे लगवाईं, जुलूस निकाले, सभायें की, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह जमाना जबकि चारो ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखाई देती थी, सभा और जुलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले जरा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल मे आनेवालो में विजय का भाव भी आ गया था। यो अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था, लेकिन जेल से आने पर (अगर

जेल में स्पिरिट कुचल न दी गई हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुण्ड-के झुण्ड लोगों के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का जिक्र इस लिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा ऐतराज़ किया था, और हम पर इसके लिये इल्जाम लगाया गया था? हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सम्बन्ध में ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक उस चीज़ के कमज़ोर होजाने से बढ़कर दुःखदाई बात दूसरी नहीं हो सकती जिसे वे अपना रौब समझते हैं। जहांतक मुझे पता है, हममें से किसी को इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगों की इस गुस्ताखी पर सिर से पैर तक आग-बबूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानों उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो उस पर हम आश्चर्य से दंग रह गये। जो अखबार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं वे तो अब तक भी इससे बरी नहीं हुए हैं। अब भी वे, हालांकि तीन-साढ़े तीन साल होगये हैं, उन मार्मिक और बुरे दिनों का जिक्र भय से कांपते हुए करते हैं जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-रौब करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी फतह हासिल की हो। अखबारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो रोष उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी, इससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हें अपने दिल को कितना मन मसोस कर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन में कैसी गांठ पड़ गई

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगो में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने' का कोई भाव नही था और नेताओ मे तो और भी नही। लेकिन हाँ, अपने भाइयो और बहनो के त्याग और साहस पर हम लोगो के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उस पर हमें फख्र जरूर है। उसने हमें अपनी ही निगाहो में ऊँचा उठा दिया, हमे आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खीच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको अपने मजिले-मकसूद के ज्यादा नजदीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव मे तो हममें से बहुतो को यही खयाल रहा कि दिल्ली-समझौते में तो सरकार ही ज्यादा फायदे में रही है। इसमें से जिन लोगो ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर है और एक बडा और एक मुश्किल सग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रो के द्वारा लडाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की स्पिरिट को तोडने के दोषी बताये गये।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानो के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह भी थी कि जहाँ तक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरत ही युक्तप्रातीय सरक़ार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू करदी। बहुत दिनो के बाद सूबे के कुछ आला अफसरो से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नही रक्खा था—मै किसानो के मामले पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लबी लिखा-पढी भी चली। प्रान्तीय कमेटी ने हमारे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त

को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सपर्क में रहे। सरकार की तरफ से ये बातें मान ली गई कि हा, किसान वाकई सकट में हैं, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये हैं, और एक औसत किसान लगान देने मे असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि कितनी छूट दी जाय, लेकिन इस विषय में कुछ कारंवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ में था। मामूल के मुताबिक तो सरकार जमीदारो से ही ताल्लुक रखती है, सीधा काश्तकारो से नही, और लगान कम करना या उसमें छूट देना जमीदारो का ही काम था। लेकिन जमीदारो ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जबतक सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किसी भी सूरत में अपने काश्तकारो को छूट देने की ऐसी पडी नही थी। इसलिए फैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानो से कह दिया था कि कर-बन्दी की लडाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनो तक सरकार ने कुछ भी कारंवाई नही की। गालिबन गवर्नर सर मालकम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। इसमें तुरत और व्यापक परिणाम लानेवाली कारंवाई करने की जरूरत थी। ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कारंवाई करने में हिचकते थे, और सर मालकम हेली के आने तक (गर्मियों भर) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और टाल-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारो को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पडा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब होगई। जेल में भी मेरी तबीयत अच्छी नहीं। उसके बाद पिताजी की मृत्यु ने धक्का

लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुए। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने मे है, जहाँ की यात्रा मुश्किल होती है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिंदुस्तान के शेष हिस्सो से बिल्कुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ दूर-दूर के हिस्सो से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिजाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। लोगो के दिलो मे शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश मे बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सतोष था। कांग्रेस-सगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माग का बड़ी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उसके मन में अभिमान था। अपने लोगो के प्रति विश्वास का भाव था और उसके उत्साह में सयम दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबर्दस्त प्रश्नो और खतरो के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जानेवाले कार्यों के मगलाचरण थे और वे यो ही बिना सोचे विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौते को यद्यपि बड़ी बहुमति ने पास कर दिया था, तो भी वह लोकप्रिय नही था, और न पसद ही किया गया था, और लोगो के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमे तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियो में लाकर पटक देगा। कुछ ऐसा-सा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल है उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस के अधिवेशन के ठीक पहले ही एक और देश को नाराजगी का बाइस पैदा होगया था— भगतसिंह का फासी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना

की तरफ तेज थी और दूसरी तरफ से भी होने के कारण वहाँ पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें दौरदौरा तो गांधीजी का ही था। अब्दुलगफ्फारखां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कहीं भी जाते लोग तालियों से उनका स्वागत करते। क्योंकि अप्रैल १९३० में गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोड़ी है। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि ये कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के थे। सच पूछो तो उनका नाम खुदाई खिदमतगार था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ में कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी जरा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह तो राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था। मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैंने इन्कार कर दिया, मगर बाद को मुझे यह अपनी कमजोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई

दी। या तो मुझे इसके हक मे होना चाहिए या इसके खिलाफ, यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले में टालमटोल करूं और लोगो को अटकले बाँधने के लिए स्वतन्त्र छोड दूं। अत बिलकुल आखिरी क्षण में खुले अधिवेशन में प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यो-के-त्यो उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मजूर करले। मेरा वह भाषण जो ऐन वक्त पर अन्त स्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिसमें न कोई अलकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणो से ज्यादा सफल रहा जिसके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मै और प्रस्तावो पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय है। आखिरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी। क्योकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस में एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अवतक कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नो के मुकाबिले से बचती रहती थी। जहाँतक ग्राम-उद्योगों से और आमतौर पर स्वदेशी को बढावा देने से ताल्लुक था, उसको छोडकर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगो और नौकरियो के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायो के प्रचार के द्वारा ग़रीबो का बोझा कम करके अमीरो पर बढाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशा में, उठाया गया, लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्राय हर बात को आसानी से मजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और नि सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार में बडे-

बड़े लोगों को भारी और गहरे विचार में डाल दिया। कदाचित् उन्होंने अपनी सदा की अन्तर्दृष्टि के मुताबिक यह भी कल्पना की कि बोल्शेविकों का रुपया चुपके-छिपकर कराची जा पहुँचा है और कांग्रेस के नेताओं की नीति भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर में रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण में घिरे हुए उनके दिमाग को रहस्य और भेद की कहानियों और कल्पित कथाओं के सुनने का बड़ा शौक़ रहता है। और फिर ये क़िस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोड़ा-थोड़ा करके अपने प्रीति-प्राप्त अखबारों में दिये जाते हैं और साथ में यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते हैं। उनके इस मान्य प्रचलित तरीक़े से मौलिक अधिकार वग़ैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार जिक्र किया गया है और मैं उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मतियों के निदर्शक हैं। क़िस्सा यहाँतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टों से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढाँचा बनाया है और उसने कराची में वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुखालिफ़त के लिए तैयार रहिए। और गांधीजीने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी तथा आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहाँतक मुझे पता है, यों साफ़-साफ़ लिया नहीं गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है। मुझे छिपे तरीक़ों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं, इसलिए मैं सीधे ही कह दूँ कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊँचे

आसनवालो के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले, कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या खयाल करते है। उन्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते है। क्योकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियो की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है।

जहातक गाधीजी से ताल्लुक है, उनमे मेरी घनिष्ठता पिछले सतरा सालो से है और मुझे उन्हे बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह खयाल कि मैं उन्हें चुनौती दूँ, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह मे भयानक है। हा, हम एक-दूसरे का खूब लिहाज रखते है और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते है, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारो में बाजारू तरीको से हरगिज काम नही लिया जा सकता।

कांग्रेस मे इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का खयाल पुराना है। कुछ सालो से युक्तप्रान्तीय काग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० का० कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले । १९२९ में उसने अ० भा० का० कमिटी में कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फरवरी १९३१ में, जबकि मै गाधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होने आर्थिक विषयो पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और सूचनायें कीं। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने

के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] हो जावे। मुझे यह अजीब लगता है, [illegible] [illegible] का [illegible] से कुछ [illegible] [illegible] [illegible] नहीं। आखिर गांधीजी, और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विचार था और कुछ मेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी में और खुले में आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० का० कमिटी को सौंप दिया गया कि वह निश्चित दिशा में उसको और विशद और व्यापक बनावे।

हां, जब मैं उस प्रस्ताव का मसविदा बना रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, उनके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इनका कोई कोई ताल्लुक नहीं था, और मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी खिल्ली उड़ावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। ताहम मैंने उन्हें फौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पांच मिनट से ज्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अकसर मुझे चोट पहुँचाने में कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है, ताहम मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए, और मुसीबत में थे, तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूँ। मैं उनकी तरफ आकर्षित

हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ इसलिए भी खिचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगो की उनकी ओर दिलचस्पी नही थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपनेको कम्यूनिस्ट कहते है वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालो तक रूस में रहने और कोमिनटर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड गये थे या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यो हुआ इसका मुझे पता नही है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या है और पुराने कम्यूनिस्टो से किस बात में उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्राय हरेक के द्वारा अकेला छोडे जाते देखकर मुझे पीडा हुई और अपनी आदत के खिलाफ मै उनके लिए बनाई गई डिफेंस कमिटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियो से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में है, बीमार है और प्राय तनहाई में रह रहे है।

कराची में कांग्रेस-अधिवेशन का एक आखिर कार्य था कार्य-समिति का चुनाव। यो तो उसका चुनाव अ० भा० का० कमिटी द्वारा होता है मगर ऐसा रिवाज पड गया था कि उस साल का सभापति (गांधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियो की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० कां० कमिटी में मजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची मे हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नही हुआ था। अ० भा० कां० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरो ने इस चुनाव पर एतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का कोई भी आदमी नही था। एक ऐसी अ० भा०

कमिटी में जिसमें केवल पन्द्रह ही मेम्बर हों, यह सरासर असंभव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहें। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हम कुछ भी इल्म नहीं था, बिलकुल जाती और पंजाब का मुकामी। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाजें उठाई थी वे (पंजाब में) कांग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार[1] में शरीक हो गये। कांग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गये और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। निचले मध्यमवर्ग के लोग उसमें थे और मुस्लिम जनता से उसका बहुत संपर्क था। इस तरह वह एक जबर्दस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों के, जो कि या तो हवा में या दीवानखाने में या कमिटियों के कमरों में इकट्ठा होते थे, लुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज्यादा मजबूत था। अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ चले गये, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बांध रक्खा था। इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुंधलासा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यों के मुसलमान-आन्दोलन में, खासकर काश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और फिरका-परस्ती दोनों अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल गये हैं। कांग्रेस से अहरार-पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही मुजिर हुआ। मगर कराची में इसका हमें क्या पता था? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका अहसास होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये हों। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। उसके असली कारण तो और ही है, और वे गहरे हैं।

१. अहरार के मानी हैं आत्म सम्मान रखनेवाले।

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दंगे की खबर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगों ने, जिनकी मदद के लिए वह वहां गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी भयंकरता की बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज़ नहीं कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प में हजारों आदमी उन्हें जानते थे और कुछ प्रांत के हम सब लोगों के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवाँमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागने वाले। अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिंदू-मुसलिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि बेवकूफ हाथों ने उन्हें जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यंत उज्ज्वल रत्न से महरूम कर दिया। जब यह खबर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हें ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई।

: ३६ :

# लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर ज़ोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुज़ारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की अच्छी सम्भावना दिखाई न दी क्योंकि मैं जहाँ भी जाता वहीं राजनैतिक साथी मिलते ही, और वहीं समस्याएँ भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नज़दीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में यूरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौक़ा था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक-साथ शान्ति से कहीं विश्राम लिया हो, और हमें कोई चिन्तायें न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मैं समझता हूँ शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में सिवा नुवारा एलिया के दो हफ़्तों के ज़्यादा विश्राम मिला ही नहीं। वहाँ के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र भाव प्रदर्शित किया। यह उनकी सद्भावना बहुत अच्छी तो लगती थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवारा एलिया में बहुत-से श्रमिक, चाय-बागान के मज़दूर और दूसरे लोग रोज़ कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीज़ें—जंगल के फूल, सब्ज़ियाँ, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ़ देखा करते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट

की इन कीमती चीजो से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था मे भी हमें दे जाते थे, भर गया था। यह चीजे हम वहाँ के अस्पतालो और अनाथालयो को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजो और ऐतिहासिक खडहरो, बौद्ध मठो और घने जगलो को देखा। अनुराधापुर मे मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मै देहरादून जेल मे था, तब लका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मै अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बडा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गभीर शान्त भावो से मुझे बडी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौको पर बडी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्पक प्रतीत हुए है। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नही है, क्योकि बौद्ध-धर्म के आसपास जो मताग्रह जम गये है उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नही है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्पित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बडा आकर्पण है।

मैने मठो में और सडको पर बहुत-से 'भिक्षुओ' को देखा, जिन्हे हर जगह, जहाँ कही वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभी के चेहरो पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फिक्रो से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आम तौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमता नही झलकती थी, उनकी सूरत से दिमाग के अन्दर होनेवाला भयकर सघर्प नही मालूम पडता था। उन्हे जीवन महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मै उनकी तरफ कुछ रश्क के साथ, आँधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हलकी उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मै तो जानता

था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आंधी और तूफ़ान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफ़ान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफ़ाक़ से आंधी भी उठती न हो तो भी क्या वहां मैं सन्तोष और सुख से रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह सुहावना ही था। वहां आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंका-द्वीप उस समय मेरी तो वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही ख़त्म हो गया, और किसी अफ़सोस के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमि और वहां के लोगों की कई बातों की याद मुझे अब भी आया करती है, जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे स्मरण है वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—‘मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आंखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुक़ाबिला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं हटेगा।

लका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुजरे, जो ज्यादातर देशी रियासते हैं। इनमें से कुछ दूसरो से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछडी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढे हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धो में आगे बढा हुआ है, और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियो से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत मे अधिकारियो की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कही लोगो के खयालात खतरनाक न हो जायें। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आजादी न थी। और, हालाकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोटने और सांस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारो ने उतनी नागरिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बगलोर शहर में, एक बडे मजमे के अन्दर, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोडे दिनो बाद ही वह खम्भा तोडकर टुकडे-टुकडे कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बडा रज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही गैरकानूनी सस्था करार दे दी गई है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नही बन सकता, हालाकि ब्रिटिश भारत

में सविनय भंग रुक जाने के बाद से वह कानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और ट्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं। किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की जरूरत ही न हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधायें दी थी। हैदराबाद में राजनैतिक सभायें कभी नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभायें भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं, और उनके लिए भी खास इजाज़त लेनी पड़ती है। वहाँ कोई भी अच्छे अखबार नहीं निकलते, और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपनेवाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की वह नीति इतनी सख्त है कि माडरेट अखबारों की भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफ़ेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कस्बे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को पता होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में खूब मजबूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एंटियोक या और किसी कस्बे

में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज़ ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण में नेस्टिेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतो में मिल चुके होगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान मे उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर में बनारस तक फैल हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लडकियो, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनो हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्ही के मकान पर इकट्ठा हो गईं और शायद कमला ने उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवत पुरुषो के बनाये हुए कानूनो और रिवाजो के खिलाफ स्त्रियो के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियो से कहा कि वे पुरुषो से बहुत न दबे। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहा आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नही सुनती, न मेरी बात मानती है, बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्त्यार कर लेती है।

बम्बई से लका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बम्बई आ गये, और मै फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भँवर में कूद पडा। कार्य-समिति की बैठके कई जरूरी मामलो पर विचार करने के लिए होनेवाली थी—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गभीर होती

[illegible] क्या गांधीजी को वहां जाना चाहिए ?

## : ३७ :

## समझौता-काल में दिक्कतें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ्रेन्स के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आखिरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और खुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नई-नई घटनायें परिस्थिति को निरंतर बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली और मुश्किल समस्यायें खड़ी थीं।

ब्रिटिश-सरकार और उसके दोस्तों की तरफ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखायें खिंच चुकी हैं, और अब तो इनमें रंग भरना ही बाकी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नहीं समझती थी और

उसकी निगाह में तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाकी थी, सो भी करीब-करीब कोरे कागज पर। यह तो सच था कि दिल्ली मे समझौते के द्वारा सघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और सरक्षणो या प्रतिबन्धो का विचार भी मजूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो बहुत पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए सघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नही था कि हमने खास उस तरह का सघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ्रेन्स ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी सघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हाँ, सरक्षणो या प्रतिबन्धो के विचार का मेल बैठाना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने से स्वाधीनता में काफी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दो से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोडी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नही। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ कर दिया था कि हमें वही विधान मजूर हो सकेगा जिसमें फौज, वैदेशिक मामलो और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशो की (अर्थात् अधिकांश ब्रिटिशो की) देनदारी मजूर करने से पहले अपने कर्जे के प्रश्न की जाँच करने का हक हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारो सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक तबदीलियो को करना चाहते हैं। ये सब बाते गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कई निश्चयो और हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढाँचे के भी खिलाफ पडती थी।

कांग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोणो में भारी फर्क था, और अब इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता

था। करीब-करीब सभी कांग्रेसवालो को गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय होने की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नही होते थे, और आखिरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे, कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो जरूरी बातें थी, जिनके कारण हमारा गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आज़ादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहाँ ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष खड़ा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुकाबिला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब होता कि इस आग का खयाल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितो की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेज़ी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था, खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नही पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय भंग के कुछ कैदी छोड़ दिये गये। लेकिन हज़ारों राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय भंग के क़ैदी नही समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नज़रबन्द

भी जेलो या नजरबन्द कैम्पो मे ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणो या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के कारण नई गिरफ्तारियाँ अकसर हो जाती थी, और आम तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बन्द नही हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतकवाद के कारण बगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियो और सविनय भग के मुकाबिले में आतक-वादी हलचले तो बहुत थोडी और बहुत छोटी ही रही है। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ ध्यान बहुत खिच जाता था। इन हलचलो से दूसरे प्रान्तो की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शान्ति-पूर्ण लडाई के लिए माफिक न था। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जोकि आतकवादी और गैर-आतकवादी बहुत-कुछ दोनो पर निष्पक्ष समानता से पडा।

पुलिस और मुकामी इन्तजामी अफसरो के लिए यह मुश्किल था कि वे खास कानूनो और आर्डिनेन्सो का (जो आतकवादियों के लिए बनाये गये थे) कांग्रेसवालो, मजदूरो और किसानो के कार्यकर्ताओ और दूसरे लोगो पर, जिनकी प्रवृत्तियो को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करे। यह मुमकिन है कि कई नजरबन्दो का, जिन्हे अभीतक कई वर्षो से बगैर इल्जाम लगायें, मुकदमा चलाये या सजा दिये बन्द रक्खा गया था, असली कुसूर आतकवादी प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौका तक नही दिया गया कि वे अपनी सफाई दे सके, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतो में मुकदमे इसलिए नही चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हे सजा दिलाने लायक काफी सबूत नही है, हालांकि यह सभी जानते है कि सरकार विरोधी जुर्मो के लिए ब्रिटिश भारत के

कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे है और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अकसर होता है कि कोई आदमी अदालतों से तो बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नजरबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के एक पेचीदा सवाल के सबब से कांग्रेस-कार्य समिति के लोग अपनेको बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी-न-किसी शकल में बंगाल का कोई-न-कोई मामला ज़रूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए कुछ कमजोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहाँ होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति में, वे और कर भी क्या सकते थे। बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष रहा था, और वहाँ यह खयाल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह खयाल बिलकुल ग़लत था, क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को असली मदद की शकल में कैसे ज़ाहिर करे। इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रान्तीय-सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुज़ारी के छूट के फ़ैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान वसूली शुरू करदी। सामूहिक बेदखलियाँ और कुर्कियाँ होने लगीं। जब हम लंका में थे तभी, जबरदस्ती लगान-

वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुकामों पर किसानों के दंगे हो गये थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमें ज़मींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। संयुक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली ने किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मैं स्वयं गया ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार बेदखलियाँ चलने और बढ़ने लगीं। ज्यों-ज्यों ज़मींदार और सरकार दोनों का मिलकर दबाव बढ़ता गया, और हज़ारों किसान अपनी ज़मीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये। मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानों के इस उभाड़ और मुसीबत में एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारों के भाव बहुत कम हो जाने से गरीब लोगों के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नहीं थी तो, पिछले कई सालों की बनिस्बत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त में भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई। वहां विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहां की हुकूमत विशेष कानूनों और आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे से कुसूरों पर भारी-भारी सज़ाओं के कारण एक फौजी प्रबन्ध जैसी हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुलगफ्फारखां ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छ फीट तीन इंच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गाँव-गाँव पैदल

जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र क़ायम करते थे। जहाँ कही वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहाँ-वहाँ वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई खिदमतगार' की शाखायें फैल गईं। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ गोल मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नही ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हो या नही, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेजी से बढने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नही किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इनमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नही रह सकती थी।

इस बडे आदोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुलग़फ्फ़ारखा ही थे—जिन्हे 'फ़ख्रे-अफ़गान', 'फख्रे-पठान', 'गाधी-ए-सरहद' वगैरा नामो से याद किया जाने लगा। उन्होने सिर्फ अपने चुपचाप और एक-निष्ठ काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलो से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में आश्चर्यजनक लोकप्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते है उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न है, वह सियासी चालबाजियो और पैंतरेबाजियो को नही जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे, शरीर और मन दोनो में सीधे, आदमी है। वह शोर-गुल और बहुत बकवास से नफरत करते है। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढाँचे के अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगो के

लिए भी आजादी चाहते हैं, मगर विधानो और कानूनी बातो के बारे में उनका दिमाग सुलझा हुआ नही है और न उनमें उन्हे कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज को पाने के लिए जोरदार काम की जरूरत है, और गाधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढिया तरीका, जो उन्हे जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस मे न पडते हुए, और अपने सगठन के लिए कायदो के मसविदे के फेर में न पडते हुए, उन्होने सीधा सगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमे उन्हे खूब कामयाबी मिली।

गाधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो, अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलो पर बहस करने के लिए उन्हे उनसे मिलना पडा, और उनका ताल्लुक बढा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगो की बनिस्वत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूकि उनका अहिंसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगो को समझा सके कि उभाडे जाने पर भी शान्ति रखने का बडा भारी महत्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रान्त के लोगो ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगो के बारे मे आम तौर पर यह कहना बिलकुल गलत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरो में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ खडी हो तब वह क्या करेगी यह पहले से नही कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर काबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रान्त के लोगो ने १९३० में और बाद के बरसो में पेश की थी वह बिलक्षण ही थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सीमा-प्रान्तीय गांधी' को शक की निगाह से देखते है। वे उनकी बातो

का यकीन नहीं करते। उन्हे उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के बहुत नजदीक आ गये है, और उनके बीच में गहरा भाईचारा और परस्पर आदर और कद्रदानी का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलगफ्फारखा को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते है। मगर वह महज एक साथी ही नही है, उससे कुछ ज्यादा है। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाकी हिस्सो में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगो के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी है, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे है।

खान अब्दुलग़फ्फारखा से पहचान होने के बहुत पहले ही मै उनके भाई डाक्टर खानसाहब को जानता हूँ। जब मै केम्ब्रिज में पढता था, तब वह लन्दन के सेण्ट टॉमस अस्पताल में शिक्षा पाते थे, और बाद में जब मै इनर टेम्पल के कानूनी विद्यालय में पढता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मै लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हो। मै तो हिन्दुस्तान चला गया, मगर वह इंग्लैण्ड में ही रह गये और महायुद्ध के जमाने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसो तक वहीं रहे। इसके बाद मैने उन्हे नैनी-जेल में देखा।

सीमा-प्रान्त के लालकुर्तीवालो ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका सगठन अपना अलग ही था। यह एक विचित्र स्थिति थी। दोनो को जोडनेवाली कडी तो अब्दुलगफ्फारखा थे। १९३१ की गर्मियो में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रान्त के नेताओ के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवालो को कांग्रेस का ही अग बना लिया जाय। इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज़ बन गये।

गांधीजी की ख्वाहिश थी कि वह कराची-कांग्रेस के बाद फौरन सीमा-प्रान्त में जायँ, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी अधिकारियों ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि मुझे वहाँ इन बातों का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय, मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहाँ मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नहीं समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त में चले जायँ।

इन सवालों के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था, साम्प्रदायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालाँकि बार-बार यह नई और अजीब शकल में सामने आती थी। गोलमेज़ कान्फ्रेन्स के सबब से इसे और भी महत्व मिल गया। क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसी को सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामज़द किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिसमें साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्व दिया जा सके, और सामान्य स्वार्थों के बजाय इन भेद-भावों पर ज़ोर दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, और ज़ोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानों के किसी भी नेता को नामज़द करने से ही इंकार कर दिया। गांधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल में उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फायदा न होगा। इसलिए उन्होंने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जबकि सब सम्बधित दलों के बीच में साम्प्रदायिक समस्या पर कोई

समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिल्कुल ठीक थी, मगर कमिटी ने यह बात न मानी, और यह फ़ैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर, कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नही कर पाये है, उन्हें जाने से इकार न करना चाहिए। कमिटी ने विविध सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूढने की कोशिश भी की। मगर इसमें ज्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियो में, छोटे-मोटे कई मसलो के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी काग्रेस-कमिटियो से हमारे पास बराबर शिकायते आ रही थी कि मुकामी अफसरो ने फला-फला बात में दिल्ली के समझौते को तोड दिया है। हमने उनमें से कुछ बडी-बडी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दी, और उधर सरकार ने भी काग्रेसवालो के खिलाफ समझौता तोडने के आरोप लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाये गये, और बाद मे वे अखबारो मे भी छाप दिये गये। यह कहने की जरूरत नहीं है कि इससे भी कांग्रेस और सरकार के ताल्लुकात सुधरे नहीं।

फिर भी, इन छोटे-छोटे मामलो के सम्बन्ध में सघर्ष खुद कोई बडा महत्व नही रखता था। इसका महत्व यही था कि इससे एक दूसरे ही अधिक मौलिक सघर्ष के बढने का पता लगता था। यह मौलिक सघर्ष व्यक्तियो पर निर्भर नहीं करता था, बल्कि हमारे राष्ट्रीय सग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामो की आर्थिक व्यवस्था में असामञ्जस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस सघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नही था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों में अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह

आन्दोलन निचले मध्यम वर्गों में फैल गया, और देश में एक ताकत बन गया, और फिर उसने देहात की जनता को भी उठाना शुरू किया, जिन्हें आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सकें। पुराने जमाने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे जमीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे। कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनों के व्यवसायों का मुकाबिला नहीं कर सके। जमीन का बोझ बढ़ने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानों की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फर्क न कर सकी। और फिर ये गाँव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझों से लदे हुए थे, सहसा, संसार के बाजारों के मुकाबिले में डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। बराबरी के नाते से विदेशों का मुकाबिला कर नहीं सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औज़ार पुराने ढंग के थे, और जमीन के बँटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग—जमींदार और काश्तकार दोनों ही—सिवा उन दिनों के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमींदारों ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे जमीन-मालकों और काश्तकारों दोनों ही के, मुफलिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिंच आये। खेत-मजदूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग जिनके पास जमीन नहीं थी और जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि जमीन के बँटवारे की

प्रणाली में सीमित परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यम-वर्गीय नेताओं में किसी ने भी उनकी इन इच्छाओं को साफ़ तौर पर प्रदर्शित नहीं किया।

१९३० का सविनय भंग-आन्दोलन उद्योग-धन्धों और कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, और इसका पता पहले तो उनके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी कांग्रेस और सविनय भंग की तरफ़ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नहीं था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर ज़मींदारी प्रदेश में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तब्दीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि ज़मींदारी तरीका अब इस ज़माने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाकी नहीं रही थी। मगर ब्रिटिश-सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति में, इस भूमि-प्रणाली में कोई बुनियादी तब्दीली करने की हिम्मत नहीं दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुकर्रिर किया था, तब भी उसके निर्देशों में ज़मीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय, संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति में ही निहित था, और वह किसी प्रकार के मोहक शब्दों या समझौते से दूर नहीं किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा ज़मीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह संघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फ़त निकले, इसकी कोई सम्भावना न थी। आरज़ी इलाजों से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इज़हार करना बन्द

कर दे, मगर दोनो बातो से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा खयाल है कि, ज्यादातर सरकारो की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह विचार है कि हिन्दुस्तान में ज्यादा गडबड 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही वाहियात विचार है। पिछले पन्द्रह बरसो से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसने अपने करोडो देशवासियो की स्नेह-श्रद्धा और भक्ति सपादन की है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्वपूर्ण तो वे आम लोग लोग ही रहे है जो उसके आदेशों का मानो आँख बन्द करके मानते रहे है। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हे आगे धकेलने वाली, बडी-बडी ऐतिहासिक प्रेरणायें थी, जिन्होने लोगो को तैयार कर दिया और अपने नेता की बासुरी सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओ के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हे कोई भी काम करने की स्फूर्ति नही दे सकते थे। गांधीजी में नेतृत्व का यही खास गुण था कि वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगो की नब्ज पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और कार्य के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० में हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढती हुई सामाजिक शक्तियो के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बडी ताकत मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ अनिवर्चनीय-

ता तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद तो था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ झुके, और उन्होने ही उसको असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलो ने कांग्रेस के बनाये इकरारनामो पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगी जिनसे कांग्रेस उनपर नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लदन में बैठे पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस में अच्छे-अच्छे कानूनी मुद्दो पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगो के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताकत जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढता ही रहा, किन्ही अभिमान-भरे भाषणो के कारण नही, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओ के कारण। इसमें शक नही कि शायद कांग्रेस के नेताओ को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइया और खतरे आनेवाले हैं, और इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फिक्र रक्खी।

देश में दो संस्थाओ के पास सत्ता होने की यह अस्पष्ट भावना कुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभने वाली थी। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नही, क्योंकि दृश्य सत्ता तो सोलहो आना सरकारी अधिकारियो के हाथ में ही थी, फिर भी, लोगो के दिमागो में उसका अस्तित्व था, इसमें तो शक नही। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि खास के कुछ ऐसे-वैसे भाषणो या जुलूसो से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना अनिवार्य ही दीखने लगा। कांग्रेस अपनी

खुशी से खुदकुशी नहीं कर सकती थी, और सरकार भी इस द्वैध-सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, और कॉंग्रेस को कुचल डालने को तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लंदन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक होसके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिसमें उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख़ सख़्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह ख़बर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख़्त और करारा आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करने वाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, राजनीति के उसूलों की निगाह से न देखकर व्यक्तियों की निगाह से देखने की लिबरलों की तरह, आदत हो गई है। वे यह नहीं समझते कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्य-वादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, असल में यह हुआ कि परि-स्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को कॉंग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के सम्बन्ध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणायें इसके खिलाफ़ थीं। उनके दिमाग़ में यह ख़याल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कॉंग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा गिराया जाय। यह ख़याल बड़ी बेवकूफ़ी का था, मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस

में दि[illegible] की [illegible] की [illegible] गई है। खैर, कुछ [illegible] मालूम हो, [illegible] और उसने उनका बोझ और भी मजबूती से जकड़ा, और पुराने किस्से के बादशाह की तरह उसने हमसे कहा कि 'मेरी छोटी उंगली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; उसने तुम्हें कोड़े लगवाये थे, तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊँगा।'[1]

मगर अभी नीति बदलने का वक्त नहीं आया था। अभी तो यही जरूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो, तो कांग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस में जरूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय उपस्थित कई सवालों पर बातचीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, खासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौके मिले। मैं सिर्फ

१ ये शब्द बाइबिल के पुराने अहदनामे (१ किंग्ज, १२-१०) से लिये गये हैं। ये शब्द पैगम्बर के नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यहूदी बादशाह के सलाहकार के हैं। सुलेमान बादशाह का लड़का जब गद्दी पर बैठा तो प्रजा ने उससे जाकर प्रार्थना की—हम आपके वफादार हैं, आपके वालिद के जमाने में जो जूआ हमारे कंधे पर था उसे बराय मेहरबानी हल्का कर दीजिए।' बादशाह के पिता के वृद्ध सलाहकारों ने सलाह दी कि यह बात मंजूर कर लेनी चाहिए। मगर उसके युवक सलाहकारों ने कहा ये लोग यों सीधे न होंगे। इनसे आप कहिए—मेरे बाप की कमर से मेरी छोटी उंगली भी ज्यादा मोटी है। मेरे पिता के समय जूआ भारी था तो मैं उसे और भारी कर दूंगा। उन्होंने तुम्हें कोड़े लगवाये थे तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊंगा।" —अनु०

युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ-साफ बातें हुईं, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया, कि फरवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यंत्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ उसे चला भर देने की जरूरत थी, सिर्फ बटन दबा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपसमें मिलकर समझौता कर लेना अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और एक पल-भर में दबाया जा सकता था। और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी आजिजी से और साफ-साफ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कांग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम ज्यादा व्यापक गैर-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी खिदमत की है। हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आम तौर पर यह इलजाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठन-कर्त्ता नहीं हैं, मगर १९३० में कांग्रेस ने भारी कठनाइयों और विरोध के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहाँतक गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाने का सवाल था, गाँधीजी की

पहली शिमला-यात्रा का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आखिरी हफ्ते में हुई। जाने या न जाने का आखिरी फैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रांत में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आख़िरी घड़ी किया गया, ताकि वह उस जहाज़ से जा सकें जिसमें गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में यह, एक तरह से बिलकुल ही आख़िरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी, शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और कालका से छूटनेवाली गाड़ी पकड़ने के लिए दूसरी गाड़ियां रोक दी गईं।

मैं उनके साथ शिमले से बम्बई तक गया। और वहां अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हें बिदाई दी, और वह अरबी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ़ बढ़ चले। बस अगले दो साल तक के लिए मुझे यही उनका अन्तिम दर्शन था।

१. समझौते के बाद सन्धि-भंग के बारे में तीन बार गांधीजी शिमला गये थे। दुबारा शिमला जाने के बाद गांधीजी ने शिमला जाने का निश्चय किया। समझौते की शर्तें तोड़ी जा रही थीं, मगर शर्तें तोड़ी गईं या नहीं इसका फ़ैसला करने वाली कोई निष्पक्ष अदालत तो थी नहीं। गांधीजी यह चाहते थे कि यदि शर्तें तोड़ी गई हों तो उनका परिमार्जन किया जाय, या ऐसी कोई अदालत नियुक्त की जाय। समझौते की शर्तों के ख़िलाफ़ युक्तप्रान्त और बारडोली में कर वसूल किया जा रहा था। दोनों जगह अन्याय और अत्याचार की घटनायें हुई थीं। आख़िर कार

: ३८ :

# गोलमेज-कान्फ्रेंस

एक अंग्रेज अखवारनवीस ने हाल ही मे एक किताव लिखी है और उसका दावा है कि उसने गाधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेन्स में वहुत काफी देखा है। अपनी किताव मे उसने लिखा है—

"मुलतान नाम के जहाज़ मे जो लीडर वैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गाधीजी के खिलाफ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक्त आते ही कांग्रेस उन्हे निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गाधीजी को निकालकर गालिवन अपने आधे के करीव मेम्वरो को निकाल देगी। इन आधे मेम्वरो को सर तेजवहादुर सप्रू और जयकर साहव लिवरल-पार्टी में मिला लेना चाहते थे। वे इस वात को कभी नही छिपाते थे। उन्हीके लफ्जो मे गाधीजी का दिमाग साफ नही है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमागवाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमागवाले अनुयायी आपको दे तो उसको अपनी तरफ करना अच्छा ही है।"[१]

---

तीसरी वार की शिमला-यात्रा में सरकारने वारडोली के अत्याचारो की जांच के लिए एक कमिटी मुकर्रर की और आगे के लिए कांग्रेस को यह छूट दी कि जहां कहीं ऐसी घटनायें हो वहां वह उसका प्रतिकार करें।

—अनु०

१. ग्लोर्ने वोल्डन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उदाहरण मैंने उस किताव की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढने का मौक़ा अभी तक नहीं मिल पाया है। मुझे

मुझे पता नहीं कि इस वक्तव्य में जो बातें कही गई हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर महोदय या गोलमेज-कान्फ्रेंस के दूसरे मेम्बरों के खिलाफ़ भी जो सन् १९३१ में लन्दन जा रहे थे, कहाँतक प्रकट करती हैं। लेकिन मुझे यह बात ज़रूर आश्चर्यजनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी जानकारी रखनेवाला कोई शख्स, फिर चाहे वह हिन्दुस्तानी हो या गोरा, इस तरह की बात कह सकता है। मैं तो इसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि इससे पहले मैंने किन्हीं हलक़ों में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना। लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो समझ में न आवे, क्योंकि तभी से मैं लगातार जेल में रह रहा हूँ।

---

उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन शख्सों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिल्कुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गये हैं। ख़ासकर कमिटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस विषयक वाक़यात। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस की सदारत और उसके ज़रिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी की अनिच्छा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी सदर से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह समाधान करनेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बारम्बार सदर होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके कुछ साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सदर महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गये थे,

तो ये साज़िश करनेवाले शख्स कौन हैं और इनका मकसद क्या है? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों में सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा ख़याल है, इसलिए, साज़िश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गाँधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मज़बूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं जरूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नज़दीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ़ साज़िश करने का

---

लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीक़े से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभीतक कांग्रेस-कमिटियां ग़ैर-क़ानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीक़ों पर काम नहीं कर सकती थीं। इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत तमाम कमिटी ने गांधीजी से अर्ज़ की कि वह सदारत मंजूर कर लें और इस तरह जहाँ वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ, खासकर आगामी नाज़ुक साल के लिए। लेकिन वह राज़ी नहीं हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि वल्भभाई को सदारत मंजूर कर लेनी चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले को

—— ... तादमी है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी ...ों के बारे में यही बात नहीं है। वह कमिटी वस्तुतः गांधीजी की बनाई हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह-मशवरे से उन्होंने इस कमिटी को नामजद किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो ...ों सालों से रह चुके थे और करीब-करीब उसके हमेशा मेम्बर ख़याल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टिकोण का मतभेद था। और सालों तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे ख़तरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गये थे। उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और

---

बाबत, जो कुछ-कुछ जाली-सा है, मैं जरूर कुछ कहना पसन्द करूँगा। उनको इस बात का इत्मीनान सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेजों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, कतई ग़लत है। असली वाक़यात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हें यहाँ दिये देता हूँ। वकालत के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायें। उन्होंने कहा, मैं ख़ुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर होगा, क्योंकि बहुत-से अंग्रेज मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से ऐतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे ख़िलाफ़ वोट दें। कोई भी मामूली अफ़सर इस तरह मेरा नाम

एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'सयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर, थे और उनमें से किसी की वावत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरो के खिलाफ साजिश करेगा। कमिटी में गाँधीजी की चलती थी और सव लोग रहनुमाई के लिए उन्ही की तरफ देखते थे। कई सालो से यही होता आ रहा था और सन् १९३० में हमारी लडाई को जो वडी कामयावी मिली थी उसके वाद सन् १९३१ में तो यह वात और भी ज्यादा वढ गई थी। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्वरो को उन्हे निकालने की कोशिश करने मे क्या मकसद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हे जल्दी

---

रद करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगडे में पडना नहीं पसन्द करूँगा। इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मैं इलाहावाद रक़वे की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम की ताईद करा दूँगा। लेकिन अखीर में यह खयाल छोड दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लव में नहीं पेश किया गया, क्योकि उन्होने यह वात साफ कर दी कि मैं वेइज्ज़ती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। इस घटना की वदौलत वह अग्रेजो के खिलाफ होने के वजाय सर जान एज के एहसानमन्द वन गये और उसके वाद के सालो में ही वहुत-से अग्रेजो से उनकी दोस्ती तथा मेल मुहव्वत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८९० से लेकर १८९९ के दर्म्यान, और पिताजी इसके कोई पच्चीस वर्ष वाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी वने। उनकी यह तवदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पजाव के फौजी कानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ऐन मौक़े पर पडे गाँधीजी के असर ने तो हालत वहुत ही वदल दी। इतने पर भी अंग्रेजों से मिलना-जुलना छोडने का उनसे सव ताल्लुकात छोडने का उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहाँ ज्यादातर अंग्रेज अफ़सर हो वहाँ असहयोग और सविनय भंग से लाजिमी तौर पर मिलना-जुलना वन्द हो जाता है।

[illegible], [illegible] [illegible] मुझी हो आन्दोलन और इसलिए एक ज़िम्म[illegible] [illegible] जाना हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता? [illegible] का क्या होता? वह तो इस कौमी-आन्दोलन [illegible] थे। बल्कि सच बात तो यह है कि वह खुद ही आन्दोलन थे। क्योंकि उस लड़ाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हीं पर मुनहसिर था। [illegible] दोनों लड़ाई उनकी पैदा की हुई नहीं थी न वह किसी शख्स पर मुनहसिर थी। उसकी जड़ें उससे ज्यादा गहरी थीं। लेकिन लड़ाई का वह आम पहलू जिसकी निशानी सविनय-भंग थी, ख़ास तौर पर उन्हीं पर अवलम्बित था। उनके अलग होने के मानी थे इस आन्दोलन को बन्द करना और नई नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक्त काफ़ी मुश्किल साबित होता, लेकिन १९३१ में तो कोई उसका खयाल भी नहीं कर सकता था।

यह ख़याल बड़ा ही मज़ेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को कांग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको ज़रा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके खिलाफ़ साज़िश करने की क्या ज़रूरत थी? ज्योंही गांधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं कांग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योंही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क में तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गये थे कि हम इस ख़याल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायें। हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने से हिचकिचाते थे, क्योंकि उनकी गैरहाज़िरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं- उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी

से बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग साफ है या नहीं, इसका फ़ैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तो के लिए ही छोड़े देते हैं। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन उन्होने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर है, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख्स है जो अकसर अपनी जिम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते है। और अगर 'दिमाग के साफ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते है, तो शायद वह उस अमली राजनीति के मुकाबले में बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा पुस्तके पढने और चुने हुए हलको में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ो अनुयायियो का दिमाग साफ नही था। वे राजनीति और शासन-विधानो की बाबत कुछ नही जानते। वे तो सिर्फ अपनी इनसानी जरूरतो, खाना, घर, कपड़ो और ज़मीन की बातें ही सोच सकते है।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि इनसानी कुदरत को देखने की विद्या को भली-भाँति सीखे हुए नामी विलायती अखबारनवीस किस तरह हिन्दुस्तान के मामलो में गलती खा जाते है। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है कि पूर्व तो कतई दूसरी चीज है और उसको आप मामूली पैमानो से नही नाप सकते ? या, अग्रेजो के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आँखो को खराब कर देता है ? कोई चीज कैसी भी अनहोनी क्यो न हो, उसपर वे करीब-करीब फौरन ही इत्मीनान कर लेगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योकि वे समझते है कि रहस्य-भरे पूर्व

से हर दम मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में विलक्षण गलतियाँ भी होती है।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में यूरप रवाना हुए तब, उसके बाद फौरन ही, मैंने पेरिस के एक मशहूर संवाददाता का एक मज़मून पढ़ा। उन दिनों वह लन्दन के एक अखबार का संवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का ज़िक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ में उस वक्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख में कहा गया था कि किसी जगह (गालिबन वह देहली थी), महात्मा गांधी एकाएक जैसे नाटक में होता है, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने जा पहुँचे और उन्होंने अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये तथा ढाड़ मार मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम, किसीने, गांधीजी ने भी, यह मज़ेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने उस अखबारनवीस को एक खत लिखा[1]। उसने अफसोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त-सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जाँच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो ज़ाहिर तौर पर बिलकुल गैर-मुमकिन थी और जिसका कोई भी शख्स, जो गांधीजी, कांग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे में कुछ भी जानता था, इत्मीनान नहीं कर सकता था। बदकिस्मती से

[1] यह अखबारनवीस है 'डेली हेरल्ड' के प्रतिनिधि स्लोकोम्ब। गांधीजी जब विलायत गये तब फ्रान्स में वह उनसे मिले थे और उन्होंने गांधी से कबूल किया था कि यह बात बिलकुल मनगढ़न्त थी और उसके लिए माफी भी माँगी थी। —अनु०

यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से ऐसे अग्रेज है जो यहाँ बहुत दिनो तक रहने के बाद भी काग्रेस या गाँधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नही जानते। कहानी कतई इत्मीनान के काबिल नही थी। वह बिलकुल बेहूदा थी। ऐसी बेहूदा जैसी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बडे पादरी साहब एकाएक मुसोलिनी के सामने जा पहुँचे और सिर के बल खडे होकर, हवा मे अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हालही में एक अखबार में जो रिपोर्ट छपी है उसमे एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गाधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तो के पास छिपी रक्खी है। कांग्रेस उस रुपये को हडपना चाहती है। कांग्रेस को डर है कि अगर गाँधीजी कांग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी सरासर बेहूदा है, क्योंकि गाधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते है और न छिपाकर रखते है। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते है, उसे सार्वजनिक सस्थाओ को दे देते है। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले में उनमें बनियो की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

कांग्रेस ने सन् १९२१ मे एक करोड का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफवाह गालिबन उसीकी कहानी पर हसर रखती है। यह रकम वैसे तो बहुत बडी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलायी जाय तो ज्यादा नही मालूम होगी। इस रकम को इस्तैमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने, घरेलू धधो को तरक्की देने और खास तौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूत उद्धार के कार्यो में तथा ऐसे ही दूसरी किस्मो के रचनात्मक कार्यों में किया गया था। उसमे से काफी तादाद खास खास स्कीमो के लिए अकित कर दी गई थी। फण्ड अबतक मौजूद है और जिन खास कार्यो के लिए वे अकित किये गये थे

उसमें लगाये जा रहे हैं। बाक़ी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुक़ामी कमिटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह काँग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों में खर्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक काँग्रेस का काम इसीसे चलता रहा। गांधीजी ने और मुल्क की ग़रीबी ने हमें यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयों सेभी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगों ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसी को कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ़ उतना ही जितना पेट भरने को काफ़ी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्य-कर्त्ताओं को, जो विश्व-विद्यालयों के ग्रेज्युएट हैं और जिन्हें अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहें दी गई वे उन भत्तों से भी कम हैं जो इंग्लैण्ड में बेकारों को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान में काँग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरों का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क में शायद ही चलाया गया हो। और काँग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल जाहिर होते रहे, उनका कोई हिस्सा गुप्त नहीं है। हाँ, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और काँग्रेस ग़ैर-क़ानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में शामिल होने के लिए काँग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यहाँ तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की ज़रूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाज़ुक वक्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान में ही रक्खें। उन दिनों हालत को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने

की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज-कान्फ्रेन्स होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने सगठन को ठीक हालत में बनाये रक्खे। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम विलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे, लेकिन हम लोगो ने जान-बूझकर ऐसा नही किया।

हम गोलमेज-कान्फ्रेन्स में इसलिए शामिल नही हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी वातो पर ऐसी वाते और बहस करे जिनका कभी खात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफसीलो में कोई दिलचस्पी नही थी। उन पर तो तभी गौर किया जा सकता था जब कि खास-खास बुनियादी मामलो मे ब्रिटिश-सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौपी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद राजीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीले तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातो पर कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगो को यह मालूम होता था कि हम लोगो के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहां जाकर हमारी स्थिति को साफ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसगत है और किस तरह उसको मजूर किये बिना गति नही है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करले कि वह कांग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल

थी और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल मुनासिब नहीं थी, लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शों को ही छोड़ सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातों में राजीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राजीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरों को फौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहां जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहां जाने के लिए तैयार रहना था और जरूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाजों में उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुंच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू-शुरू में कोई राजीनामा नहीं होता, तो आगे और तफसील में, समझौते की बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। न कांग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाने की कोई जरूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ गांधीजी को ही वहां भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शामिल हुईं, लेकिन वह वहां कांग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गई थीं। उनको तो वहां हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हें इजाजत दे दी थी कि वह उस हैसियत से उस कान्फ्रेन्स में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्जी के मुताबिक काम करे। उसकी नीति

तो यह थी कि असली सवालो का विचार करना तो मुल्तवी होता रहेगा, कान्फ्रेन्स थोडी-बहुत छोटी-छोटी और बेमतलब की बातो पर बहस करके थक जाय। जब कभी बडे-बडे सवालो पर गौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ इन्कार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कान्फ्रेन्स में इसी सवाल का बोलबाला था।

कान्फ्रेन्स के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालो के जाल में फँस गये। ज्यादा तो राजी-खुशी से और कुछ थोडे-से मजबूरी से। कान्फ्रेन्स क्या थी, भानमती का कुनबा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क में उनकी इज्जत भी थी, लेकिन बाकी बहुत-से लोगो की बाबत यह बात भी नही कही जा सकती। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी फिरको के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूंक-फूंककर कदम रखनेवाले माने जाते है, इनकी जमात में वही तरक्की के बडे भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालो के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगडो के सिलसिले में जो 'छोटी' और 'बडी' जातियाँ थी उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च वर्गवालो की थी जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नही सकते थे। राजनैतिक दृष्टि

में वे इस मुल्क की तरक्की के क़तई मुख़ालिफ़ थे और उनकी महज़ एक दिलचस्पी थी कि किसी तरह अपने फ़िरक़े के लिए कुछ फ़ायदे की बात हासिल करलें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनैतिक उन्नति को भी छोड़ना पड़े। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक मांगें पूरी नहीं की जायेंगी, तबतक वे राजनैतिक आज़ादी लेने को राज़ी न होंगे। यह एक ग़ैर-मामूली दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी कि एक ग़ुलाम क़ौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शतरंज का मोहरा बन सकती है। यह सही था कि हाइनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े अलक़ाबवाले लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि हैं। गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामज़द थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज़ यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तैमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमज़ोरियाँ हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं। हमारे उच्चवर्गों के लोग अबतक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचार-धारा से अभिभूत थे और वे उन्हींका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नहीं पाते थे? या वे उसके असली मानों को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मंज़ूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान में आज़ादी और लोकतन्त्र क़ायम होने से डर लगता था?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी, और धार्मिक और साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस

समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मडल का नेतृत्व मामूल के मुताबिक आगाखां के हाथ में रहे, क्योकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थो से स्वय सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी सम्बन्ध रहा है। वह ज्यादातर इग्लैण्ड में ही रहते है। इसलिए वह हमारे शासको के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते है और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते है। उस गोलमेज-कान्फ्रेंस में साम्राज्यवादी इग्लैण्ड के वह बहुत काबिल प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे।

कान्फ्रेन्स में हमारे खिलाफ पलडा बुरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयो को पढ-पढकर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओ की सतह को खरोचने की कैसे दयनीय और वाहियात ढग से मामूली कोशिश की जा रही है? कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशें हो रही है? कैसी कैसी चाले चली जा रही है? हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा उन्नति-विरोधी लोगो से मिल गये है। टुच्चे-टुच्चे मामलो पर बाते चलती थी और सोभी खत्म ही न होती थी। जो असली बातें है उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बडे बडे स्थापित स्वार्थो के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए है। वे कभी तो आपस में लडते-झगडते है और कभी एक-साथ बैठकर दावते खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ करते है। शुरू से लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियो का था। छोटे ओहदे, बडे ओहदे, हिन्दुओ के लिए कितनी नौकरिया और मेम्बरिया है तथा सिक्खो और मुसलमानो के लिए कितनी? और एग्लो-इन्डियनो तथा यूरोपियनो

र लिए कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थ, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। समय-साधुता का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फ़िराक़ में भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आज़ादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने का रूप धारण कर लिया था। इसे ये लोग "भारतीकरण" के नाम से पुकारते थे। फ़ौज में, मुल्की नौकरियों में और दूसरी जगहों मे हिन्दुस्तानियों को ज्यादा नौकरियाँ मिले यही इनकी पुकार थी। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आज़ादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और ज़रूरी आर्थिक मसले मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई ज़रूरत है ? क्या इन्हींके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उन मुलहक़े भवन में और इतने लोगों की भीड़ में गांधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाक़ी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन उनके आस-पास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण में तथा गांधीजी के खयाल और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज्यादा फ़र्क़ था। उस कान्फ्रेन्स में उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और राज़ीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लिए उन्होंने कई कोशिशें कीं। एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की जिससे फ़ौरन यह दिखला दिया कि किस

तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रक्खा था। मुसलमान प्रतिनिधियो की तरफ से कान्फ्रेंस में जो साम्प्रदायिक माँगें पेश की गईं थी उनको गाँधीजी पसन्द नही करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानो का भी यही खयाल था, कि इनमें से कुछ माँगें तो आजादी और लोकतन्त्र के रास्ते में रोडा अटकाने वाली है। लेकिन फिर भी उन्होने कहा कि मै इन सब माँगो को "बिना किसी ऐतराज़ के मानने को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आजादी के मामले में मेरा तथा काँग्रेस का साथ दें।"

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था, क्योकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें काग्रेस को वह किसी बात से नही बाघ सकते थे। लेकिन उन्होने वादा किया कि मैं काँग्रेस में इस बात के लिए जोर दूँगा कि ये माँगें मान ली जायें। और कोई भी शख्स जो काँग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में कोई शक नही कर सकता था कि वह काँग्रेस से उन माँगो को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानो ने गाँधीजी के इस प्रस्ताव को मजूर नही किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखा साहब हिन्दुस्तान की आजादी के हामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगडा साम्प्रदायिक नही था, यद्यपि कान्फ्रेन्स में साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल में तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्ते को रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड में छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियो का चुनाव बडी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगो को वहाँ जमा किया था और कान्फ्रेन्स की

कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को अहम् और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस में कभी न मिल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमें कभी कोई राजीनामा नहीं हो सकता था।

इस कोशिश मे ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी मे उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमें न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की बाहरी ताक़त ही है, बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज-कान्फ्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताक़त से हिन्दुस्तान के लोगों की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताकत नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धता बता दें जो उनकी तरक्क़ी के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे असफल रहे, क्योंकि उनमें मजहबीपन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भड़काये जा सकते थे। थोड़ेसे में वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज-कान्फ्रेन्स में तो सफलता या विफलता का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फर्क था। पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस थी तो अपने किस्म की सबसे पहली कान्फ्रेंस, लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही

कम लोगो का खयाल उसकी तरफ गया, और बाहर भी यही बात रही, क्योंकि उन दिनो सब लोगो का ध्यान सविनय भग की लडाई की तरफ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामजद उम्मीदवार १९३० मे कान्फ्रेन्स में शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये और विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गई थी। क्यो ? इसलिए कि उसमें गाधीजी कॉंग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोडो लोग चलते हैं, उसमें शामिल हुए, इस बात से कान्फ्रेन्स की शान जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज-ब-रोज उसकी कार्रवाइयो पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह जरूर है कि इस कान्फ्रेस में जितनी असफलता हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगो की समझ में यह बात साफ-साफ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गाधीजी के उसमें शामिल होने को इतना महत्व क्यो देती थी ?

जहाँतक कान्फ्रेन्स से ताल्लुक है वहातक वह, जिसमें वहाँ होनेवाली साजिशें, समय-साधुता और जाल-साजियाँ शामिल थी, हिन्दुस्तान की विफलता नही कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे असफल होती। उसकी विफलता का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगो के मत्थे नही मढा जा सकता। लेकिन उसे इस बात में जरूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालो से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगो की आँखें खुल गईं, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होने उससे अपनी जिल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगो को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगो के लिए तो सफलता या असफलता खुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओ से हो सकती थी। हिन्दुस्तान मे जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल हो रही थी वह लन्दन में होनेवाली चालबाजियो

से ठण्डी नहीं पड सकती थी। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक जरूरतों को दिखलाती थी। उन्हींके जरिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे, इसलिए उस हलचल की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम पूरा कर देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगों को प्रगति और आजादी की सड़क पर और भी आगे ले जाती, दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे जबर्दस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेन्स के बाद फौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर खत्म हो। दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड सका, लेकिन उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के खिलाफ आबोहवा जरूर बना दी।

: ३९ :

## युक्तप्रान्त के किसानों में अशान्ति

था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालो का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लडाई या शान्ति निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहां कि काग्रेस का ध्यान किसानो की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी में डेढसौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमे पन्द्रह मेम्बर थे, बैठके अकसर होती रहती थी, और उसी के हाथ मे किसानो का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने किसान-सबधी एक खास कमिटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी में कई जमीदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में, उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसीलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के पदेन अध्यक्ष भी थे) तसद्दुकअहमदखा शेरवानी थे, जो एक मशहूर जमीदार खानदान के थे। प्रधानमत्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बडे मेम्बर जमीदार थे, या जमीदार घराने के थे। बाकी मेम्बर ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी मे एक भी काश्तकार या गरीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी जिला-कमिटियो में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावो मे जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी उनमे वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और जमीदारो का भी बहुत प्रभाव था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी 'गरम' नही कही जा सकती थी, और किसानो के सवाल पर तो निश्चय ही नही।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरे या दूसरे काम-काज में मैं खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी में सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, किसी के भी बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि सामूहिक और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नहीं, संगठन पर ही हमेशा जोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अख्तियारात न थे।

मुकामी तौर पर मैं इलाहाबाद जिला कांग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस कमिटी ने, अपने सदर पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में, किसान-समस्या की प्रगति में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमिटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नहीं था कि इलाहाबाद जिले में किसानों की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी, क्योंकि अवध के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहाबाद जिले का संगठन अच्छा था और इसमें राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आसपास के देहात में बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली समझौते के बाद फौरन ही हमने देहात में सर्कुलर और नोटिस भेज दिये थे और किसानों को इत्तिला दे दी थी कि सविनय-भंग और करबन्दी आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हें सलाह भी दी कि वे अदा कर दें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस सारी सस्ताई को देखते हुए हमारी राय यह

है कि उन्हें काफी छूट मिलनी चाहिए, और हमने यह सुझाया कि हमको एक साथ मिलकर छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के जमाने में तो पूरा लगान या पूरी के करीब रकम देना तो बिलकुल ही असम्भव था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरजी तजवीज की कि आमतौर पर छूट पचास फीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानों के सवाल को सविनय-भंग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक-क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले दोनों का गहरा साथ हो गया था। और कांग्रेस-संगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चितरूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण गैर-किसानों और जमींदारों तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भंग फिर होने की संभावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेंगी।

इन जाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नहीं कर दिया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगों

को बिलकुल साफ़ बना देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतों में, मेरा ख़याल है, गांधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला दिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठकें होती रहेंगी, तबतक वह सविनय-भंग फिर शुरू नहीं करेंगे, वह कांग्रेस से सिफ़ारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौक़ा दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तज़ार करना चाहिए। मगर, तब भी गांधीजी ने यह साफ़ बता दिया था कि अगर किसी मुक़ामी आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों की समस्या उस वक़्त हम सबके सामने थी क्योंकि वहाँ संगठित कार्य किया गया था। दर-असल तो सारे हिन्दुस्तान भर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बात-चीतों में भी गांधीजी ने इस बात को दुहराया था और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[1] में भी इसका ज़िक्र किया गया था। योरप रवाना होने के ठीक पहले ही

१. शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के ख़त भी शामिल थे :—

भारत-सरकार के होम सेक्रेटरी इमरसन साहब के नाम
गांधीजी का पत्र

शिमला,
२७, अगस्त १९३१

प्रिय इमर्सन साहब,

आपके आज की तारीख़ के ख़त के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर फावनजी ने भी आपकी बनाई तरमीमें भेजने की कृपा की है। मेरे साथियों ने व मैंने संशोधित मसविदे पर ख़ूब ग़ौर किया है, नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंज़ूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ़ ४ में सरकार ने जो पोज़ीशन अख़्त्यार की है उसे कांग्रेस की तरफ़ से मंज़ूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह

उन्होंने साफ़ कर दिया था, कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह जरूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयों में लोगों के, और खासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फँसने की उनकी इच्छा नहीं है, वह उसे टालना चाहते हैं, मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नही छोड़

---

महसूस करते हैं कि जहाँ कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहाँ जाँच करना जरूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भंग, आन्दोलन उसी वक्त के लिए मुल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रांतीय सरकारें जाँच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जाँच के लिए जोर नहीं देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना जरूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय-भंग आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मैं सरकार को यह यकीन दिलाने की जरूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाने-बुझाने आदि उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की पोजीशन का जिक्र करना यहाँ इसलिए जरूरी हो गया है कि आगे कोई संभावित गलतफहमी या कांग्रेस पर समझौता-उल्लंघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के सफल होने की हालत में मेरा ख़याल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक-साथ प्रकाशित कर दिये जायँगे।

आपका

मो० क० गांधी

सकते थे। उनका मानना यह था कि दिल्ली के समझौते में, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भंग से ताल्लुक रखता था, इसकी रोक नहीं की गई है।

मैं इनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूं कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी और उसके नेताओं पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया। आरोप करनेवालों को सुभीता यह था कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग जिनपर यह लगाया गया और जो इसका

---

गांधीजी के नाम श्री इमरसन का पत्र

शिमला

प्रिय गांधीजी, २७ अगस्त, १९३१

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ कम्यूनिक के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जांच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहां आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाने-बुझाने आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर करने की हमेशा कोशिश करेगी, वहां आप, आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोजीशन भी साफ़ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयगा। जहांतक सरकार की आम पोज़ीशन की बात है, मैं वायसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूं। मुझे कहना है कि उक्त कम्यूनिक, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबलू० इमरसन

जवाब दे सकते थे, जेल मे बन्द कर दिये गये थे और हर अखबार और प्रेस पर सख्त सेन्सर बैठा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नही किया, मै इस बात को साफ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भग से अलग रहते हुए, ऐसी लडाई लडना भी दिल्ली के समझौते का भग नही होता। वह उसके कारणो को देखते हुए उचित था या नही, यह तो दूसरी बात थी, लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मजदूरो को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हडताल शुरू करने का हक होता है, उसी तरह किसानो को भी आर्थिक कारण से हडताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यही पोजीशन रही, और सरकार ने इसे समझ ही नही लिया था, बल्कि उसे वह ठीक भी मालूम हुई थी।

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगडती हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षो से दुनियाभर मे कृषि-सम्बन्धी भाव ऊँचे की तरफ चढते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाजार मे बँध चुकी थी, इस चढाव में हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारखानो और खेतो की तरक्की मे कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीजो के भाव चढ गये थे। हिन्दुस्तान मे जैसे-जैसे भाव बढते गये, सरकार की मालगुजारी और जमीदार का लगान भी बढता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसान लोगो की हालत, कुछ खासतौर पर अच्छे हिस्से को छोडकर, खराब ही हो गई। युक्तप्रान्त मे लगान मालगुजारी की बनिस्बत बहुत तेजी से बढा, इन दोनो की सापेक्ष वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षो में, करीब-करीब (मै अपनी याददाश्त से ही कहता

हो [illegible] थी। इस तरह हालाँकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफ़ी बढ़ गई, लेकिन ज़मींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढ़ी, और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कहीं भाव गिर भी जाते थे, या कहीं कुदरती मुसीबतें, जैसे बारिश न होना, बाढ़ आ जाना, ओले, टिड्डी वग़ैरा, आ पड़तीं, तब भी मालगुज़ारी और लगान की रक़म वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो, बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ़ उस फ़सलभर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फ़सलों के वक़्त भी लगान की दर बहुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक़्त में तो साहूकार से क़र्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी ही होना मुश्किल था। फलतः किसानों का क़र्ज़ा बढ़ता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी वर्ग, ज़मींदार, मालिक-किसान और काश्तकार, सभी बोहरों के, जो कि मौजूदा हालतों में गाँवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फंदे में फँस गये। इस क़ानून से साहूकारों ने खूब निजी फ़ायदा उठाया, और उनका जाल ज़मीन पर और ज़मीन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर बन्धन कोई नहीं थे। क़ानून उनकी मदद पर था, और अपने इक़रारनामे के एक-एक लफ़्ज़ को पकड़कर वे अपने असामियों को ज़रा भी नहीं बख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे ज़मींदार और मालिक-किसान दोनों के पास से ज़मीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार, ज़मींदार-वर्गीय बन गये। मालिक-किसान, जो अभी तक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-ज़मींदारों या साहूकारों का क़रीब-क़रीब [illegible]-किसान बन गया, जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी ख़राब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदख़ल किये हुए भूमि-हीन मज़दूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो

गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियो—का जो अब इस तरह ज़मीन-मालिक भी बन गये, ज़मीन से या काश्तकारो से कोई सजीव सम्पर्क नही था। वे आमतौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दो के सुपुर्द कर दिया, जो उस काम को मशीनो की-सी सग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानो की बढती हुई कर्जदारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि भूस्वामित्व-प्रणाली गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगो के पास किसी किस्म की बचत न थी, न जिस्मानी न माली। बरदाश्त करने की बिलकुल ताकत न थी और वे हमेशा भूखे-नगे ही रहते थे। प्रति-कूल-रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक नही सकते थे। कोई आम बीमारी आजाती, तो लाखो मर जाते थे। १९२९ और १९३० मे सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने अन्दाजा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्जा ८६० करोड रुपया था। इस आकडे में ज़मीदारो, मालिक-किसानो और काश्तकारो का कर्जा शामिल था, मगर मुख्यत यह असली काश्तकारो का ही कर्जा था। सरकारी आर्थिकनीति बिलकुल साहूकारो के ही हक में रही है, और इससे भी भारी कर्जे में और बढती हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का जबरदस्त विरोध होते हुए भी सोलह पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानो का कर्जा १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड बढ गया[1]।

१ हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्जदारी ८६० करोड़ है; यह भी सम्भवत. बहुत कम अन्दाजा है और कम-से-कम, पिछले चार या पांच वर्षो में, यह काफी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग-जांच-कमिटी ने, १९२९ में, पंजाब का आँकड़ा १३५ करोड़ बताया था।

[illegible] के युद्ध के अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये और देहात की हालत और ख़राब हो गई। और इन सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का संकट आ गया था [illegible]।

१९३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीज़ों के भावों के मुताबिक़ रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे उस वक़्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, क़रीब १९०१ में थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इसमें परखना भी आसान नहीं था क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी ग़ैर-मौरूसी, शिकमी वग़ैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज़्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ़ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का ख़र्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर [illegible] रक़म देने की ताक़त काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से सोचने पर जीवन-निर्वाह के ख़र्च कितने भी कम क्यों न माने जायँ, हिन्दुस्तान में बहुत ज़्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफ़ा हैं, और जैसा कि हमने १९३१ में युक्तप्रान्त में दिखाने से साबित किया था, वहाँ काश्तकार तो [illegible] लगान अदा कर

---

[illegible] पंजाब [illegible] की [illegible] कमिटी की रिपोर्ट में (जो १९२९ में पेश की गई थी) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज़ का बोझा बहुत भारी है, [illegible] करीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आँकड़ा बैंकिंग-जाँच-कमिटी की रिपोर्ट के आँकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज़्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानें तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ की) कृषि-ऋणराशि १२०० करोड़ से ज़्यादा होगी।

ही नही सकते थे, जबतक कि वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचे या ऊँची दरो पर कर्ज़ न ले।

हमारी युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की पहली और आरज़ी तजवीज़ यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारो के लिए ५० फीसदी आम छूट हो जानी चाहिए, और जिन काश्तकारो की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ मे गाधीजी युक्तप्रान्त मे आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होने युक्तप्रान्त के ज़मीदारो और काश्तकारो के नाम अपीले निकाली थी। पिछली अपील मे उन्होने काश्तकारो से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा करदें। उन्होने एक आकडा भी बताया, जोकि हमारे पहले बतायें आकडो से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गाधीजी का ही आकडा मजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नही, क्योकि सरकार उसपर राज़ी नही हुई।

प्रान्तीय-सरकार एक कठिन परिस्थिति मे थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बडा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उडा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसका दिवाला ही निकल जाय। मगर, साथ ही उसे किसानो के उमड पडने का भी काफी अन्देशा था, और जहातक हो सके वह उन्हे काफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनो तरफ फायदे मे रहना आसान न था। सरकार और किसानो के बीच में ज़मीदारवर्ग खडा था, जोकि आर्थिक दृष्टि से बेकार और गैर-जरूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुकसान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनो को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राजनैतिक कारणो से उस वर्ग को नाराज़ नही कर सकती

थी, क्योंकि जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें एक वह भी है।

आख़िर प्रान्तीय-सरकार ने ज़मीदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। ये छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफ़ी थी। इसके अलावा छूट चालू किस्त के लिए ही घोषित की गई, और किसनों के पिछले बकाया कर्ज़ें के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई। यह तो ज़ाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बकाया या कर्ज़ा चुकाने में तो और भी ज़्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ज़मीदारों ही का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका ख़तरनाक था। क्योंकि किस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके ख़िलाफ़, चाहे जब, मुक़दमा दायर किया जा सकता था, और उसकी ज़मीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कांग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गई। हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत बेजा बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करें। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आम तौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हें हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी किस्त की रकम उनकी ताक़त के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और ग़ैरकानूनी दोनों तरह से, चलने लगी। हज़ारों की तादाद में बेदख़ली के मुक़दमे दायर होने लगे, गाय, बैल और जानी मिल्कियत कुर्क होने लगी, ज़मीदारों के कारिन्दे

मारपीट करने लगे, बहुत से किसानो ने किस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया। उनकी राय में, उनकी इतना ही देने की ताकत थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोडा और दे सकते हो, लेकिन यह बिलकुल जाहिर था कि ज्यादातर किसानो के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस आंशिक अदायगी के कारण वे बच नही सके। कानून का एंजिन तो आगे बढता ही गया, और रास्ते मे जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया। हालांकि किस्तो का थोडा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गई और पशुओ और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ भी न देते तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से, उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बडी तादाद में हमारे पास जोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद जिले में ही कई हजार काश्तकार बेदखल कर दिये गये थे, और कई हजारो के खिलाफ कोई-न-कोई मुकदमा दायर कर दिया गया था। जिला कांग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारो से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ और कही छिप जाऊँ, जहाँ यह भयकर दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारो पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशानात थे, जो जमींदारो के कारिन्दो की मार के थे। हमने उनका अस्पताल मे इलाज करवाया। वे क्या कर सकते थे? और हम क्या कर सकते थे? और हमने युक्त-प्रान्तीय सरकार के पास बडे-बडे पत्र भेजे। हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रान्तीय-सर-कार से सम्पर्क रखने के लिए श्री गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से

[illegible] बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रान्तीय नेता तसद्दुक अहमदखां शेरवानी भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता था।

जून-जुलाई की तारीख़ नजदीक आने से एक और कठिनाई सामने आई। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदख़ल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी ज़मीन ख़ाली पड़ी देखते रहें? किसान के लिए यह बड़ा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के ख़िलाफ़ था। कई लोगों की बेदख़ली सिर्फ़ क़ानूनी लिहाज़ से हो गई थी, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया था। सिर्फ़ अदालत का फ़ैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नहीं हुआ था। इस हालत में क्या वे ज़मीन जोत डालें और इस तरह मदाख़लत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी सम्भावना हो जाय? यह देखना भी किसान के के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह माँगने को आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे?

गर्मियों में जब मैं गांधीजी के साथ शिमला गया तो, मैंने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते? उनका जवाब आँखें खोल देनेवाला था। उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी ज़मीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूँगा!' हालांकि ज़मीन पर से किसान का क़ब्ज़ा क़ानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय आकाओं को आदमियों से वास्ता नहीं पड़ता था, और न वे आदमियों की मुसीबतों को ही अपनी आँखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानो को सिर्फ एक ही सलाह दें कि उन्हें पूरी किस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सके उतनी दे देना चाहिए। हमें करीब-करीब जमींदारो के कारिन्दो के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बन सके उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नही बेचने चाहिएँ, या नया कर्ज़ा नही करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हम सबके लिए बडी विकट थी, और हम मुश्किल से उसे सह रहे थे। हिन्दुस्तान के किसानो में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा ज़रूरत से ज्यादा मुसीबतें आती भी रही हैं—अकाल, बाढ, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली गरीबी—और जब वे अधिक सह नही सकते, तो चुपचाप, और मानो बिना शिकायत किये, हज़ारो की तादाद में, मर जाते हैं। उनका मुसीबतो से बचने का मार्ग ही यह रहा है। उनपर समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतो से बढकर १९३१ मे कोई नई बात नही हुई थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनायें उन्हे ऐसी न लगी कि जो कुदरत की तरफ से आ गई हो और जिन्हे चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई हैं, और इसलिए उनका उन्होंने विरोध किया। जो नई राजनैतिक शिक्षा उन्हे मिली थी, वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३१ की ये घटनायें खासतौर पर कष्टकर थी, क्योंकि किसी हद तक हम अपने आपको उनके लिए ज़िम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानो ने बहुत-कुछ हमारी सलाह नही मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर उन्हे हमारी निरन्तर सहायता न मिली होती तो किसानों पीछे

हालत और भी बदतर हो गई होती। हम उनको सगठित करके रखते थे, और उनकी अपनी एक ताकत हो गई थी, जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी और इसी कारण उन्हें इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और तरह उन्हें न मिलती। और इन अभागे लोगों पर जो मारपीट और सख्ती की गई, वह खराब जरूर थी मगर उनके लिए कोई नई बात न थी। हाँ, इस बार कुछ तो उसकी मात्रा में अन्तर था (क्योंकि इस बार पहले से अधिक मात्रा मे की गई थी), और कुछ उसका प्रकाशन भी बढकर हुआ था। आमतौर पर, गाँवो में जमीदारो के कारिन्दो का काश्तकारो से दुर्व्यवहार करना या उन्हें बहुत त्रास देना भी साधारण बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत ही न हो जाय तो, वहाँ को छोडकर बाहर किसी को उसकी खबर तक नही होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता था, क्योकि इससे किसानो मे खूब एका हो गया था और वे हर बात की रिपोर्ट कांग्रेस के दफ्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पडने लगीं। अब हमें बहुसख्यक बेदखल किसानो की फिक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार पर जोर डाल रहे थे कि वह उन्हें उनके खेत वापस दिलवाने में मदद करे, जोकि ज्यादातर खाली ही पड़े

कौंसिल के कुछ जमींदार मेम्बर थे। उसमे किसानो की तरफ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जबकि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमे शामिल होने को कहा। उन्होने इस आखिरी वक्त मे उसमे शामिल होने म कुछ फायदा न देखा, क्योकि महत्त्वपूर्ण मामलो के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने भी किसानो सम्बन्धी पिछली और तात्कालिक कई हकीकते इकट्ठा करने और सामयिक परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी बिठाई थी। इस कमिटी ने एक बडी रिपोर्ट पेश की, जिसमे युक्तप्रान्त के किसानो और खेती की परिस्थिति का बडा योग्यतापूर्ण निरीक्षण किया गया था। और भावो की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उनकी सिफारिशें बडी व्यापक थी। उस रिपोर्ट पर, जो पुस्तक-रूप मे प्रकाशित की, गई थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफीअहमद किदवई और वेकटेशनारायण तिवारी के दस्तखत थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गाधीजी गोलमेज-कान्फ्रेंस के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बडी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक कारण युक्तप्रान्त के किसानो की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होने प्राय यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेंस के लिए लन्दन न गये, तो यू० पी० आयँगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने मे जुट पडेंगे। सरकार के साथ शिमला मे जो आखिरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातो के साथ युक्तप्रान्त की बात भी शामिल थी। उनके इग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी हम उन्हे परिस्थितियो मे होनेवाले नये-नये परिवर्तनो की पूरी-पूरी सूचना देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मै उन्हे हर सप्ताह

उनको आम मामूली, दोनों डाक से पत्र लिखा करता था। उनके लन्दन के अंतिम समय में मैं इतने नियमितरूप से नहीं लिखता था, क्योंकि हमें आशा थी कि वह जल्दी ही लौट आयेंगे। उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक्त, लौट आयेंगे, और हमें उम्मीद थी कि तबतक हिन्दुस्तान में कोई संकट खड़ा न होगा। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी गैर-हाज़िरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या झगड़ा मोल लेना नहीं चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानों की समस्या तेज़ी से बढ़ती चली, तब हमने उन्हें एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ी-से-ताज़ी घटनायें लिखीं और उन्हें सूचित किया कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं। उन्होंने तार से जवाब दिया, कि इस मामले में मैं लाचार हूँ और इस समय कुछ नहीं कर सकता, और यह भी कह दिया कि जैसा हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायें।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, अखिल भारतीय कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही। मैं खुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गंभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक शेरवानी और इलाहाबाद ज़िला कमिटी के प्रेसिडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशें भी कीं, जो पेचीदा और गोलमोल थीं और उसमें बहुत बातें मुक़ामी अफ़सरों के ऊपर छोड़ दी गई थीं। कुल मिलाकर उसमें जिस छूट की तजवीज़ की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमें मालूम हुआ कि वह छूट भी काफ़ी नहीं है। जिन आधारों पर यह सिफ़ारिशें की गई थीं उनपर, और सिफ़ारिशों के स्वरूप पर

भी, हमने ऐतराज किया। इसके सिवा, रिपोर्ट मे सिर्फ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बकाया, कर्ज, और बहुसख्यक बेदखल किसानो के सवाल पर कुछ नही कहा गया था। अब, हम क्या करते ? जिस तरह हमने पिछले चैत-वैसाख में किसानो से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानो को वही सलाह दें, और फिर वही नतीजे देखें ? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा मूर्खता-पूर्ण थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी। या तो किसानो को चाहिए कि अगर वे दे सके तो पूरी रकम अदा करे जो अब छूट काटकर उनसे मागी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखे कि क्या होता है। रकम का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारो का, जितना वे निकाल सकते है, मारा रुपया वगैरा भी चला जाता है, और उनकी जमीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर बहुत समय तक और गभीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजें हालांकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा है, लेकिन इतनी माफिक नही है कि उन्हे इस रूप मे स्वीकार कर लिया जाय। उनमें परिवर्तन करके उन्हे किसानो के लिए हितकर बनाये जाने की फिर भी सम्भावना थी, और इसलिए हमने सरकार पर जोर डाला। मगर हमें मालूम होरहा था कि अब कोई आशा नही है, और जिस सघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेजी से आ रहा है। प्रान्तीय-सरकार और भारत-सरकार का कांग्रेस-सगठन की तरफ रुख लगातार बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बडे-बडे पत्रो का हमें जरा-सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमे कह दिया जाता था कि हम मुकामी अफसरो से लिखापढी करे। यह स्पष्ट था कि सरकार की नीति हमें किसी प्रकार से भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक

मुश्किल और मुश्किल यह भी थी कि अगर किसानों को छूट दे दी जाती तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ जाने की सम्भावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ प्रतिष्ठा की भाषा में ही सोच सकती थी, और यह खयाल उसे असह्य हो रहा था कि शायद जनता छूट दिलाने का जस कांग्रेस को देने लगे, और वह इससे जहांतक हो सके बचना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहों से ये रिपोर्टें आ रही थीं कि भारत-सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक जबरदस्त हमला शुरू करनेवाली है। उस मशहूर मशहूर कहावत के अनुसार अब सरकार की छोटी-सी अगुली ज्यादा जोर से काम करने-वाली है, और बिच्छू के डक हमसे तोबा करानेवाले हैं। कांग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज़ है, इसकी बहुत-सी तफसील भी, हमें मिल गई। मेरी समझ में शायद नवम्बर में किसी वक्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी अलग से एक खबर भेजी, जिससे हमें पहले मिले हुए समाचारों की पुष्टि होती थी, और जिसमें खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के लिए प्रस्तावित आर्डिनेन्सों का ब्यौरा भी था। मेरा खयाल है कि बगाल को एक नये आर्डिनेन्स की सौगात मिल चुकी थी, या शायद मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेन्स निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डॉक्टर अन्सारी की खबरें और उनकी तफसील भी बहुत हद तक सच्ची निकली। आमतौर पर यही माना गया कि सरकार ने गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के आगा से अधिक बढ़ जाने के कारण अपना हमला रोक रक्खा था। ऐसे समय में जबकि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की कानाफूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढती गई, और हम सभी को महसूस हो रहा था कि घटनायें हम जैसे छोटे-छोटे लोगो की उपेक्षा करती हुई अपने-आप आगे बढ रही है, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुकाबिला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दु खान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से बटाने के लिए अपने-आपको तैयार करले। मगर हमें उम्मीद थी कि परस्पर विरोधिनी शक्तियो के सघर्ष का यह नाटक शुरू होने से पहले गाधीजी लौट आयेंगे, और वह लड़ाई या सुलह की जिम्मेदारी अपने कन्धो पर उठा लेंगे। उनकी गैरहाजिरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममें से कोई भी तैयार नही था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलको में हलचल मच गई। काश्तकारो को छूट की पर्चियां बांट दी गई, जिनमें छूट की रकम बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखाई हुई रकम एक महीने में जमा न की जायगी (किसी किसी पर्ची मे इससे भी कम वक्त दिया गया था), तो छूट रद करदी जायगी, और पूरी रकम कानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता है बेदखली, कुर्की, वगैरा से, वसूल करली जायगी। मामूली बरसो में तो काश्तकार अपनी लगान दो या तीन महीनो में किस्तो से अदा कर देते है। अबकी यह मामूली मियाद भी नही दी गई। सारे देहात के सामने एकदम नया सकट खडा होगया, और पर्चियां हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके मुकामी अफसरो की तरफ से यह एक मूर्खता-भरी धमकी थी। बाद को हमसे कहा गया था कि इसको सचमुच अमल में लाने का कोई इरादा नही था। मगर इससे शान्तिपूर्ण

समझौते का मौका बहुत कम रह गया, और अनिवार्य संघर्ष एक के बाद दूसरा पग बढ़ता पास आने लगा।

अब तो किसानों को और कांग्रेस को जल्दी ही निर्णय करना आवश्यक था। हम गांधीजी के लौटने तक अपना फ़ैसला नहीं रोक सकते थे। हमें अब क्या करना चाहिए? क्या सलाह देनी चाहिए? हम यह जानते थे कि कई किसान इस छोटी-सी मियाद में अपनी रकम अदा नहीं कर सकते थे। क्या यह उचित बात होगी कि हम उन किसानों से कह दें कि वे अपनी रकम अदा करदें? और फिर जो बकाया उनकी तरफ़ था, उसके बारे में क्या होगा? अगर उनसे माँगी हुई रकम का बड़ा हिस्सा भी वे जमा करदें या हाल की पूरी रकम भी चुका दें, जो बकाये में जमा करली जायगी, तो भी क्या वे बेदख़ल किये जाने के ख़तरे से बच जायँगे?

इलाहाबाद कांग्रेस कमिटी ने अपनी मज़बूत किसान-सेना के साथ लड़ाई का उपक्रम किया। उसने फ़ैसला किया कि उसके लिए किसानों को अदायगी करने की सलाह देना सम्भव नहीं है। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाक़ायदा मंज़ूरी के बिना वह कोई आक्रमणात्मक कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ़ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टंडन दोनों ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ़ इलाहाबाद ज़िले से ही सम्बन्ध रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हम जानते थे कि उस समय जैसी राजनैतिक अवस्थाएँ हैं, उनमें उसका परिणाम व्यापक हो सकता था। अगर इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमिटी को यह इजाज़त दे दी जाय कि वह फ़िलहाल, जबतक कि आगे समझौते की बातचीत न हो ले और ज़्यादा

अच्छी शर्तें न मिल जायें तबतक के लिए, लगान या मालगुजारी जमा न करने की सलाह किसानो को दे दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसकी मर्यादा में ही रहना भी चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गाधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड पडने की स्थिति से बचने के लिए अपनी शक्ति-भर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसी आर्थिक समस्या पर तो लडाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की सभावना थी। हाँ, कमिटी हालाँकि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढी हुई नही थी, और उसे किसान और जमीदारो का आपसी झगडा खडा होना पसन्द न था।

चूंकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलो में सलाह देने के लिए अधिक भरोसे का आदमी न समझा गया। मुझे खुद यह अनुभव हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम पक्ष के मेम्बर भी, सघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, घटनाओ से मजबूर होकर सघर्ष करना चाहते हैं, इसलिए मैने हमारी कमिटी की मीटिंग मे हमारे प्रान्त से तसद्दुक शेरवानी और दूसरे लोगो के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी प्रकार उग्र नही थे। स्वभाव से, राजनैतिक और सामाजिक दोनो रूप में वह काग्रेस में नरम पक्ष के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनके विचार युक्त-प्रान्तीय काग्रेस कमिटी की किसानो-सम्बन्धी नीति के विरुद्ध हो गये थे। मगर जब वह खुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हे खुद बोझ उठाना पडा, तो उन्होने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा चारा ही नही है। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो भी कदम उठाया वह

[illegible] के सहयोग के साथ, और अक्सर प्रधान की हैसियत से [illegible] उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक़ शेरवानी की बहस से [illegible] बड़ा असर पड़ा—ने जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत हिचकिचाहट के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं, उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अधिकार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाक़े में लगान और माल-गुज़ारी की अदायगी को स्थगित करने की इजाज़त दे सकती है। मगर, साथ ही, उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर ज़ोर दिया कि हो सके तो वे इस क़दम को न उठावें, और प्रान्तीय सरकार से समझौते की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई गई, लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा ख़याल है कि इलाहाबाद ज़िले की छूट में थोड़ा-सा इज़ाफ़ा कर दिया गया। साधारण परिस्थिति में शायद यह संभव होता कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता। सरकार और किसानों का मतभेद कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और कांग्रेस दोनों ही तरफ़ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाज़िमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ़ से जो-जो क़दम उठाया जाता था, उसमें ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की इच्छा से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्तरूप से हो सकती थीं, और दर-असल [illegible] हो भी रही थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के नैतिक बल पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो [illegible] भी उन्हीं

अपराधियो में से था, सार्वजनिक भाषणो मे यह बार-बार कहा था कि आजादी की लडाई हरगिज खतम नही हुई है, और हमे निकट-भविष्य में कई परीक्षाओ और कठिनाइयो से गुजरना पडेगा। हमने लोगो से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहे, और इसी कारण हमे लडाई जगानेवाला कहकर हमारी आलोचना की गई थी। वास्तव में मध्यम-वर्ग के कॉंग्रेसी-कार्यकर्त्ताओ में वस्तुस्थिति का मुकाविला करने की साफ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हे आशा थी कि किसी-न-किसी तरह सघर्ष टल जायगा। गांधीजी का लन्दन मे रहना भी अखबार पढनेवाले लोगो को चक्कर में डाले हुए था। मगर पढे-लिखे लोगो की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनायें आगे ही वढती गई, खासकर बगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर मे कई लोगो को यह दीखने लगा कि सकट निकट आ ही रहा है।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमेटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनायें हो जायें, लडाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बडी किसान-कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमें एक आरजी ठहराव किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेगी, तो उन्हे किसानो को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पडेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज हुई, और इसीको 'लडाई का पर्याप्त कारण' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय कॉंग्रेस पर भी असर पडा, और उसने इसको आनेवाले तूफान का सकेत समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियां करना शुरू किया। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेन्स हुई, जिसमे पहले से भी ज्यादा तेज और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा

उन्हीं में फैसले तक के लिए अदायगी रोक ले। उस समय भी, और अन्त तक हमारी लड़ाई का लक्ष्य यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय,' बल्कि यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय।' और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त देते ही रहे हालाँकि दूसरा पक्ष ऐंठ में दूर हट गया था। इलाहाबाद का प्रस्ताव जमींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू होता था मगर हम जानते थे कि असल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे जमींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के आरम्भ में युक्तप्रांत में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनायें हद तक पहुँच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकररूप से व्यापक आर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के लक्षण थे समझौते के नहीं, और प्रश्न उठता था कि गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेंगे? या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू हो गई है? हमें मालूम हुआ कि वह इंग्लैण्ड से चल चुके हैं और साल के अन्तिम हफ्ते में बम्बई आ पहुँचेंगे। हममें से हरेक मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर प्रमुख कार्यकर्ता, उनके लौटने तक लड़ाई को टालना चाहता था। और लड़ाई की दृष्टि से भी हमारे लिए यह उचित था कि हम उनसे मिल लें, और उनकी सलाह और हिदायतें पा लें। पर यह एक ऐसी दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसको रोक रखना या शुरू करना तो ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

: ४० :

## सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त मे मेरे व्यस्त रहते हुए भी बहुत दिनो से मेरी यह इच्छी थी कि मै दूसरे दोनो तूफानी केन्द्रो, सीमाप्रान्त और बगाल, में भी हो आऊँ। मै उस जगह जाकर वहा की परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियो से, जिनमें से अनेक को मैंने करीब दो साल से नही देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सबसे ज्यादा, मै यह चाहता था कि मै उन प्रान्तो के लोगो की स्पिरिट और हिम्मत के, और राष्ट्रीय सग्राम में उनकी कुर्बानियो के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान प्रकट करूँ। सीमाप्रान्त में तो कुछ समय के लिए मै जा ही नही सकता था, क्योकि भारत-सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख कांग्रेसी वहाँ जाय, और उसके इस रुख को देखते हुए हम वहाँ जाने और अडचन पैदा करने की कोई इच्छा नही रखते थे।

बगाल में स्थिति बिगडती जा रही थी, और हालांकि उस प्रान्त की तरफ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे बडी हिचकिचाहट हुई। मै अनुभव करता था कि मै वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त में कांग्रेसी लोगो के दो दलो के शोचनीय और लम्बे झगडो के सबब से बाहरी कांग्रेसवाले बहुत अर्से से डर गये थे, और दूर-दूर रह रहे थे, क्योकि उन्हे भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल में शामिल समझ लिये जायँगे। यह बडी कमजोर और चिमगादडी नीति थी, और इससे बगाल की समस्या के सरल होने या हल होने में मदद नही मिली। गाधीजी के लदन जाने के कुछ वक्त बाद ही दो घटनायें अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान

का ध्यान बंगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनों घटनायें हिजली और चटगांव में हुई थीं।

हिजली नजरबन्दों के लिए खास तौरपर बनाया हुआ एक डिटेन्शन कैम्प-जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दंगा हो गया और नजरबन्दों ने जेल के अधिकारियों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी थी। इस गोलीकाण्ड में एक नजरबन्द मारा गया और कई घायल हुए। स्थानीय सरकार द्वारा की गई जांच में जो उसके बाद ही फौरन हुई थी, जेलवालों को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिल्कुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुईं, और कई तथ्य ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जांच करने की जोरदार और जबरदस्त मांग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बंगाल-सरकार ने एक ऐसी जांच-कमिटी नियत की, जिसमें सब ऊंचे-ऊंचे जुडीशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने शहादतें लीं और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट नजरबंदी जेल के मुलाजिमों के खिलाफ हुई। यह तसलीम किया गया कि कुसूर ज्यादातर जेल के अधिकारियों का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार की जो पहले विज्ञप्तियां ( कम्यूनिक ) निकली थीं वे बिलकुल झूठी साबित हुईं।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नहीं थी। बदकिस्मती से ऐसी घटनायें हिन्दुस्तान में कम नहीं होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होने की और जेल में हथियारबन्द वार्डरों और दूसरे लोगों द्वारा निहत्थे और बेबस क़ैदियों के बहादुरी से दबाये जाने की खबरें अक्सर पढ़ने को मिला करती हैं। हिज्ली में असाधारण बात

यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओ के बारे में सरकारी कम्यूनिको के बिलकुल एकतर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गई, और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार के कम्यूनिको का कोई भरोसा नही किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल की घटनाये, जिनमे जेलवालो द्वारा कही गोली चलाई जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान-भर में बडी तादाद में होने लगी। अचरज की बात यह है कि इन जेल के दगो में चोट सिर्फ कैदियो को ही लगती मालूम होती थी। करीब-करीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमे कैदियो पर कई बेजा हरकतो का इलज़ाम लगाया जाता था, और जेल के अधिकारियो को बचाया जाता था। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होगे जिनमें जेलवालो को महकमे की तरफ से कोई सजा दी गई होगी। पूरी जाँच करने की तमाम माँगो के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ महकमे की एक तरफ की जाँच ही काफी समझी गई। साफ ज़ाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक सीख लिया था कि उचित और निष्पक्ष जाँच कराने मे खतरा रहता है और दोष देनेवाला ही खुद अपने इलज़ाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमे भी क्या ताज्जुब है कि लोगो ने भी हिजली से सबक सीख लिया हो, कि सरकारी कम्यूनिको में वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल हुई होती है?

चटगाँव की घटना तो इससे भी बहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतकवादी ने किसी एक मुसलमान पुलिस-इन्सपेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिंदू-मुस्लिम दगा हो गया, या उसे ऐसा नाम

दिया गया। मगर यह तो ज़ाहिर था कि मामला इससे कुछ बहुत ज्यादा था और वह मामूली दंगों से कुछ भिन्न था। यह साफ़ था कि आतंक-वादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध न था; वह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का खयाल न करते हुए एक पुलिस अफ़सर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद में हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगड़ा भी होगया। यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, इसके होने का कारण क्या-क्या था यह साफ़ नहीं बताया गया, हालाँकि ज़िम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले में बहुत संगीन इलज़ाम लगाये हैं। इस दंगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमें दूसरी जातियों के निश्चित समुदायों ने, एंग्लो-इण्डियनों ने, खासकर रेल्वे के मुलाज़िमों ने और दूसरे सरकारी मुलाज़िमों ने भी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर नेताओं ने चटगाँव की घटनाओं के सम्बन्ध में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जाँच करने या मानहानि का मुक़-दमा चलाने तक की चुनौती दी, मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही मुनासिब समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओं ने दो खतरनाक संभाव-नाओं की तरफ़ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई दृष्टियों से निंदा की गई थी और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक फल ऐसा भी हो सकता था जिससे मुझे खास-कर भय लगता था। वह संभावना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलाना। हालाँकि मैं हिंसा-काण्डों को ना-पसन्द करता हूँ लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूँ। मगर मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताक़तें स्वभावतः भी बहुत बड़ी-बड़ी हैं, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के

हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताकतो को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-बद्ध राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब के नाम पर या बहिश्त (स्वर्ग) जाने के लिए कत्ल करते है, तो ऐसे लोगो को आकतकारी हिंसा का अभ्यास करा देना बडी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योकि शायद उसका लक्ष्य सासारिक है, और व्यक्तिगत नही बल्कि राष्ट्रीय है। मगर मजहबी (धर्म के नाम पर) खून करना तो और भी बुरा है, क्योकि उसका सम्बन्ध इस लोक से नही, परलोक में सद्‌गति पाने से है, और ऐसे मामलो में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नही कर सकता। कभी-कभी तो दोनो के बीच में फर्क बहुत ही बारीक रहता है और करीब-करीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, आधी-धार्मिक बन जाती है।

चटगांव में एक आतकवादी द्वारा एक पुलिस-अफसर की हत्या किये जाने और उसके नतीजो से हरेक को बहुत साफ-साफ यह अनुभव होने लगा कि आतककारी हलचल से बडी खतरनाक बाते पैदा हो सकती है और हिन्दुस्तान की एकता और आजादी के काम को बेहद नुकसान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनाये हुई उनसे भी हमे मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फेसिस्ट तरीके पैदा हो चुके है। तब से ऐसी बदला लेने की घटनायें, खासकर बगाल में, बहुत हुई है और यह फेसिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इडियन जातियो में तो नि सदेह फैल चुकी है। हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओ मे भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतककारियो का या उनमें से

कई लोगो का भी यही फेसिस्ट दृष्टिकोण है, लेकिन उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्ट-वाद यूरोपियनो, एंग्लो-इण्डियनो और कुछ ऊँची श्रेणीवाले हिन्दुस्तानियो के साम्राज्यवादी फेसिस्टवाद का जवाब है।

नवम्बर १९३१ मे मैं कुछ दिनो के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और घरू तौर पर व्यक्तियो और समुदायो से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओ में भाषण भी दिये। इन सब सभाओ मे मैंने आतंकवाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आजादी के लिए वह कितना गलत बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंकवादियो को बुरा नही कहा, न मैंने हमारे कुछ ऐसे देशवासियो की तरह उन्हे 'कायर' ही कहा, जिन्होने शायद ही कभी पराक्रम या खतरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। और इनका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचको से, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते है लेकिन कर कुछ भी नही सकते, कुछ ज्यादा तिरस्कार करने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोड़ी देर पहले वहाँ शाम को मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम उम्र के, करीब बीस-बाईस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फीके थे और उन पर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखें चमकदार थी। मुझे मालूम नहीं था कि वे कौन है, लेकिन मैं अटकल से समझ गया कि उनका मतलब क्या था। वे मेरे आतंकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझसे बहुत गुस्सा थे। उन्होंने कहा कि इसमें नवयुवको पर बहुत बुरा

असर पड़ रहा है, और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नहीं करते हैं। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का समय पास आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज़ और हमारा मिज़ाज तेज़ हो गया था, और मैंने उनसे कुछ कड़ी बातें भी कह दी थीं, और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे अन्तिम चेतावनी दी कि "अगर आगे भी आपका यही रुख रहा तो हम आपके साथ भी वही वर्त्ताव करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

मैं कलकत्ते से चल तो दिया, मगर रात को गाड़ी में अपने बर्थ पर लेटे हुए, मेरे दिमाग़ में उन्हीं दोनों लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था; अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे! मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश मुझे लम्बी बात-चीत करने का मौक़ा मिलता! शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौक़ों की भी कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात समझा सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा। मैं कई बार सोचता हूँ कि न जाने वे मर चुके हैं, या अण्डमान के टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं!

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेन्स हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक स्वयंसेवक

था। वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा हो भी गया, और वह विभाग हार्डीकर को और मुझे सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर में ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई समारोहों के लिए वहां बुलाया था। फिर वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। वहां सब जगह लोगों में उत्साह और जोश देखकर मैं दंग रह गया। वहां से लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया जिसका नाम फौजी कानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के इस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण विदाई के गीत जैसे थे, लेकिन उनमें संगीत की अनिश्चित लड़ाई भरी थी। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी। सरकार ने वार कर दिया था, और तलवार किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था कर दी। बम्बई में ही और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहां पहुंचने के साथ ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास 'आर्डिनेंस' निकाल दिया है। सरकार ने निश्चय कर लिया था कि वह गांधीजी के आने की बाट न देखेगी, हालांकि गांधीजी जहाज पर सवार हो चुके थे, और जल्दी ही बम्बई आ जानेवाले थे। कहने को तो वह 'आर्डिनेंस' किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा फैला हुआ और दूरगामी था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमें बच्चों या

नाबालिगो के अपराधो के लिए माता-पिताओ या सरक्षको को सजा देने का विधान भी किया गया। यह इजील की प्राचीन प्रथा की ठीक उलटी आवृत्ति था।[1]

लगभग इन्ही दिनो हमने गाधीजी की उस बातचीत की खबर पढी, जो रोम मे 'ग्योरनेल दि इटैलिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढकर हम अचम्भे मे पड गये, क्योकि इस तरह रोम मे राह चलते 'इंटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा गौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नही आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमे साफ तौर से मालूम हो गया था कि जिस तरह की 'इटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नही हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड-मरोड कर बनाया गया है। बाद मे तो गाँधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला, और यह वक्तव्य भी निकला कि उन्होंने रोम में कोई इटरव्यू ही नही दी। हमे तो स्पष्ट मालूम था ही कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमे आश्चर्य इस बात से हुआ कि ब्रिटिश अखबारो और सार्वजनिक लोगो ने उनकी बात पर विश्वास नही किया और तिरस्कार के साथ उन्हे झूठा बतलाया। इससे हमें चोट पहुँची और गुस्सा भी आया।

१ यहाँ थोडा व्यग है। बाइबिल (इजील) में एक जगह पैगम्बर मूसा ईश्वर के दस आदेश ( Ten Commandments ) गिनाते है, जिसमें एक जगह पर वह कहते हैं—"होशियार! तुम बुरे देवो को मत पूजना, क्योकि ईश्वर तो ईर्ष्यालुदेव है, दूसरे देवताओ की पूजा सहन नहीं कर सकता। माता-पिताओ के पापो के फल तीसरी-चौथी पीढी तक उनकी सन्तानो को भोगने पडते हैं ( ड्युटे पृ० ९ )"—इसकी उलटी आवृत्ति अर्थात् सन्तानो के कुकर्म के फल माता पिता भोगें। —अनु०

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो ऐसे मौक़े में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर-आँगन में इतनी घटनायें हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर कसौटी ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूँ। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूँ। वे एक ही सप्ताह बाद आनेवाले थे। मगर यह असम्भव था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ़्तारी की ख़बर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेन्स भी इटावा में उसी हफ़्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ़्ते बाद, अगर खुला रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊँ। कमला को मैंने रोगशय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छिउकी स्टेशन पर नये आर्डिनेन्स के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नक़ल मुझे देने की कोशिश की गई। और, मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। ज़ाहिर था कि सरकार कोई भी जोखम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक़ मैं इलाहाबाद की म्युनिसिपल हद के अन्दर नज़रबन्द कर दिया गया और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए। किसी अख़बार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक़ शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के

हुक्म जारी किये गये थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने ज़िला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत में आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना मामूली काम हस्वमामूल करूँगा, और अपने काम के सिलसिले में इस हफ्ते में मैं गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, बैठक में शरीक होने बम्बई जल्दी जाने वाला हूँ।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्त-प्रान्तीय-कान्फ्रेन्स उसी हफ्ते इटावे में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने की तजवीज पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी के आने के दिनों में ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेन्स में किसानों की समस्या पर भी विचार किया जायगा? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि कान्फ्रेन्स का खास उद्देश ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमें इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसी को भी यह अख्तियार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बाँध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगों का यह इरादा तो था ही कि कान्फ्रेन्स स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और होगई। हममें से कई लोग ऐसे मामलों में तो कुछ-कुछ आग्रही ही थे, और सरकार-द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा।

फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फ़ैसला इसलिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अन्दर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहां पहुंच गये थे, वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहां लगी स्वदेशी-प्रदर्शिनी पर फौज ने क़ब्ज़ा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खासतौर पर बुलाया दिया गया था। हम दोनों को ही ऑर्डिनेन्स के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि ऑर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे जिलों में लगानबन्दी की हलचलों के खिलाफ़ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बन्द करना ही चाहिए। मगर यह भी साफ़ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे; और अगर वास्तव में ऑर्डिनेन्स किसानों की परिस्थिति का मुकाबिला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए। ऑर्डिनेन्स के जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे हालांकि खास खास लोगों ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहांतक यू० पी० कांग्रेस का सम्बन्ध था, यह

बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल, सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहाँकि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलो पर गौर करते, और यह किसीको मालूम नही था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नही था, कि उनके आखिरी फैसले क्या होते।

इन सब विचारो से मुझे खयाल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भग को सरकार सह लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योही हम रेल में बैठे, हमने सवेरे के अखबारो में नये सीमाप्रान्ती आर्डिनेन्स और अब्दुलगफ्फारखाँ तथा डाक्टर खानसाहब वगैरा की गिरफ्तारी का हाल पढा। बहुत जल्दी ही हमारी गाडी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगज पर, जहाँ आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफसर आगये। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लैक मैरिया' (जेल की मोटर) गाडी खडी थी, और कैदियो की इस लारी में मैं और शेरवानी दाखिल हुए। वह तेजी से चली और हम नैनी-जेल मे जा पहुँचे। वह 'बॉक्सिग दिवस' का प्रात काल था और वह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अग्रेज था, वह दु खी और उदास दिखाई दिया। मुझे दु ख है कि हमने उसका क्रिसमस त्योहार बिगाड दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुँचे—

'एक घड़ी भर अब तू सारा आल्हाद भुलादे
और, वेदना में ही अब तो कुछ काल बितादे।'[1]

१. शेक्सपियर के अग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

: ४१ :

## गिरफ़्तारियाँ, आर्डिनेन्स और जब्तियाँ

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें यहाँ की नई और ताजी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेन्स की ख़बर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुःखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू०पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सों के रूप में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० में उनके कुछ सबसे घनिष्ट साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पाँसा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूँढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय लार्ड विलिंग्डन से मुलाक़ात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें यह थीं कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त की ताजी घटनाओं, और नये आर्डिनेन्सों और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारियों के बारे में बातचीत न करें। (यह बात मैं अपनी याद से लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नहीं है) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह में इन विषयों के अलावा जोकि देश में खलबली मचा रहे थे, और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया गया था गांधीजी या कांग्रेस का कोई भी नेता और किस विषय पर बातचीत कर सकता था। अब यह बिलकुल साफ़ प्रकट हो गया कि भारत-सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नहीं रखना चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय आज्ञा-भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न

रहा। कार्य-समितिवालो को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशका हो गई थी, और वहाँ से विदा होने के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरज़ी तौर पर सविनय-भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गाँधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुवारा कोशिश की। उन्होने वाइसराय को विना शर्त के मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाँधीजी और कांग्रेस के सभापति[१] की गिरफ्तारी के रूप में मिला, और साथ ही वह डोरी भी हिला दी गई जिससे कि सारे देश मे भयकर दमन का नाटक शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि चाहे दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो लड़ाई के लिए वेचैन थी और पहले ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

नि सन्देह हम तो जेल में ही थे, और ये सारी खवरे हमारे पास गोलमोल और तितर-वितर होकर आई। हमारा मुकदमा नये साल के लिए स्थगित कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती कैदी होने के कारण सज़ायाफ्ता कैदियो की अपेक्षा ज्यादा मुलाकाते करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाकात मजूर करनी चाहिए थी या नही इसपर अखवारो मे बहुत वाद-विवाद चल रहा है, मानो इससे कोई वड़ा फर्क पड़नेवाला था। यह मुलाकात का प्रश्न ही और सव वातो से वढ कर चर्चा का विषय हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लार्ड अर्विन होते तो वह मुलाकात जरूर मजूर कर लेते, और अगर उनमे और गाँधीजी मे मुलाकात हुई होती तो निश्चय ही सव कुछ ठीक हो जाता। मुझे अचरज हुआ कि परिस्थिति के वारे में हिन्दुस्तान के अखवार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते है, और असलियत की ओर कैसे आँख उठाकर नही देखते है। क्या हिन्दु-

१ सरदार वल्लभभाई पटेल।

[illegible] राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का, जिनमें सूक्ष्म विचार से मालूम होगा कि कभी मेल नहीं हो सकता, अवश्यम्भावी संघर्ष सिर्फ़ व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर है? क्या इतिहास की दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष मीठी मुसकान और ऊपरी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकता है? गांधीजी को एक खास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न महत्त्व-पूर्ण मामलों में विदेशी फरमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। तथा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का सामना करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और उस समय वाइसराय कोई भी हो इस बात में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंगडन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अस्त्र थे, और वे निर्दिष्ट दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फ़र्क़ कर सकते थे। वास्तव में, बाद में तो लॉर्ड अर्विन ब्रिटिश-शासन-तन्त्र के सदस्य होगये और हिन्दुस्तान में जो-जो सरकारी कार्रवाइयां की गई उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ़ या बुराई करना मुझे तो बिल्कुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ़ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते हैं।

४ जनवरी सन् १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया। उस दिन सबेरे ही गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ्तार कर लिये गये और बिना मुकदमा चलाये,

शाही कैदी बना लिये गए। चार नये आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये जिसके द्वारा मजिस्ट्रेटो और पुलिस अफसरो को व्यापाक-से व्यापक, अधिकार मिल गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई, और जन और धन दोनो पर ही अधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे। सारे देश पर मानो कब्जा कर लेने की हालत की घोषणा कर दी गई और इसको किस-किस पर और कितना कितना लागू किया जाय, यह मुकामी अफसरो की मर्जी पर छोड़ दिया गया।[१]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल मे यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छ महीने की सख्त कैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई; मुझे दो साल की सख्त कैद और ५ ० रुपये जुर्माना ( या बदले मे छ महीने की कैद और ) की सजा दी गई। दोनो के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनो को इलाहाबाद शहर में नजरबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनो ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भग किया था। हम दोनो को एक ही धारा में गिरफ्तार किया गया, और दोनो का एक साथ ही मुकदमा चला। फिर भी हमारी सजाओ में बडा अतर था। लेकिन एक फर्क जरूर हुआ था। मैंने जिला-मजिस्ट्रेट को लिखकर सूचना दी थी कि मैं हुक्म की खिलाफ-वर्जी करके बम्बई जाना चाहता हूँ, शेरवानी ने ऐसा कोई बाकायदा नोटिस नही दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात भी समान-रूप से सब जानते थे और अखबारो में भी छपी थी। सजा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से

१ भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "म मजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सों का हमनें समर्थन कर दिया है वे बडे व्यापक और सख्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"

थी, प्रत्येक बडे प्रान्त के सैकडो नाम इनमें शामिल थे। सारे हिन्दुस्तान भर का जोड कई हजार तक पहुँच गया होगा। इन गैर-कानूनी घोषित सस्थाओ की यह सख्या ही मानो काग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

वम्वई में कमला मेरी पत्नी सख्या पर बीमार पडी थी, और आन्दोलन मे हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माँ और दोनो वहने जोशखरोश के साथ आन्दोलन में कूद पडी। मेरी दोनो वहनो को जल्दी ही एक एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुँच गई। नये आनेवालो के जरिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खवरे मिल जाया करती थी। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योकि सव दूर सेन्सर की वडी सख्ती थी, और समाचार-पत्रो और समाचार-एजेन्सियो को भारी-भारी जुर्मानो का डर हमेशा वना रहता था। कुछ प्रान्तो मे तो गिरफ्तारशुदा या सजायाव व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल मे वाहर के झगडो से अलग पडे हुए, फिर भी उनमे सैकडो तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपने को कातने, पढने या दूसरे कामो में मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलो पर भी वातचीत करते थे, लेकिन हम हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार-दीवारी के वाहर क्या हो रहा है। उसमे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी तो किसी वात की उम्मीद करते-करते वहुत थक आते थे और कभी-कभी किसी काम के विगड जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तबियत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीव ढग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जव विशाल शक्तियाँ अपना काम

[illegible] और मेरे जैसे लोगों का [illegible] है, वह सवालों की [illegible] दुनिया का [illegible] नहीं जानती। हम सोचा करते थे कि [illegible] और [illegible] और इस [illegible] उत्पात, निर्दयता पर दमन और [illegible] का अन्त क्या होगा? इसका क्या नतीजा होगा? [illegible] भविष्य हमारी आँखों से छिपा हुआ था और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था, और [illegible] हमने [illegible] था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम यह बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आग में और खून में, संघर्ष, और कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध का हो जायेगा,
जेन्थस[1] सारा अहो रक्त से रंग जायेगा,
हेक्टर[2] तथा अकेलिस[3] पुनः होंगे समुपस्थित,
हेलन[4] भी खुद दृश्य लखेगी हो उपस्थित।
तब हम या परदे में होंगे या चमकेंगे रण में,
अन्धी आशा-निराशाओं में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होगा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।"[5]

१-२-३-४. अकेलिस, हेक्टर, और हेलन यूनानी कवि होमर के 'ईलियड' काव्य के पात्र हैं। हेलन (यूनान की सुंदरी) के हरण होने पर यूनान ने ट्रॉय पर चढ़ाई की थी और दस वर्ष तक ट्रॉय का घेरा चलता रहा था। हेक्टर ट्रॉय का बली योद्धा था और अकेलिस यूनान का। जैन्थस ट्रॉय की एक नदी है।

५ मेथ्यू एरनॉल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

: ४२ :

## ब्रिटिश शासकों की छेड़छाड़

१९३२ के उन प्रारम्भिक महीनो में, और बातो के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमो ने मारे खुशी के खूब हा-हा-हू-हू की। छोटे और बडे सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगडालू हैं। हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि काग्रेस को डिक्टेटर-शिप भाती है। वह देखो कांग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में ये हाकिम आर्डिनेन्सो, तमाम आजादी के दमन, अखबारो और छापेखानो की मुंहबन्दी, बिना मुकदमा चलाये लोगो की जेल-बन्दी, जायदाद और रुपयो की जब्ती और रोज-ब-रोज होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीजो-जैसी न-कुछ बातो को भूल गये थे। इसके अलावा वे, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज का जो मूल स्वरूप है, उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देश भाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलो मे बन्द काग्रेसी किस तरह अपना मतलब गाँठ रहे हैं जबकि हम कुछ हजार रुपये महीनो की नगण्य मजदूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगो को भारी-भारी सजायें तो देते ही थे, लेकिन सजा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशो के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कांग्रेस में काम करनेवाले लोगो को गालियाँ भी देते थे। भारत-मन्त्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठावाले पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, "हाँ, कुत्ते भौंक रहे हैं, मगर हमारा हाथी चला जा रहा है।"

उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहां से वे आसानी से भौंक नहीं सकते थे, और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुंह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा अचरज की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष कांग्रेस के माथे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सच-मुच बहुत ही वीभत्स था, लेकिन उसकी वीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि इसकी वीभत्सता के लिए कांग्रेस जिम्मेदार थी, जबकि असली बात जो हुई वह यह थी कि उस दंगे में कांग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहां तक कि कांग्रेस का एक सर्वश्रेष्ठ सेवक[1] उसमें होम होगया, जिसके बलिदान पर कानपुर के हर कौम और दल ने आंसू बहाकर शोक प्रकट किया। दंगों की खबर पाते ही कांग्रेस ने अपने कराची के अधिवेशन में फौरन ही एक जांच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जांच की। कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियां उठा ली गईं, और मेरी समझ में वे नष्ट कर डाली गईं। जांच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे सरकारी आलोचक और वे अखबार जिनके मालिक अंग्रेज हैं हर बार यह बात दुहराते नहीं थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस मामले में ही नहीं, दूसरे और मामलों में भी, अन्त में जीत सचाई की होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दों में —

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत करदेगा।

१ श्री गणेशशंकर विद्यार्थी।

गन्य महान्, उसीकी जग में विजय अंत में होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"¹

मेरा ख़याल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिल्कुल स्वाभाविक था और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता था कि सच्चाई से या संयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उसमें आशातीत झूठ और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और झूठ को देखकर अचम्भा होता था। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल की प्रवृत्ति कैसी थी और पिछले दिनों में वे अपने को कितना दबाये रखते थे। सम्भवत उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि इस विचार से आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासकों को अपनी ताकत का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नहीं हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति में और उधर दूसरी तरफ की तस्वीर में जमीन आस्मान का फर्क था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी संयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाकी के लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर कांग्रेसवालों का मुँह इस तरह मजबूरी से बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियाँ देने में शासकों को मात करते। मगर, हाँ, कांग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था ग़ैर-कानूनी अखबारों का, जो कई शहरों में समय-समय पर निकाले जाते थे।

१. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

हिन्दुस्तान में अँग्रेजों के जो अखबार निकलते हैं और जिनके मालिक अंग्रेज हैं वे भी बड़े दल के साथ इस जंग में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत-से विचार प्रकट किए और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आमतौर पर उन्हें अपनी बात कुछ नपे-तुले ढंग से कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारों के ग्राहक हैं, लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह कृत्रिम संयम दूर हो गया और हमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की असली झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान में अँग्रेजी अखबार बहुत कम रह गये हैं, वे एक-एक करके बन्द हो गये हैं, लेकिन जो बाक़ी बचे हैं, उनमें कई ऊँचे दरजे के हैं—ख़बरों के लिहाज से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। विदेश-समस्याओं पर उनके जो अग्रलेख होते हैं, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगों के दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं, फिर भी, उनमें लिखनेवालों की योग्यता झलकती है, तथा इस बात का पता चलता है कि उन्हें अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा अधिकार है। इसमें कोई शक नहीं कि अखबारों की दृष्टि से मसलन वे सबसे अच्छे हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने पद से गिर जाते हैं। उनके एकपक्षी विचारों को देखकर ताज्जुब होता है, और जब कभी कोई आन-बान का मौक़ा आता है तब तो उनकी वह हिमायत प्राय: बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सच्चाई के साथ भारत-सरकार की राय को प्रकट करते हैं और इस सरकार के हक़ में वे लगातार जो प्रचार करते हैं, उसमें अपनी बात किसी पर ज़बरदस्ती न थोपने का गुण नहीं होता।

इन कुछ गिने-चुने अँग्रेज़ी अख़बारों के मुक़ाबिले में हिन्दुस्तानी अख़बार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते

है और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते हैं। वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मुश्किल से चला पाते हैं और बिचारे दुखी सम्पादकीय-विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते हैं और क्या राजनीति और क्या सामान्य जीवन दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूँ कि कुछ तो इसकी वजह यह है कि हम लोगों की जाति ही भावुकतामय है, और कुछ यह कि जिस भाषा में (यानी अंग्रेजी में) वे निकलते हैं वह विदेशी भाषा है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई किस्म के ऊँचे-नीचे विचारों से ग्रस्त हैं जो बहुत दिनों के दमन और गुलामी की वजह से पैदा हुए हैं, इसलिए इन भावों को बाहर निकालने की हमारी प्रत्येक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेजी में निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अखबारों में जहाँतक बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से संबंध है, मदरास का 'हिन्दू' सम्भवतः सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी अविवाहित वृद्धा की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती हो और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरूफ भी पढ़ दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता हो। यह अखबार खासतौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अखबार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। जिन्दगी के नकली या ऊपरी पहलुओं से जीवन के संघर्षों और उसकी कशम-मुक्की से, उसका कोई नाता नहीं। नरम-दल के और भी कई अखबारों का स्टैंडर्ड यही अविवाहित वृद्धाओं का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते, लेकिन उनमें वह खूबी नहीं आ पाती जो 'हिन्दू' में है, इसलिए वे हर लिहाज से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह साफ था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश मे रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सो से सम्हाले। उन दिनों वार का सूत्रपात हमेशा कांग्रेस की तरफ से होता था; लेकिन १९३२ की पद्धति बिलकुल दूसरी थी। १९३२ में सरकार ने सब तरफ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेन्सो के द्वारा हाकिमो को जितने अधिकार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। सभायें ग़ैरकानूनी करार दे दी गईं। इमारतो पर, जायदाद पर, सवारियो, मोटरो वग़ैरा पर और बैंको में जमा रुपयों पर कब्जा कर लिया गया। आम जलसो और जुलूसों की मनाही करदी गई और अखबारो और छापेखानो पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ, १९३० के बिलकुल विरुद्ध, गांधीजी निश्चितरूप से यह चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरो की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करे लेकिन लड़ाई हुए बिना न रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा सयुक्तप्रान्त में और सरहदी सूबे में जो तनातनी बढ़ रही थी उसमे लोगों का ध्यान भावी लड़ाई की तरफ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालाँकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूर्ण अपेक्षा नहीं कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गाधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और जाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके हृदयों में यह आशा पैदा कर दी थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चितरूप से पहला हमला सरकार की तरफ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी। आर्डिनेन्सों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनायें अचानक हो गई उनकी वजह से कई जगह के स्थानिक नेता तो भौंचक्के रह गये। लेकिन ये सब बातें होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था। सत्याग्रहियों की कमी नहीं रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे खयाल से इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुकाबिला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुकाबिले से बहुत कड़ा और भारी था। यद्यपि १९३० में खासतौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूम-धाम और शोरगुल ज्यादा थे परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, किन्तु इन बातों के होते हुए भी स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का जोर १९३० से बहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम अनिच्छा से लड़ाई में शामिल हुए थे। १९३० में हमारी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव अनुभव करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुरझा गया था। सरकार ने उसके पास जितनी शक्ति थी सब लगाकर कांग्रेस का मुकाबिला किया। उन दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फौजी कानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आजादी ही मिली। वह पहले ही प्रहार में बेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से, जो पिछले दिनों में उनके खास मददगार रहे थे, बहुत से इस बार घबरा गये। उनकी [illegible] पर आ बनी। यह बात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ उनकी आजादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी माली

जायदाद भी ज़ब्त कर ली जा सकती थी। इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रान्त में तो कोई खास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहाँ तो ज़्यादातर गरीबों ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा। व्यापारियों के लिए तो इसका अर्थ था पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों (जैसे वकीलों-डाक्टरों) को भी उससे भारी नुक़सान पहुँचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के लोगों को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी थी कि तुम्हें लम्बी क़ैद की सज़ा देने के बाद तुम पर पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गई थीं, और ये कोरी बातों की धमकियाँ ही न थीं; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमती थी और लोगों को हर रोज़ इन धमकियों के पूरे होने के उदाहरण मिलते रहते थे।

मेरा विचार है कि किसी कांग्रेसी को इस बात का अधिकार नहीं है कि सरकार ने जो तरीक़ा अख़्तियार किया उसपर ऐतराज़ करे—यद्यपि एक सोलहों आने अहिंसात्मक आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने जिस ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत आपत्तिजनक थी। अगर हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी साधनों से काम लेते हैं तो हमें हर तरह के विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे साधन कितने भी अहिंसात्मक क्यों न हों? हम लोग अपने बैठकख़ाने में बैठे-बैठे क्रान्ति का खेल नहीं खेल सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनों का फ़ायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते हैं। अगर कोई क्रान्ति की ओर क़दम बढ़ाना चाहते हैं, तो उन्हें

उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसेवाले अमीर लोगो में से तो बिरले ही क्रान्तिकारी मिलेगे। हाँ, उन व्यक्तियो की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगो की दृष्टि में मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते है।

लेकिन आम लोगो के पास न तो मोटरे थी, न बैंको में उनका कोई हिसाब था, न जब्त करने लायक जायदाद, और उन्ही लोगो पर लड़ाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनके लिए सरकार ने दूसरे तरीके अख्तियार किये। सरकार ने चारो तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीजा यह हुआ कि उन लोगो का दल उठ खडा हुआ जिनको हाल ही में छपी एक किताब के अनुसार 'सरकार-पक्षी' ( Governmentarians ) के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगो को यह तो पता नही था कि भविष्य में क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग कांग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफी नही समझती थी। गदर के समय में मशहूर हुए फ्रेडरिक कूपर के शब्दो में शासक लोग, 'पूरी, क्रियाशील और प्रत्यक्ष वफादारी से कम किसी बात को सह नही सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नही हो सकती थी कि वह अपनी रिआया के सद्भाव-मात्र पर कायम रहे।' अपने पुराने साथियो, ब्रिटिश-लिबरल (उदार) दल के उन नेताओ के विषय में, जो राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, एक साल पहले मिस्टर लॉयड जार्ज ने कहा था कि 'वे उन गिरगिटो के नमूने है जो अपने देश-काल की अवस्था देखकर अपना रग बदल लेते है।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था में न्यारे रगो के लिए गुंजाइश नही थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के अत्यन्त

चमकीले रूप में रहकर बाहर निकले और नाचते गाते नया गीत गाते हुए उन्होंने शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर दिखाया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनमें, तरह-तरह की जो पाबन्दियाँ, मनाहियाँ और रोकें लगी हुई थीं उनसे, और दिन ढले बाद घरों से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हें डरने की कोई जरूरत न थी, क्योंकि सरकार की ओर से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अ-राजभक्तों ही के लिए है, राजभक्तों के लिए उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। इसीलिए जिस डर ने हमारे बहुत से देश-भाइयों को जकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नहीं फटका और वे अपने चारों तरफ होनेवाले हलचल और कशमकश संघर्ष को समदृष्टि से देखते थे। पतिव्रता ग्वालिन ( The Faithfull Shepherdess ) नाम की कविता में शायद वे भी पलों से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि—

"भय क्यों हो, सर्वथा मुक्त हूँ मैं तो भय से,
बलात्कार क्यों, राजी हूँ जब स्वयं हृदय से ?[१]"

न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस जेलों को औरतों से भरकर अपनी लड़ाई में उनका लाभ उठाना चाहती है। क्योंकि कांग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सजा दी जायगी। यह धारणा बिलकुल निराधार थी। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में धकेली जायें ? मामूली तौर पर लड़कियों और स्त्रियों ने हमारी लड़ाई में क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के पुरुषों का पूरा सहयोग नहीं मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-

१. फ्लेचर कवि के एक 'प्रहसन' से।

लम्बी सजायें देकर और जेलों में बुरा वर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनों की गिरफ्तारी के बाद शीघ्र ही कुछ युवती लड़कियाँ, जिनमें से अधिकांश पन्द्रह या सोलह वर्ष की थी, इलाहाबाद में इस बात पर गौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई अनुभव तो था नहीं। हाँ, उनमें जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थी कि हम क्या करें। लेकिन जब वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रही थी, गिरफ्तार करली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख्त कैद की सजा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी जो उन दिनों आये-दिन हिन्दुस्तान-भर में हो रही थी। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सजा मिली उनमें से ज्यादातर को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। उन्हें मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफें भुगतनी पड़ी। यों मैंने ऐसी कई दुःखदाई मिसालें सुनी, लेकिन मीरा बहन (मिस मेडलीन स्लेड) ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी कैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों के साथ होनेवाले जिस व्यवहार का वर्णन किया वह उन सब को मात करने वाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती रकबों में ही रहा। किसानों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार जोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफी छूट देने का वादा किया लेकिन हम उसे भी काफी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। विचित्र बात तो यह थी कि इस छूट का ऐलान पहले से नहीं किया गया, क्योंकि अगर यह पहले हो जाता तो हालत में काफी अन्तर पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरादें। लेकिन उस वक्त तो सरकार को यह चिन्ता थी कि इस छूट की नामवरी कांग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और

दूसरी तरफ किसानो को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात तो साफतौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ कांग्रेस का जोर ज्यादा था वहीं-वहीं ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटें ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानो की समस्या हल न हुई। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ सभल जरूर गई। इन छूटो ने किसानो की लडाई की तेजी कम करदी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटो ने उस समय हमें कमजोर कर दिया। उस लडाई से युक्तप्रात में बीसियो हजार किसानो को दु ख झेलने पडे। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद हो गये। लेकिन उस लडाई के जोर से लाखो किसानो को मौजूदा प्रणाली में ज्यादा से-ज्यादा जितनी छूट सभव हो सकती थी करीब-करीब उतनी मिल गई और उस लडाई ने तरह-तरह की तंगियो से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह-सग्राम या उसके पुछल्लो की वजह से बहुतों को जो तकलीफ उठानी पडी वह अलग ही। किसानो को कभी-कभी जो ये थोड़े से फायदे होगये वे ऐसे कुछ हैं नहीं, लेकिन इस बात में कोई शक नही है कि वे जैसे कुछ थे प्राय उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानो की तरफ से की थी। और किसानो को उस लड़ाई से कुछ दिनो के लिए फ़ायदा ही हुआ, लेकिन उनमें जो सबसे अधिक बहादुर थे, वे उस लडाई में काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रांत का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक विवरणात्मक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डीनेंसो के साथ-साथ जो बयान निकाले गये, उनमें बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बातें भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा

था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट गलतियों के खंडन करने का कोई मौका नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे खासतौर पर एक झूठा दोष मढ़ने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ-साफ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयां बड़ी अजीब होती थीं। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बरौती थी और कितनी हड़बड़ा गई थी। उस दिन जब मैं वह आज्ञापत्र पढ़ रहा था जो स्पेन के बोरबन चार्ल्स तृतीय ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था, उसे पढ़ते-पढ़ते मुझे उन हुक्मनामों और आर्डिनेंसों की तथा उन्हें निकालने के लिए दिये गये कारणों की याद आये बिना न रही जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में प्रकाशित किये। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ को निकला था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास 'अपनी प्रजा में अपना शासन, शांति और न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो कर्त्तव्य है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर कारण हैं और इन कारणों को छोड़कर दूसरे बहुत जरूरी उचित और आवश्यक कारण भी हैं, जिन्हें मैं अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूँ।"

तो आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलों में ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ-साफ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेन्सों को निकालने के लिए जो कारण बताये गये, उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौका मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में पूर्णता पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ अर्द्ध-सरकारी परचे व पैम्फलेट हजारों की तादाद में सब गाँवों में बांटे जा रहे हैं, और जिनमें गलत बातों की तादाद काफी

आश्चर्यजनक है और जिनमें खासतौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानों को नाज की जिस मन्दी से नुकसान पहुँचा है, वह कांग्रेस ने ही कराई है। कांग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ और क्या हो सकती है कि वह संसारव्यापी संकट पैदा कर सकती लेकिन यहाँ झूठ लगातार काफी होशियारी के साथ इस आशा से फैलाई गई कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास ज़िलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था, वह प्रशंसनीय है। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाज़िमीतौर पर उचित लगान और छूट की लड़ाई में मिल गई थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कहीं ज्यादा तादाद में और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ विनोद भी हुआ। हम लोगों को एक मजेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली ज़िले के बाकुलिया गाँव में गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुड़क करने के लिए गये थे। इस गाँव के लोग दूसरे लोगों को देखते हुए कुछ खुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने माल और पुलिस के अफसरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरों के किवाड़ खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगों ने मवेशी वग़ैरा कुड़क किये। इसके बाद गाँववालों ने पुलिस और माल-विभाग के हाकिमों को पान-सुपारी नज़र की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक विरली और ग़ैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मनुष्योचित दया कहीं भी न दिखाई दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गाँव उस सजा से नहीं बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

इन कई खास-खास जिलों में कई महीनों तक किसानों ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी शायद गरमी के शुरू में शुरू होने लगी। इसमें कोई शक नहीं कि बहुत से लोग गिरफ्तार किये गये लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ करनी पड़ी। साधारणतौर पर गिरफ्तारियाँ तो खास-खास कार्यकर्त्ताओं तथा गाँवों के नेताओं की ही की जाती थी। दूसरों को तो केवल मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मारपीट की यह पद्धति जेल में ले जाने और गोली मारने से अच्छी पाई गई। क्योंकि लोगों को जब जी चाहे तभी मारा पीटा जा सकता है और दूर देहात में होनेवाली मार-पीट की तरफ वहाँ से दूर के लोगों का ध्यान प्रायः नहीं जाता है। इसके अलावा उससे कैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती, जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हाँ, बेदखलियाँ, कुड़कियाँ और जानवर तथा जायदाद की नीलामियाँ बहुत हुईं। किसान तकलीफ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन में कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी कीमती सामान और माल सरकार के कब्जे में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया, लेकिन उसके बाद पड़ोस में एक पार्क की खुली जगह में ही दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल—या कहना चाहिए दवाखाना—स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान में रक्खा गया और वहीं वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द-भवन' की बाबत भी कुछ बात चली

दी कि सरकार उसपर भी अपना कब्जा कर लेना चाहती है, क्योंकि मैंने इनकम-टैक्स की एक बड़ी बक़ाया रकम को अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० में पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होंने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उस साल उसे जमा नहीं किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ में उस टैक्स के बारे में इनकम-टैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अन्त में मैं उसे देने को राज़ी हो गया और उसकी एक क़िस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुए और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नहीं दूंगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यों अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानों से तो यह कहूँ कि तुम लगान और माल-गुज़ारी देने से रुक जाओ और खुद अपना इनकम-टैक्स जमा करदूं। इसलिए मैं यह आशा करता था कि सरकार हमारे मकान को कुड़क कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुड़की की बात बहुत ही बुरी लगती थी। क्योंकि उसका अर्थ यह होता कि मेरी माँ उनसे निकाल दी जाती और हमारी किताबें, कागज़ात तथा जानवर और बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि में महत्व था, पराये लोगों के हाथों में चली जाती और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जातीं। हमारा राष्ट्रीय झण्डा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनियन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का विचार मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता था। क्योंकि मैं अनुभव करता था कि मेरा मकान कुड़क हो जाने पर मैं उन किसानों के ज्यादा नज़दीक आजाऊँगा, जो अपनी चीज़ें खो बैठे हैं और इससे उनके दिल भी बढ़ेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान पर हाथ नहीं डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माँ का

खयाल था, या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुडक करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेजी बढ जायगी। कई महीनो बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरो (हिस्सो) का उसे पता लगा और इनकम-टैक्स वसूल करने के लिए उन्हे जब्त कर लिया गया। सरकार ने मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुडक करके बेच डाली थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा वेदना हुई। यह बात थी कई म्यूनिसिपैलिटियो और सार्वजनिक सस्थाओ-द्वारा हमारे राष्ट्रीय झडे का उतार डालना, खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरो में कांग्रेसियो का बहुमत बताया जाता था। झडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयगी। यह सख्ती सभवत म्यूनिसिपैलिटी को तोडने या उसके मेम्बरो को सजा देने के रूप में होती। जो सस्थायें स्थापित स्वार्थ रखती है वे अक्सर डरपोक होती है और शायद उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे झडे उतार डालती। फिर भी इस बात से बडा दुख हुआ। हमारे लिए, वह झंडा जिन बातो को हम बहुत प्यार करते है उनका, प्रतीक हो गया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञायें ली थी। खुद अपने ही हाथो उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोडना ही नही बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक-बल के सामने झूठ को कुबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होने कौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्जत को हल्का किया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग में कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली पंक्ति में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी तरह की तकलीफें या नुक़सान नहीं सह सकता, ग़लत और व्यर्थ है। हरेक को बहुत से कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं और कई प्रकार की ज़िम्मेदारियाँ उठानी पड़ती हैं। और दूसरों को इस बात का कोई हक़ नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सच्चाई से या जिसे हम सच्चाई समझते हैं उसे न मानना बिल्कुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितों के खिलाफ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे देते। मगर, इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। टॉमस मूर ने कहा है —

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद उस बात के लिए किसीकी आलोचना करना अन्याय है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया जिसमें वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला सर्वव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में 'टाइटैनिक'[2] जहाज सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत किसीको यह खयाल नहीं

१ टॉमस मूर के अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

२. विलायत का एक स्टीमर अपनी अमेरिका की पहली ही यात्रा में एक बर्फीली चट्टान से टकराकर टूट गया था—(१४ अप्रैल १९१२) और २००० यात्रियों में से केवल ७०६ बच पाये थे। —अनु०

किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज़ के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में मॉरो कैंसिल जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही संकट आने पर जबकि सहज-स्फूर्ति बुद्धि और संयम को दबा लेती है, तब वे ख़ुद क्या करें? इसलिए हमें किसीको दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम इस बात पर ग़ौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नहीं था और भविष्य में इस बात का ख़याल रक्खें कि कौम की नैया का पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दिया जाय, जो ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा धीरज की ज़रूरत होती है, कांपने लगें और बेकार हो जायें। अपनी इस असफलता को उचित ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बड़ा अपराध है।

लड़नेवाली ताकतों की हरेक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर निर्भर होती है। ख़ूनी-से-ख़ूनी लड़ाई भी इन्हीं दो गुणों पर अवलम्बित रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"अंत में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस सत्व को नुकसान पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुड़ाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुँचाता है।

महीने बीतते गये, और हमें हर रोज़ कुछ अच्छी ख़बरें मिलती गईं और कुछ बुरी। हम लोग अपनी-अपनी जेलों की अपनी नीरस और एकसी ज़िन्दगी के आदी हो गये। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत सी नई-

नई घटनाएँ घटित होंगी। सचमुच उस हफ्ते में बहुत-सी बातें हुई थीं। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाक़ी सब बातें फीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी माँ उस जुलूस में थीं जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थीं। कुछ लोग, जिनमें मेरे सेक्रेटरी वग़ैरा शामिल थे और जो खासतौर पर उनकी देख-भाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी माँ को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर में घाव हो गया और खून आने लगा और वह बेहोश हो कर सड़क पर गिर गईं। सड़क से उस वक्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफ़सर ने उन्हें उठाया और वह उन्हें अपनी मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद में एक ग़लत अफ़वाह उड़ गई कि मेरी माँ का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगों की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगों पर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की खबरें मेरे पास पहुँचीं—क्योंकि हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अखबार मिला करता था—तो अपनी कमज़ोर बूढ़ी माँ को सड़क की धूल में खून से लथपथ पड़ने का खयाल मुझे रह रहकर आने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा कहाँ तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि वह दृश्य मुझे उस पाठ को बिल्कुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश

मैंने बाहर बरस से भी ज्यादा समय से की थी और उसका मुझ पर या मेरी कौम पर क्या परिणाम होता इसकी रत्तीभर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गईं और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल में मुझसे मिलने आईं तब उनके सिर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हे इस बात की बडी भारी खुशी और महान् गर्व था कि वह अपने स्वयं-सेवक लडको और लडकियो के साथ बेंतो और लाठियो की मार खाने के विशेष लाभ से वचित न रही। लेकिन उनका चगापन उतना असली नही था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बडी उमर में इन्हे जो भारी झकझोरे झेलने पडे उनसे उनका शरीर अस्त-व्यस्त हो गया और उन गहरी तकलीफो को उभाड दिया जिन्होने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

## : ४३ :

# बरेली और देहरादून जेलों में

छ हफ्ते नैनी-जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली जिला जेल में कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गडबड रहने लगी। मुझे रोज बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली जेल में बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठडी जगह, हिमालय की छाया में, देहरादून जेल मे भेजा गया। मैं वहाँ लगातार कोई साढे चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सजा के अखीर तक रहा। इस बीच मे मेरा परिवर्तन किसी दूसरी जगह नही हुआ। इसमें कोई शक नही कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और खतो तथा उन गिने-चुने अखबारो के जरिये से, जो

मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरें पहुँच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उनसे ज्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओं के बारे में मेरी धारणायें बहुत धुँधली थीं।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने ज़ाती मामलों में और उस राजनैतिक परिस्थिति को ठीक करने में, जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की आज़ादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अबतक यहीं हूँ। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज्यादातर जेल में ही—और इसीलिए घटनाओं से बिल्कुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच में जो-कुछ हुआ उस सबका तफ़सीलवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम, नहीं के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में गांधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अबतक बहुत ही धुँधली है। इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अबतक मुझे कोई मौक़ा ही नहीं मिला और न इसी बात का मौक़ा मिला कि अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार करलूँ।

१९३२ और १९३३ के सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय-संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूँ। लेकिन चूँकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था, इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुईं उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं इस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय क़ायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के क़रीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफी ज़ोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर सहसा उठती थी। सीधी मार की लड़ाई शान्ति की

पराकाष्ठा पर तो थोडी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नही रह सकती, वह या तो तेज होगी या नीचे गिरेगी। पहले आवेश के बाद सत्याग्रह-सग्राम धीरे-धीरे ढीला पडता गया लेकिन उस हालत में भी वह बहुत काल तक चलता रहा। यद्यपि काग्रेस गैर-कानूनी करार दे दी गई थी फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस का सगठन काफी सफलता के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने प्रान्त के कार्य-कर्ताओ के साथ उसका नाता बना रहा। वह अपनी सूचनायें भेजता रहा, सूबो से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबो को आर्थिक मदद भी दी।

सूबे के सगठन भी कम-ज्यादा कामयाबी के साथ अपना काम चलाते रहे। जिन सालो में मैं जेल मे बन्द था उनमें दूसरे सूबो में क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नही लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बाते मालूम होगई। युक्त-प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ मे पूरे सालभर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गाधीजी की सलाह मानकर काग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली बार सत्याग्रह को स्थगित किया। इस डेढ साल मे जिलो को अक्सर हिदायते भेजी जाती रही। छपी हुई या साइक्लोस्टाइल से लिखी हुई पत्रिकायें नियम से जारी होती रही। समय-समय पर जिलो के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-सघ के कार्यकर्त्ताओ को भत्ता मिलता रहा। इस काम का अधिकाश जरूरतन गुप्तरूप से किया गया था। लेकिन प्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर आदि भी सम्हाले हुए थे, वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे जबतक उन्हें गिर-फ्तार करके हटा न लिया गया। उनके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने अनुभव से हमने जाना कि हिन्दुस्तान भर मे छिपे-छिपे खबरे लेने-देने के लिए सगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ विरोध होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा परिणाम निकला। लेकिन हममें से बहुतो को इस बात का भी खयाल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नही खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका निराशाजनक असर पडता है। बडे और खुले जनता-आन्दोलन के एक छोटे-से अश के तौर पर यह काम लाभ का था, लेकिन उसमें हर वक्त यह खतरा बना रहता था कि कही छोटे-से और प्राय व्यर्थ के गुप्त काम ही जनता-आन्दोलन की जगह न ले ले। यह खतरा उस समय खासतौर पर बढ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ में गाधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लडाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ समय तक गुजरात और कर्नाटक में भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनो प्रान्तो में ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होने अपनी धरती के मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुजारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाया। वेदखलियो और जायदाद की जब्तियो से किसानो को जो तकलीफ पहुँची उसे कम करने और पीडितो की मदद करने के लिए काग्रेस की तरफ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह अवश्य ही नाकाफी रही। युक्तप्रान्त में तो यहाँ की काँग्रेस-कमिटी ने इस तरह सकटग्रस्त किसानो की मदद करने के लिए कोई कोशिश नहीं की। यहाँ की समस्या वहाँ से कही ज्यादा बडी थी। आसामी किसानो की तादाद किसान-जमींदारो से कही ज्यादा है, यहाँ का रकबा भी बहुत बडा था, और सूबे की कमिटी के आर्थिक साधन भी दूसरे सूबो के मुकाबिले मे बहुत ही सकुचित थे। लडाई की वजह

से जिन वीसियो हज़ार किसानो को नुकसान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल असभव था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी वहुत मुश्किल था कि हम इन्ही लोगो की मदद क्यो करे और इन लोगो में तथा उन लाखो लोगो में भेद-भाव कैसे करे जिन्हे हमेशा भूखो मरने का डर बना रहता है। सिर्फ कुछ हज़ार लोगो को मदद करने से मुसीवत और आपसी रजिश खडी हो जाती। इसलिए हम लोगो ने यही तय किया कि हम किसी को रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह वात सव को वता दी थी और किसान लोग हमारी वात के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या आपत्ति किये विना उन्होने जितनी तकलीफे सही उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियो की अलवत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्त्ताओ की पत्नियो और वच्चो की जो जेल गये थे। इन दुखी देश की दरिद्रता का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगो के लिए ईश्वरीय देन थी।

इस लडाई के दौरान में युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी, यद्यपि वह गैर कानूनी करार देदी गई थी फिर भी, अपने वैतनिक कार्यकर्त्ताओ को जो थोडी वहुत वृत्ति देती थी वरावर देती रही और जव वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी-अपनी वारी आने पर सभी गये थे—तव उनके परिवारो की मदद करती रही। हमारे वजट मे इस मद का खर्च वहुत वडा था। इसके वाद परचो और पत्रिकाओ को छापने और उनकी कई हज़ार कापियाँ निकालने का खर्च था। यह खर्च भी वहुत वडा था। नफर खर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले ज्यादा गरीव थे उन्हे भी कुछ मदद दी जाती थी। एक जवरदस्त और सव तरह से मोरचावन्द सरकार के खिलाफ जनता की घमासान लड़ाई के

इस काल में इन सब सूबों के और दूसरे ख़र्चों को जोड़ते हुए युक्तप्रान्त की कांग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के आख़ीर तक का यानी बीस महीने का कुल ख़र्च सिर्फ़ ६३०००) था, यानी क़रीब-क़रीब ३१५०) रुपया महीना। इस रक़म में वह ख़र्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज़्यादा साधनसम्पन्न और ज़्यादा मज़बूत ज़िलों की कमिटियों ने अलग किया। प्रान्त की हैसियत से १९३० और १९३२ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरे विचार से हमने जो-कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है कि हमने बहुत कम ख़र्च किया। इस छोटी-सी रक़म की तुलना उस रक़म से करना बड़ा दिल-चस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए ख़ास-तौर पर ख़र्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा ख़याल है कि कांग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कहीं ज़्यादा ख़र्च किया। लेकिन बिहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ोसी युक्तप्रान्त से भी ज़्यादा ग़रीब सूबा था, फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

अस्तु, धीरे-धीरे सत्याग्रह आन्दोलन कमज़ोर पड़ता गया फिर भी वह चलता रहा और वह भी बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह सर्वसाधारण का आन्दोलन नहीं रहा। सरकारी दमन की सख़्ती के अलावा इस आन्दोलन पर सबसे पहला ज़बरदस्त प्रहार उस वक़्त हुआ जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों की समस्या पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जागृति ज़रूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ़ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई स्थगित की गई तब तो व्यावहारिक रूप में आख़िरीतौर पर उसका अन्त होगया। यों उसके बाद वह जारी तो

रही लेकिन प्राय विचार में ही, आचार मे नही। इसमें कोई शक नही कि अगर वह स्थगित न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता के कारण सुन्न होगया था। कम-से-कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य चला गया था और नये उत्साह का सचार नही हो रहा था। व्यक्तिगतरूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते थे। लेकिन उन लोगो को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण में काम करना पडता था।

हम लोगो को जेल में रहते हुए यह बात रुचिकर नही लगती थी कि हमारा महान् आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमे झट कामयाबी हो जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आमलोग इस तरह उठ खडे हो कि उन्हे कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक विजय हो जाती। लेकिन हम ऐसे दैवयोग पर भरोसा नही कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लडाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज होती, कभी धीमी पडती और बीच-बीच में कई भुलावो में पड जाती। इस लडाई से जनता अनुशासन सिखाने में तथा एक विचारधारा का लगातार प्रचार करने में ज्यादा सफल हुई। १९३२ के उन शुरू के दिनो मे तो मैं कभी-कभी इस विचार से डर जाता था कि कही हमें फौरन ही दिखावटी सफलता न मिल जाय क्योकि अगर ऐसा होता तो उसमें अनिवार्यतः कोई राजीनामा होता जिससे राज की बागडोर सरकार-पक्षी और समयसाधु (मौका-परस्त) लोगो के हाथ मे पहुँच जाती। १९३१ के अनुभव ने हमारी आँखे खोल दी थी। कामयाबी तो काम की तभी हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग प्राय काफी समर्थ हो और उसके बारे में उनके विचार स्वच्छ हो जिससे वे उस विजय का लाभ उठा सकें।

यदि ऐसा न होगा तो सर्वसाधारण तो लड़ेंगे और कुर्बानी करेंगे और जब कामयाबी का वक़्त आवेगा तब ऐन मौके पर दूसरे लोग बड़ी खूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी खतरा था क्योंकि ख़ुद कांग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज स्थापित करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ़-साफ़ कुछ सूझता ही था। सचमुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो केवल यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंग को निकालकर उसकी जगह 'स्वदेशी' छाप दे दी जाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-पूजक' लोगों से तो हमें कुछ डर नहीं था क्योंकि उनके धर्म की सबसे पहली बात यह थी कि राज की ताकत जिस किसीके हाथ में हो उसी के सामने सिर झुकाया जाय। लेकिन यहां तो लिबरलों (मध्य मार्गियों) और प्रतिसहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को लगभग सोलहों-आने मञ्जूर कर लिया था। समय-समय पर वे जो थोड़ा-बहुत छिद्रान्वेषण कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कौड़ी की होती थी। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में कानून के पोषक थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज्यादा आगे बढ़ गये और बहुत-कुछ सरकार की ओर जा सटे हुए। हिन्दुस्तान में सब प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए और यों कहिए कुछ-कुछ हटे हुए दर्शकों की तरह दूर से देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज़ सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुक़ाबिला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन

और सार्वजनिक हलचलो को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ शायद ही किसी ने कोई आवाज उठाई हो। जो लोग मामूली-तौर पर इन आज़ादियो के हामी थे वे सबके सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगो ने राज की जबरदस्ती के सामने सिर झुकाने से इन्कार करके उसकी सजा भोगी। लेकिन बाकी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी मे चूँ तक नही की। जब कभी उन्होने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानो अपने कुसूर की माफी माँग रहे हो और उसके साथ-साथ वे काग्रेस की और उन लोगो की, जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, बड़ी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशो मे नागरिको की आजादी के पक्ष में मजबूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहाँ ज्योही उनमे कमी की जाती है त्योही लोग बिगड़कर उसका विरोध करते हैं। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात हो गई है।) उन देशो में ऐसे लोगो की तादाद बहुत काफी है जो खुद तो कड़ी और सीधी लड़ाई मे हिस्सा लेने को तैयार नही होते लेकिन इस बात का बहुत काफी ध्यान रखते है कि बोलने और लिखने की स्वतत्रता मे, सभा और सगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता मे, तथा व्यक्तिगत और छापेखानो की स्वतन्त्रता में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरतर आन्दोलन करते रहते है और इस तरह सरकार द्वारा उनके भग किये जाने की कोशिशो को रोकने में सहायक होते है। हिन्दुस्तान के मध्यममार्गियो (लिबरलो) का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलो की परम्परा पर चल रहे है (हालाँकि इन दोनो मे नाम के अलावा और कोई बात एक-सी नही है।) फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आजादियो के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक

विरोध ज़रूर करेंगे क्योंकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं की। उन्होंने वाल्टेयर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मैं क़तई सहमत नहीं हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक़ है और आपके इस हक़ को मैं अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नहीं है क्योंकि उन लोगों ने लोकतन्त्र या आज़ादी के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिसमें एक शब्द इधर-उधर होजाने पर वे मुसीबत में फँस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का आज़ादी के उन पुराने आशिकों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा उसे देखना ज़्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह काफ़ी तकलीफ़देह था। लेकिन वे उस सबको काफ़ी मज़े के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो 'मैंचेस्टर गार्जियन' नामके अखबार के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में 'दमन के वैज्ञानिक प्रयोग' की कामयाबी पर उनकी खुशी जाहिर हो जाती थी। हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने एक राजद्रोह बिल पास करने की कोशिश की है। खासतौर पर लिबरलों और मज़दूर दलवालों ने इस बिल के खिलाफ़ और बातों के साथ इस आधार पर बहुत वावैला मचाया है कि वह बोलने की आज़ादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ हमदर्दी करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहाँ तो वास्तव में जो क़ानून जारी हैं वे क़रीब-क़रीब उस क़ानून से भी गुने ज्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-

बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बडा आश्चर्य होता था कि जिन ब्रिटिश लोगो के गले में इग्लैण्ड में मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना ची-चपड किये ऊँट को किस तरह निगल जाते है। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगो की इस अद्भुत खूबो पर हमेशा आश्चर्य हुआ है जिसमे वे अपने नैतिक पैमानो को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामो से उनके साम्राज्य बढाने के इरादो को मदद मिलती है उन सबमे उन्हे धर्म-ही-धर्म दिखाई देता है। आजादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे है उस पर उन्हें बडा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निन्दा करते है लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आजादी का छीना जाना जरूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते है कि इस आजादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ बिल्कुल नही है।

जब हिन्दुस्तान में चारो तरफ आग लग रही थी और मर्दो तथा औरतो की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहाँ से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुनें हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनी। यहाँ की असेम्बली के बहुत से मेम्बरो ने इन कमिटियो की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन कर सके। सार्वजनिक खर्चे से हिन्दुस्तान से लन्दन को काफी भीड गई। बाद को १९३३ में वह ज्वाइण्ट-कमिटी (सयुक्त समिति) बैठी जिसमें हिन्दुस्तानियो ने असेसरो की तरह काम किया और इस बार भी जो लोग गवाह बनकर गये उनको दयालु सरकार ने सफर खर्च अपने खजाने से दिया। बहुत से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावो से प्रेरित होकर सार्वजनिक

खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज्यादा सफ़र खर्च मिलने के लिए कशमकश भी की।

हिन्दुस्तान के जनता-आन्दोलन का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया में, लन्दन में इकट्ठा देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर जरूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की जीवन और मरण के संघर्ष में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममें से बहुतों को यह जान पड़ा कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसने हिन्दुस्तान में प्रगति-विरोधी लोगों को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस समय हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह खयाल ग़लत था।) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलती और सब लोगों के लिए यह बात और भी स्पष्ट हो जाती कि सिर्फ़ आज़ादी के द्वारा ही हम सामाजिक समस्याओं को हल कर सकते हैं और जनता के सिर का बोझ हटा सकते हैं।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोज़मर्रा की जिन्दगी में ही नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपने को हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उनकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हें कुर्बानी करने और तकलीफें झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियों की राय में असलियत सिर्फ़ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताक़त जिससे लड़कर उसे हराना ग़ैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमें खुशी से या बेबसी से अपना सिर झुका देना चाहिए।

इन लोगो को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिए बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल अनहोना था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में "हमारे समय का सक्षिप्त इतिहास" ( Short History of Our Times ) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस आइरिश ज्वाइण्ट कॉन्फ्रेन्स की असफलता की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक सकट को मिटाने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता सकटकाल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते है, उनकी दशा उन लोगो की सी होती है, जो, जब मकान में आग लगी हुई है तब, उसका बीमा कराने की कोशिश करते है। १९३२ और १९३३ मे हिन्दुस्तान मे जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कही ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड में १९१० में लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालाये भले ही बुझ जायें फिर भी उसके धधकते हुए अँगारे बहुत दिन तक रहेगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के सकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होगे।

हिन्दुस्तान के शासकवर्ग मे हिंसा-भाव की जो बढती हो रही थी उसे देख कर आश्चर्य होता था। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योकि ब्रिटिश लोगो ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। दीवानी हाकिमो का भी सबसे जबर्दस्त दृष्टिकोण फौजी ही रहा है। उनकी हुकूमत मे यह बात प्राय हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्ज़ा करके पडी हुई शत्रु की फौज की हुकूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गई। बगाल में और दूसरी जगह आतक-वादियो ने जो काण्ड किये उनसे इस हिंसा को और भी खुराक मिली और शासको को अपने हिंसात्मक कार्यों के लिए थोडा-बहुत बहाना मिल

गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सों ने सरकारी अफसरों और पुलिस को इतने असीम अधिकार दे दिये कि हिन्दुस्तान असल में एक 'पुलिसराज' ही हो गया, जिसमें पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोड़ी या बहुत मात्रा में हिन्दुस्तान के सभी प्रांतों को इस भीषण दमन की आग में होकर निकलना पड़ा, लेकिन सरहदी सूबे और बंगाल को सबसे ज्यादा तकलीफें झेलनी पड़ीं। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यतः फौजी सूबा रहा है। उसका इन्तजाम अर्ध-फौजी कायदों के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य की दृष्टि से भी उसका बहुत महत्व पहले ही से था। अब लालकुर्ती आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबड़ा गई। इस सूबे में 'शांतिस्थापन करने के लिए' और 'तूफानी गांवों को दुरुस्त करने के लिए फौजों की टुकड़ियां छोड़ी गई थीं। हिन्दुस्तान-भर में यह आम पद्धति हो गई थी कि सरकार गांव-के-गांवों पर जुर्माना ठोक देती थी और कभी-कभी ( खासतौर पर बंगाल में ) नगरों पर भी। सजा के तौर पर पुलिस अक्सर गांवों में डाल दी जाती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अधिकार मिले हुए थे और उन्हें रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियां होना लाजिमी था। हम लोगों को क़ानून और व्यवस्था के नाम पर अनियमितता और अव्यवस्था के आदर्श उदाहरण खूब देखने को मिले।

बंगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही असाधारण बातें दिखाई देती थीं। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पच्चीस बरस तक के हर शख्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की 'शनाख्त' का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश निकाला दिया जाता था या नजरबन्द

कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर बन्धन था और उनके स्कूलो का नियमन सरकार करती थी या जब चाहती स्कूलों को बन्द कर देती थी। साइकिलो पर चढने की मनाही थी और कही आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पडती थी। इसके अलावा दिन-छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातो के लिए कायदे और कानूनो की भरमार थी। फौजे पेट्रोल करती थी। ताजीरी पुलिस तैनात करदी जाती थी और गाव-भर पर जुर्माने होते थे। बडे-बडे भूमिखण्ड ऐसे मालूम पडते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल लिया गया हो। इन कसबो मे रहनेवाले स्त्री पुरुषो की ऐसी कडी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगो से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नही सकते। इस बात का निर्णय देना मेरा काम नही है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत कायदे कानून जरूरी थे या नही। अगर वे जरूरी नही थे तो सरकार पर यह भारी इलजाम आता है कि उसने सारे प्रदेश की स्वतन्त्रता को अपमानित करने, उस पर जुल्म करने और उसे भारी नुकसान पहुँचने का महान् अपराध किया। अगर वे जरूरी थे तो निस्सदेह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के बाबत यह अतिम फैसला है जिससे उसकी नीव का पता लग जाता है।

सरकार की इस हिंसावृत्ति ने जेलो में भी हमारे लोगो का पीछा किया। कैदियो का अलग-अलग श्रेणियो मे बँटवारा एक फार्स था और अक्सर उन लोगो को अत्यत तकलीफ होती थी जो ऊँचे दर्जो मे रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगो को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के पुरुषो और स्त्रियो को ऐसी हालत में रहना पडा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पडता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक कैदियो को मामूली कैदियो

से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्स्पेक्टर जनरल ने तो यहाँ तक किया कि सब जेलों को नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमें यह कहा गया कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ 'कड़ाई का बर्ताव' होना चाहिए।[1]

बेंतों की सजा जेल की आम सजा होगई। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उपसचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई पाचसौ व्यक्तियों के बेंत लगे हैं।" इसमें यह बात साफ़ नहीं है कि उसमें वे लोग भी शामिल हैं या नहीं जिनको जेलों में जेल के क़ायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सजा दी गई। १९३२ में जेलों में बेंत लगने की खबरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं, तब मुझे याद आई कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सजा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक्त इस सजा की पाशविकता ने मुझे भारी चोट पहुँचाई थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीसें उठती थीं लेकिन मुझे यह नहीं सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए, क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपने को पहले से कहीं ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता

१. इस गश्ती-चिट्ठी पर ३० जून १९३३ तारीख पड़ी थी और उसमें यह लिखा हुआ था—"जेल के सुपरिन्टेंडेन्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ उनके महज सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस वर्ग के क़ैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"

के प्रति जड-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी अभ्यस्त हो जायगी।

हमारे आदमियो को जेल में कडी से कडी मशक्कत (मेहनत) दी गई—जैसे—चक्की, कोल्हू वगैरा। और उनसे माफी मँगवाकर तथा सरकार के सामने यह प्रण कराकर, कि हम आगे ऐसा नही करेगे, उन्हे छुडवाने के लिए, जहाँ तक हो सका वहाँ तक उनकी जिन्दगी भाररूप करने की कोशिश की गई। कैदियो से इस तरह माफी मँगवाना जेल के हाकिमो के लिए बडे गौरव की बात मानी जाती थी। जेल में ज्यादातर सजायें उन लडको और नौजवानो को भोगनी पडी जो घौस, दबाव और बेइज्जती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लडके निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, जिन्दादिली तथा साहसीवृत्ति से भरे हुए इगलैड के पब्लिक स्कूलो में इस तरह के लडको की बेहद तारीफें होती, उन्हे हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हथकडिया पडवाई, उन्हे काल-कोठरियो में बन्द करवाया और उनके बेंत लगवाये।

जेलो में हमारी महिलाओ की जिन्दगी तो खासतौर पर दु खमय थी। ऐसी दु खमय कि उसका खयाल करने में भी तकलीफ होती है। ये स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यम-श्रेणी की थी जो छत्रछाया के जीवन मे रहने की आदी थी और उन तरह-तरह के दमनो और रिवाजो से सताई हुई, जो पुरुषो ने अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फायदे के लिए बनाये हैं। इन स्त्रियो के लिए आजादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात में कोई शक नही कि जिस जोश और जिस ताकत के साथ वे आजादी की लडाई मे कूदी उनका स्रोत उस धुधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट, अकाँक्षा मे था जो उनके मन मे घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिए बसी हुई थी। इनमें

से बहुत कम को छोड़कर बाकी सबको मामूली कैदियों के दर्जे में रक्खा गया और उनको बहुत ही पतित गालियों के साथ और आमतौर उन्हीं की-सी भयानक हालत में रक्खा गया। एक बार मैं एक ऐसी बैरक में रक्खा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच में एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते में, दूसरी कैदिनों के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिनें भी थीं और उनमें एक महिला वह थी जिनके घर में मैं एक बार ठहरा था और जिनने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमें एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातों और गालियों को सुनने से नहीं रोक पाती थी, जो हमारी साथिनों को कैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थीं। इन्हें सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात खास तौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक कैदियों के साथ जो वर्ताव किया गया वह उससे कहीं ज्यादा बुरा था, जो दो बरस पहले सन् १९३० में किया गया था। यह बात केवल जेल हाकिमों की धुन की वजह से नहीं हो सकती थी। इसलिए इसके सम्बन्ध में एकमात्र उचित परिणाम यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक कैदियों के प्रश्न को छोड़कर भी युक्तप्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ थी कि वह कैदियों के साथ मनुष्यों का-सा वर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ होने के लिए प्रसिद्ध था। इस बात की ऐसी हमें एक मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नहीं सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल-निरीक्षक हम लोगों के पास जेल में आये। यह महाशय बागी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि वह 'सर' थे। उनको सरकार ने खुश होकर खिताब बख्शा था। उन्होंने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल का

निरीक्षण किया था, और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझ से प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योकि सरकार की मण्डली में 'इन्सानियत' अच्छी निगाह से नही देखी जाती। लेकिन मैं अपनी बात पर अडा रहा, क्योकि मैं कभी यह खयाल ही नही कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुँच सकता है। नतीजा क्या हुआ ? फौरन ही एक बहुत दूर कही कोने मे पडी हुई एक जेल में उस जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक किस्म की सजा ही थी।"

कुछ जेलर खासतौर पर खूखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताब दिये गये तथा उनकी तरक्की की गई। जेलो मे बेईमानी और रिश्वत-खोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत से दोस्तो का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियो में वही लोग सबसे ज्यादा बेईमान और रिश्वतखोर होते हैं जो आमतौर पर अनुशासन के बहुत जबरदस्त और सख्त हामी बनते है।

जेलो मे और जेल से बाहर मैं खुशकिस्मत रहा हूँ, और लगभग जितने लोगो से मेरा वास्ता पडा उन सबने मेरे साथ इज्ज़त व शराफत का बर्ताव किया, उस हालत मे भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे स्वजनो को बहुत दु ख हुआ। मेरी माँ, कमला और मेरी लडकी इदिरा इलाहाबाद ज़िला जेल मे मेरे बहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गई और वहाँ बिना कुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हे जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बडा रज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रातीय-सरकार का रुख भी इस मामले में अच्छा

## : ५४ :

# जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

फ़रवरी के शुरू में, पौने चार महीने रहने के बाद, एकाएक बरेली-जेल से देहरादून को बदल दिया गया। कोई प्रदर्शन न हो। इसलिए, इस बात का ख्याल रखने के लिए, मुझे बरेली स्टेशन में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर लेजाकर वहाँ गाड़ी में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर में ले जाये गये। कई महीने तक अपनी जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर में सफर करके मुझे अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था लेकिन उसकी याद भी मेरी याद में तरोताज़ा है। बरेली-पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट जो कि एक अंग्रेज था, वहाँ मौजूद था और ज्योंही मैं कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रों की कापियाँ थीं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं, इसलिए मैं एक मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी उनकी मुलाक़ात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद मैं आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम

भी नही जानता । लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पडा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ ।

आधी-रात के उस लम्बे सफर में मैं अंग्रेजो और हिन्दुस्तानियो के, शासको और शासितो के, सरकारी और गैर-सरकारी लोगो के, तथा सत्ताधारियो और उन लोगो के कि जिन्हे उनके हुक्म मानने पडते है, आपसी सम्बन्धो के बारे में तरह-तरह की बाते सोचता रहा । इन दोनो वर्गो के बीच में कैसी गहरी खाई है, और ये दोनो एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे है तथा एक-दूसरे को कितना नापसद करते है । लेकिन इस अविश्वास और अरुचि से भी ज्यादा बडी बात एक-दूसरे की बाबत अज्ञानता है । इसी ना-जानकारी की वजह से दोनो एक-दूसरे से डरते है और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक्त चौकन्ने रहते है । हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिंचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनो में एक भी यह नही अनुभव करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है । अंग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते है और लोगो को सहायता तथा सहारा देने के साधनो की उन्हे कमी नही है । इसलिए उनके पास समय-साधु और नौकरियो की तलाश में गिडगिडाते फिरनेवाले लोगो की भीड पहुँचा करती है । हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनो को लेकर बनाते है । हिन्दुस्तानियो ने अंग्रेजो को सिर्फ हाकिमो की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमें सोलहो आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते है जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालो में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते समय होते है । एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी मौज के मुताबिक काम करनेवाले व्यक्ति के बर्ताव में और उस बर्ताव मे, जिसे एक शख्स हाकिम की या

सेना की एक इकाई की हैसियत से करता है, कितना फर्क होता है ? फौजी जवान तो अकडकर अटेन्शन होते वक्त अपनी मनुष्यता को दूर धर देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगो पर निशाना ताककर उन्हे मार गिराता है, जिन्होने उसका कभी कोई नुकसान नही किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन निरपराध लोगो पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में नही देखता और न वह उस भीड को ही व्यक्तियो की शक्ल में देखता है जिन्हें वह डडो से मारता है या जिन पर वह गोली चलाता है।

ज्योही कोई व्यक्ति दूसरे पक्ष को भीड या समूह के रूप में देखने लगता है, त्योही दोनो को जोडनेवाली मनुष्यता की कडी गायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते है कि भीड मे वही शख्स, मर्द और औरत और बच्चे होते है, जिनमें प्रेम और नफरत के भाव होते है तथा जो कष्ट अनुभव करते है। एक औसत अग्रेज अगर साफ-साफ बात कहे तो यह मजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियो में कुछ आदमी काफी भले ही है, लेकिन वे लोग तो अपवाद-स्वरूप है, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घृणास्पद लोगो की भीड-भर है। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मजूर करेगा कि कुछ अग्रेज जिन्हे वह जानता है तारीफ के काबिल है, लेकिन इन थोडे-से लोगो को छोडकर बाकी के अग्रेज बडे ही घमडी, पाशविक और सोलहो आने बुरे आदमी है। यह बात कैसी अजीब है कि हर शख्स दूसरी कौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है ? उन लोगो के आधार पर नही जिनके वह ससर्ग में आता है, बल्कि उन दूसरे लोगो के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नही जानता या 'कुछ नही' के बराबर ही जानता है।

व्यक्तिगत-रूप से तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूँ और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज हों या मेरे अपने देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया था या मुझे कैदी के रूप में एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेजों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, भीड़ में से एक व्यक्तिमात्र ही नहीं। मेरा ख्याल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी तालीम इंग्लैण्ड में पाई और खासतौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नजदीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव की तुलना उस जिन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और जिल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आखिर जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका दुःखद वातावरण प्रायः असह्य हो उठता था। उसका वातावरण खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वत-खोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहां कोई गालियां देता था तो कोई गिटगिटाता था। नाजुक मिजाजवाले हर शख्स को वहां लगातार मानसिक सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी जरा-जरासी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई खराब खबर आजाती या अखबार में ही कोई

बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाद में हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखों को भूल जाते थे। वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन की तन्दुरुस्ती बनी रहती थी। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम मानो ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल में बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिये गये हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमी तौर पर हमारी राय एकांगी और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी खासतौर से दुखदायी होती है।

फिर भी मैंने अपने को जेल जीवन की दिनचर्या का अभ्यस्त बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठीक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल में तो वे लाजिमी थे। क्योंकि इनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नहीं रख सकता। मैंने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मैं कड़ाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सेफ्टी रेजर मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का जिक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गये थे। दिनभर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मजे से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिनों के बाद दिन, हफ्तों के बाद हफ्ते और महीनों के बाद महीने निकल गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्सा

करता, सबसे खीझ उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हो और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगो पर भी इसलिए खीझ उठता था कि उन्होने यह काम क्यो किया या यह काम क्यो नही किया ? ब्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीझा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरो के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीझ उठता था। इन दिनो मैं बहुत चिड़चिड़ा भी हो जाता, और जेल की जिन्दगी में होनेवाली जरा-जरा-सी बातो पर बिगड़ उठता था। खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनो तक ऐसा नही रहता था।

जेल में मुलाकात का दिन बड़े उल्लास का दिन होता था। हम लोग मुलाकात के दिनो को कैसा चाहते थे। उनके लिए कैसा इन्तजार करते थे तथा उनके लिए कैसे दिन गिना करते थे ! लेकिन मुलाकात की खुशी के बाद उसकी अवश्यम्भावी प्रति-क्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल में छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नही हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुखी हो जाता था। हॉं, मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में कागज और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक हरूफ को बडे उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ होती थी और ऐसी मुलाकाते बिलकुल बेकार गई।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकाते करना बन्द कर दिया था। करीब-करीब

सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाकात नहीं की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस रहा और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटे से बच्चे को मेरे कन्धो पर चढने को आदत थी। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढना चाहा तो मेरे भावो का बाँध टूट गया। मानवी ससर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलो से आनेवाले खत (क्योंकि मेरी दोनो बहने जेल में थी) जो हमें हर पन्द्रहवे दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बडी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बडी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हे खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्द की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कही खत में कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुख हो। जेल में खतो का आना या जेल में खत लिखना दोनो ही वहाँ के शान्तिमय और स्थिर जीवन में बाधा डालते थे। वह मन में भावो को जगाकर बेचैनी पैदा करता था और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त हो कर भटकने लग जाता और उसे रोजमर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर

के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड दिये गये, क्योंकि उनकी छ महीने की सज़ा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर में जेल से छूटने तक, करीब-करीब आठ महीने तक, देहरादून जेल मे मैं बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज़ कुछ मिनट तक किसी जेल कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मै बात-चीत भी कर लिया करता। कानून के अनुसार तो यह एकान्त सजा न थी, लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये बडी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनो मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दु ख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी जो मुझे बाहर से भेजे हुए ताज़े फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातो से मुझे काफी तसल्ली मिलती थी। मामूलीतौर पर कैदियो को फूल या फोटो रखने की इजाज़त नही है। कई मौको पर मुझे वे फूल नही दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियो को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थी। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पडोस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कघे वगैरा चीजो को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने ऐतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासता-पूर्ण' नहीं बना सकते। और वे विलासता की चीज़ें क्या थी?—दाँतो का एक ब्रश, दाँतो का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रश और कघी, शायद एक या दो छोटी-छोटी चीज़ें और!

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीजो की कीमत को

समझने लगे थे। वहाँ तो हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजें ही मगा सकते थे, इसलिए हम उसे बडी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीजो को बटोर कर रखते थे जिन्हे जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास मिलकियत रखने को कोई चीज नही होती तब भी तो जायदाद और मिलकियत का खयाल हमारा पीछा नही छोडता।

कभी-कभी जिन्दगी की कोमल वस्तुओ के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अडोस-पडोस, मित्रो के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चो के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड जाती थी। किसी अखबार में किसी तस्वीर या फोटो को देखकर पुराना जमाना सदेह सामने आ खडा होता—उन दिनो की बाते जब जवानी में किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड लेती और वह दिन बडी बेचैनी के साथ कटता।

मैं हर रोज थोडा-बहुत काता करता था, क्योकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढना ही था। मैं जिन-जिन किताबो को पढना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नही पाती थी, क्योकि उनपर रोक थी और वे सेसर होती थी। किताबो को सेसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नही होते थे। स्पेंगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सम्बन्ध की किसी प्रकार की शिकायत नहीं करनी चाहिए। क्योकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी क़िस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पडता है कि इस मामले में भी

मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योंकि मेरे बहुत से साथियो को, जो 'ए' क्लास में रक्खे गये थे, प्रचलित विषयो पर किताबे मगाने मे बडी मुश्किलो का सामना करना पडा था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल मे तो सरकार का श्वेत-पत्र ( White paper ) भी नही दिया गया, जिसमें खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनायें थी, क्योंकि उसमें राजनैतिक बाते थी। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तको और उपन्यासो की तहेदिल से सिफारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर तरह मजहब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढाती है।

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतन्त्रता भी छीन ली गई हो तब कैदियो के हको की बात करना बिलकुल अनुचित मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह है कि उसके शरीर ही नहीं उसका मन भी जेल में ठूँस दिया जाय ? चाहे कैदियो के शरीर भले ही आजाद न रहें पर क्या वजह है कि उनका दिमाग आजाद न रहे ? हिन्दुस्तान की जेलो का इन्तजाम जिन लोगो के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेगे, क्योंकि नये विचारो को जानने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति साधारणतया सीमित हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपात-पूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढी हुई पत्र-पत्रिकाओ से हमें वञ्चित रखता है। जब्त की हुई किताबो की सूची बहुत बडी है और वह दिन-पर-दिन बढती ही जा रही है। इस सबके अलावा कैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पडता है। और इस तरह उनके पास से बहुत-सी किताबें

तथा अखबार भी नहीं पहुँच पाते जिन्हें वह कानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह प्रश्न संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले में उठा था। वहाँ कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग में कम्यूनिस्टों के ख़िलाफ़ बहुत जोर के भाव हैं, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गये कि जेल निवासी जिस किताब व अखबार को चाहे मँगाकर पढ़ सकते हैं, चाहे वे अखबार व पत्रिकायें कम्यूनिस्ट मत की ही क्यों न हों? वहाँ की जेल के वार्डन ने सिर्फ़ व्यंगचित्रों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में मानसिक स्वतन्त्रता पर ग़ौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर क़ैदियों को कोई भी अखबार या लिखने की सामग्री नहीं दी जाती। यहाँ तो सवाल सेंसरशिप या देखभाल का नहीं है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। क़ायदों के मुताबिक तो सिर्फ़ 'ए' क्लास के और बंगाल में पहले डिवीज़न के क़ैदियों को ही लिखने की सामग्री दी जाती है। इनमें से भी सबको रोज़ाना अखबार नहीं दिया जाता। जो रोज़ाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। 'बी' और 'सी' क्लास के क़ैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या ग़ैर-राजनैतिक। 'बी' क्लास वालों को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत दिखाकर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस ले ली जाती है। शायद दूसरे क़ैदियों की तुलना में 'ए' क्लास के क़ैदियों की तादाद हज़ार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान में क़ैदियों की तकलीफ़ों पर ग़ौर करते हुए उनका ख़याल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नहीं। लेकिन

यह बात याद रखनी चाहिए कि इन खास रिआयतवाले 'ए' क्लास के कैदियो को भी किताबो और अखबारो के मामले में उतने हक नही मिले हुए हैं जितने कि ज्यादातर सभ्य देशो मे मामूली कैदियो को प्राप्त है।

बाकी लोगो को एक हजार में ९९९ को एक वक्त में दो या तीन किताबें ही दी जाती है, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फायदा नही उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढी जाय उसका नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हे हरगिज न करना चाहिए। मानसिक उन्नति का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी कैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के खयाल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ लगाना उचित है। पढा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमो को यह बात सूझी ही नही। और युक्तप्रान्त में तो उसका खासतौर पर अभाव ही दिखाई देता है। हाल में जेलो मे लडको और नौजवानो को थोडा लिखना-पढना सिखाने की कुछ कोशिशें की गई है। लेकिन वे बिलकुल व्यर्थ है और जिन लोगो के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि कैदी लोग लिखना-पढना पसन्द नही करते। लेकिन मेरा अपना अनुभव इसके बिलकुल खिलाफ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढने की गरज से आते थे उनमें मैंने पढने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो कैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हे हम पढाते थे। वे लोग बडी मेहनत से पढते थे, और जब कभी मैं रात में जग पडता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने पाठ को याद कर रहे है।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक प्रकार की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे किस्म की। लेकिन आमतौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े। जब-कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सजा के दो सालों में तो मैं उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला'[1] में लगा रहा, जो मैंने अपनी पुत्री (इंदिरा) के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने जमाने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनों करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनसांग, मार्कोपोलो और इब्न बतूता वगैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफ़र किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं उनका वर्णन। चित्रों की पुस्तकें भी—खासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें भी अच्छी लगती थीं, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लैंक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थीं और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गर्मी एकसौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी

१. जो अब 'विश्व-इतिहास की झलक' (Glimpses of the World History) के नाम से 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित होचुकी है।—अनु०

बातो की याद आ जाती थी—उन जगहो की याद जहाँ हम हो आये हैं और उन जगहो की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनो में जिन जगहो को हम देख आये है उन्हे फिर देखें। एटलस मे बडे-बडे शहरो को बतानेवाले जितने निशान है वे मानो हमको बुला रहे हो और हमे वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ो को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हो को देखकर भी उन्हे पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के सघर्षो और सग्रामो को देखने की, और खुद भी इन सब कामो को करने की उमगें हमको तग करती और हमारा पल्ला पकड लेती और हम बडे दु ख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारो को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थी, और जो नीरस ढर्रा हमें रोजमर्रा पूरा करना पडता था उसमें जुत जाते।

: ४५ :

## जेल में जीव-जन्तु

कोई साढे चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगनें लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूँ। उसके कणकण से मैं परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारो पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फर्श, हरेक खरोच और दबोच को और उसके शहतीरो पर लगे घुन के छेदो को मैं जान गया था। बाहर के छोटे-से आगन मे उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढे-मेढे टुकडे मुझे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था सो बात नही। क्योकि वहाँ कितने ही ततैयो और बर्रो के उपनिवेश थे

और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती। यदि विचार और भावना भौतिक चीज़ों पर अपने चिह्न छोड़ सकती हैं तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे ज़रूर भरा हुआ था और उस सँकड़ी जगह में जो-जो मैं सोचे थी उन सबसे वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलों में इससे अच्छी मिली थी, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशक़ीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रक्खे गये थे। लेकिन थी वह अहाते में ही। यह जगह इतनी छोटी थी कि इसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आजाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर की आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेष लाभ ख़ास मुझ अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के क़ैदी को मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियों और बाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन क़ैदी या दूसरे लोग रक्खे जाते थे उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

वही क़ैदी, जो लम्बे अर्से तक इन ऊँची दीवारों के अन्दर क़ैद रहे हों, इस बाहर सैर करने और खुले दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते हैं। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़

रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नही छोडा था, जबकि ज़ोर से पानी की झडी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी मे चलना पडता था। यो तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पडोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढाने वाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बडी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नही की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा तब मै इन प्यारे सुहावने पहाडो को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मै इस गिरिराज के दर्शन नही कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान आता था और वह हमेशा समीप मालूम होता था और जान पडता था कि मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनो के बीच एक घनिष्ठता बढ रही थी।

पक्षि-पुंज ये उड-उड ऊँचे निकल गये है कितनी दूर!
जलद-खड भी इसी तरह वह नभ-पथ से होगया विलीन,
एकाकी मै, सम्मुख मेरे पर्वतशृग खडा है शान्त—
मै उसको, वह मुझे, देखते दोनो ही हम थके कभी न।[१]

मै समझता हूँ कि उसके कवि ली ताई पो की तरह मै यह नही कह सकता कि मै इस नगाधिराज से कभी नही थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था, और साधारणतया तो मै उसकी निकटता से सदा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढता और स्थिरता मानो लाखो वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढाव की दिल्लगी उड़ाती है और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती है।

देहरादून में वसन्त-ऋतु बडी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानो

१. अंग्रेज़ी पद्य का भावानुवाद।

की वनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों का पतझड़ कर दिया है और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये हैं। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ हैं, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये हैं और खंखड़ और उदास बनकर वे वहाँ खड़े हैं। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उसकी जीवनदायिनी वायु उन्हें अनुप्राणित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक परमाणु को जीवन का संदेश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखाई पड़ता है, जैसे कोई परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझक कर झांकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेज़ी के साथ लाखों पत्ते उमड़ आते, सूर्य की किरणों में चमकते और हवा के साथ अठखेलियाँ करते। एक अखुए से लेकर पत्ते तक में यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्यजनक!

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिये गेहुँवा रंग के होते हैं, ठीक वैसे कि जैसे काश्मीर के पहाड़ों पर शरद् ऋतु में हल्के रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि इससे ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र महाराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होने के बाद हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता है और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों

मे आती हुई बौछारो से अपने को वचाते हुए सिकुड-मुकुड कर कुप्पा वने वैठे रहना अच्छा नही लगता।

हाँ, शरदृऋतु में फिर आनन्द उमडने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनो को छोडकर जबकि मेह वरसता हो। एक तरफ विजली कडक रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठण्डी हवा वह रही है। ऐसी हालत मे हर आदमी को उत्कठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से वचाव होसके और जरा आराम मिले। कभी-कभी वरफ का तूफान आता और वडे-वडे ओले गिरते और वे टीन की छतो पर से गिरते हुए वडे जोर की आवाज करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हो।

एक दिन मुझे खासतौर पर याद है। वह २४ दिसम्वर १९३२ का दिन था। वडी जोर की विजली कडक रही थी और दिन-भर पानी वरसता रहा। जाडा इतना सख्त कि कुछ मस्त पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन मे मुझे वहुत कम ऐसे वुरे दिन देखने पडे है। लेकिन शाम को वादल एकाएक विखर गये और जव मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियो पर और पहाडियो पर वरफ-ही-वरफ जमी हुई है तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गई? दूसरा दिन क्रिसमस-डे था, वहुत निर्मल और मनोरम। और वरफ के आवरण में पर्वत-श्रेणियाँ वहुत ही सुन्दर दिखाई देती थी।

जव साधारण रोजमर्रा के कामो से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीडे-मकोडे हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखने लगे। ज्यो-ज्यो मैं ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यो-त्यो मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और वाहर के छोटे-से आँगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिका-

यन है, और दूसरी ओर उस आसमान को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में ज़रा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुँचाता? लेकिन हाँ, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हज़ारों की तादाद में थे। हाँ, एक बार उनकी-मेरी झड़प होगई थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने कुपित होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूँगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझ पर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हाँ, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे सन्ध्या के अँधेरे में चुपचाप उड़ जातीं और आसमान की अँधेरी नीलिमा में उड़ती दिखाई पड़तीं। वे बड़े मन-हूस जीव थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा लगता था। वे मेरे चेहरे से एक इंच दूरी से उड़ जातीं और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें। ऊपर आकाश में दूर बड़ी-बड़ी चमगादड़ें उड़ा करती थीं।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घण्टों देखता रहता था। छिपकलियों को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं

और अपनी दुम को एक अजीब हँसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटती। मामूलीतौर पर वे ततैयो को नही पकडती थी, लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होने निहायत होशियारी और सावधानी से मुँह की तरफ से उसको चुपके से झपटकर पकडा। मै नही कह सकता कि उन्होने जान-बूझकर उनके डक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कही आसपास मे पेड हो तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियाँ होती थी। वे बहुत ढीठ और नि शक होकर हमारे बहुत पास आ जाती। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढा करता था। एक गिलहरी मेरे पैर पर चढकर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारो तरफ देखा करती। फिर वह मेरी आखो की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड या जो कुछ उसने समझा हो वह नही हूँ। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियो के बच्चे पेड से नीचे गिर पडते। उनकी मा उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर सुरक्षित जगह मे रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हे दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर मे जरा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढिया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोडा की पहाडी जेल को छोडकर और सब जेलो मे जहाँ-जहाँ मैं गया कबूतर खूब मिले—वे हजारो की तादाद में, और शाम को उडकर आकाश मे छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनायें भी थी। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोडे ने मेरी कोठरी के

दरवाज़े के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जातीं और ज़ोर से चीं-चीं करके खाना माँगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हज़ारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणयोपासना और प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखनेवाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए बड़े ज़ोर की लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तज़ार करती और विजेता पर अपनी प्रणय-वृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव करने और ज़ोर-ज़ोर से चिचियाने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बँध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उनके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उनका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेह, उनकी रट नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ़ उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आँगन में कोई पेड़ नहीं था लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी शान के साथ आसमान में ऊँची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आते और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जाते। कभी-कभी जंगली बतख़ भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे।

बरेली-जेल में बंदरों की आबादी ख़ासी थी। उनकी कूद-फाँद, मुँह बनाना वग़ैरा हरकतें देखने लायक़ होती थीं। एक घटना का असर

मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नही सकता था। वार्डर, कुछ नवरदारो और दूसरे कैदियो ने मिलकर उसे पकडा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूँ) माँ-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमे से एक बड़ा बदर नीचे कूदा और सीधा भीड मे उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्सदेह यह बडी बहादुरी का काम था, क्योकि वार्डर वगैरा सबके पास डडे और लाठियाँ थी। वे उन्हे चारो तरफ घुमा भी रहे थे और वे काफी तादाद में थे। लेकिन नघडक साहस की विजय हुई और मनुष्यो की वह भीड मारे डर के भाग निकली। उनके डडे और लाठियाँ वही पडी रह गई और बच्चा उनसे छुडा लिया गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियो मे बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरो से कडका करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नही काटा, क्योकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे। मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई उसपर भी। मैंने एक खासतौर पर काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल मे रख छोडा था और मक्खियाँ वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक रस्सी से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नही थी कि वह फिर कही घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय। इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारो ओर उसे ढूंढा। मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके पास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारो मे मोटी-मोटी

लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन योंही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपने को बचाऊँगा भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कनखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर अपने-आप उसे देखकर नफ़रत होती है। कलकत्ते की अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेज़ी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाएँ क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा; या यों कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बात-चीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक साँप और छिपकली के बीच का कोई जानवर है जो दो फ़ीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और बेडौल था और बहुत ही मलिन था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल बना लिया था और लानेवाला उसे एक बाँस में पिरोकर

बडी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'वो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे ? तो उसने जोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेंगे ! वह जगली आदमी था। बाद को एफ० डब्ल्यू० चेंपियन की 'दी जगल इन सनलाइट एण्ड शेडो' (धूप और छाया में जगल) पढने से मुझे पता लगा कि वह पैंगोलिन था।

कैदियो की, खासकर लम्बी सजावाले कैदियो की, भावनाओ को जेल में कोई भोजन नही मिलता। कभी-कभी वे जानवरो को पाल-पोसकर अपनी भावनाओ को तृप्त किया करते है। मामूली कैदी कोई जानवर नही रख सकता। नम्बरदारो को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज नही करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते है और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नही आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पडता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पुसिया ने मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफसर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता रहा हालाँकि जेल में कुत्तो की इजाजत नही है, लेकिन देहरादून में इत्तिफाक से कुत्तो के साथ मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वही छोड गये। बेचारी बेघर होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलो और मोरियो में रहती हुई वार्डरो के दिये टुकडे खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्राय. भूखो मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हे खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देख मुझे बडी तकलीफ होती थी। मैने बडी चिन्ता

के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पडता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरो से मेरा ज्यादा साबका पडा। मुझे कुत्तो का बडा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामो में लगे रहने की वजह से उनको अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में मै उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नही पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते है। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओ को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दगो का कारण बनती है, दया का बर्ताव नही होता। मानो पूजाभाव और दयाभाव दोनो का साथ नही हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालो ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियो को अपनी महत्त्वाकाक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उकाब सयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिह और 'बुलडॉग' इग्लैण्ड का, लडते हुए मुर्ग फास का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि ये सरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ ले जायेंगे? इनमें से ज्यादातर तो हमलाऊ और लँडाका जानवर है और शिकारी पशु है। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नही है कि जो लोग इन नमूनो को सामने रखकर अपना जीवन निर्माण करते है वे, जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते है, आक्रामक रुख अख्तियार करते है, दूसरों पर गुर्राते है, गरजते है और झपट पडते है। और यह भी आश्चर्य की बात नही है कि हिन्दू नरम और अहिसक है, क्योकि उनका आदर्श पशु है गाय।

: ४६ :

## संघर्ष

बाहर संघर्ष चलता रहा, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्त्तमान में या निकट-भविष्य मे सफलता पाना उनको भाग्य में नही है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाबिला करते रहे। निरन्तर तथा अधिक-अधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमें कोई धोखा-धडी नही थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ सन्तोष की बात थी। संगीने कामयाब हुई, लेकिन एक बडे योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनो से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्ही के ऊपर (आधार पर) बैठ नही सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओ को बेचे और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करे। जेल मे हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य से सेवा ही कर रहे है और बाहर रहनेवाले कई लोगो से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे है। तो क्या हमे, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताकत और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर गये, मगर इन बाधाओ के होते हुए भी कार्य आगे बढता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यो-की-त्यो बनी रहती तो हार नहीं हो सकती थी। असली असफलता तो है अपने सिद्धान्तो को छोड देना, अपने हक

से इन्कार कर देना, और बेइज़्ज़ती के साथ बे-इन्साफ़ी के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए ज़ख्म दुश्मन के लगाये हुए ज़ख्मों से ज़्यादा देर में अच्छे होते हैं।

कभी-कभी अपनी कमज़ोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी उसीपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर सेना में हम भी शामिल हैं, इस खयाल से जी को आनन्द मालूम होता था।

सविनय भंग के इन बरसों में कांग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई, एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह ज़ाहिर था, कि ग़ैरक़ानूनी संस्था मामूली ढंग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस से संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, ज़बरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन क़ानून विरुद्ध सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सों से हज़ारों की गिनती में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दोनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माँ ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में मालवीयजी और दूसरे लोगों के साथ गिरफ़्तार कर ली गई और आसनसोल की जेल में कुछ दिनों तक बन्द रक्खी गई। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और शक्ति-सामर्थ्य दिखाई उसे देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि वह कमज़ोर और बीमार थीं। वह जेल की परवा नहीं करती थीं, पर उन्हें इससे भी ज़्यादा बड़ी अग्निपरीक्षा में से गुज़र

चुकी थी। उनका लडका, उनकी दोनो लडकियाँ, और दूसरे भी कई लोग जिन्हे वह बहुत चाहती थी, जेल मे लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर, जिसमे वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी।

जैसे-जैसे हमारी लडाई धीमी पडने लगी, और उसकी चालू रफ्तार हल्की हो गई, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गई—हाँ, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्को की तरफ ज्यादा जाने लगे, और जेल मे जितना भी हो सका, मै विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। मुझे इस विषय की जितनी भी किताबे मिली उन्हें मै पढता गया, और मै जितना-जितना पढता जाता था उतना-उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि, हिन्दुस्तान तो अपनी खास समस्यायो और संघर्षों को रखते हुए भी इस जबरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिकशक्तियो की उस लडाई का, जो कि आज सब राष्ट्रो के अन्दर और सब राष्ट्रो के आपस में हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। इस लडाई मे मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म (साम्यवाद) की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बाते मुझे नापसन्द भी हैं—जैसे सब तरह की विरोधी राय का निरकुशता से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओ को अमल में लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना वगैरा। मगर पूंजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नहीं है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह अनुभव होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है।

बल-प्रयोग के बिना वह ज्यादा दिन टिक नही सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोडे लोगो की इच्छा के आधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोडे लोगो का ही धन-मान बढ़ता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने का भी वास्तव में कुछ अर्थ नहीं है।

दोनो व्यवस्थाओ में बल-प्रयोग मौजूद है। पूँजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर अवलम्बित जनता को असली स्वतन्त्रता देनेवाली नई व्यवस्था कायम हो जाय। सोवियट रूस ने कितनी ही भयंकर भूलें की हों तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयो पर विजय पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ़ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ बहुत आगे बढ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकडे हुए है, कई बातो में पीछे की तरफ़ जा रहे है, तब सोवियट देश में, हमारी आँखो के सामने, एक नई ही दुनिया बनाई जा रही है। महान् लेनिन के पदचिन्हो पर चलकर रूस भविष्य पर निगाह रखता है, और केवल इसी बात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से मुर्दा हुए पडे है, और बीते हुए युग के निरर्थक स्मृति चिन्हों को अक्षुण्ण रखने में ही अपनी ताकत लगा रहे है। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणों का बडा असर पडा, जिनमें सोवियट शासन के पिछडे हुए मध्य-एशियाई प्रदेशो की बडी भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह रूस के पक्ष में ही रही, और मुझे सोवियट-सत्ता की मौजूदगी और मिसाल, अंधेरी और दुखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह-दायी चीज़ मालूम हुई।

हालाकि कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप मे सोवियट रूस की सफलता या असफलता का बहुत बडा महत्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नही पडता। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कारणो से वोलशेविक लोग वडी-वडी गलतिया कर सकते है, या असफल भी हो सकते है, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है, उसकी अन्धे की तरह नकल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी खास परिस्थितियो और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश वोलशेविको की सफलताओ से और अनिवार्य गलतियो से भी सबक ले सकता है। शायद वोलशेविको ने जरूरत से ज्यादा तीव्र गति से जाने की कोशिश की, क्योकि उनके चारो तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हे बाहरी आक्रमण का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो गावो मे हुई बहुत-सी तकलीफें नही आती। लेकिन प्रश्न यह उठता था, कि क्या परिवर्तन की गति कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नही। किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत बुनियादी ढाचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधार-वाद से हल करना असम्भव होता है, और वाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला कदम तो ऐसा उठना चाहिए जिससे कि तत्कालीन व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई नाता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनो से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नो का और देश की हर बडी समस्या का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी

योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणो' में श्री० लॉयड जार्ज कहते है—"किसी खाई को दो छलांगो मे कूदने मे बढ़कर कोई ग़लती नहीं हो सकती।"

रूस के अलावा भी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग को कई विषयो मे प्रकाश दिया। मुझे इतिहास मे बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद मे कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यो न हो। यद्यपि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफें रही है और है, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही खतरे आते रहे। मार्क्सवाद में मौलिकरूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशो में प्रचलित कम्यूनिज्म में बहुत-से रूढ़-मत है, और अक्सर 'काफिरों' यानी मिथ्या-मत-वादियो पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह निंदनीय मालूम हुआ, हालाँकि सोवियट प्रदेशो में भारी-भारी परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहे हो और विरोधी लोगों के कारण से बड़ी मुसीबतो और असफलताओ के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ मे आ सकता है।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी निरूपण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थायें और सिद्धान्त सिर्फ अपनी अटकल लगा रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ सन्तोषजनक रूप मे उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रक्खा।

जैसे-जैसे मुझमे यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मुझ म नया उत्साह भरता गया, और सविनय भग की असफलता से पैदा हुई मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेजी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ नही जा रही है? हां, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बडे-बडे खतरे मौजूद है, लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ रहे हैं। हम एक ही जगह मे पडे हुए सड नही रहे है। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बडे सफर क रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लडाई तो एक पडाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लडाइयो के लिए तैयार हो रहे है और उन विचारो पर गौर करने के लिए मजबूर हो रहे है जिससे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमजोर लोगो के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मजबूत, ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायेंगे। जमाना हमारे पक्ष में है। MQ.

✓इस तरह मैंने, रूस, जर्मनी, इग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रास, इटली, और मध्य-यूरोप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओ की गुत्थियो को समझने की कोशिश की। इस मुसीबत को पार करने के लिए हरेक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे हैं, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयो को दूर करने और नि शस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सो को बारबार असफलता होती देखकर मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या को—जोकि छोटी-सी लेकिन काफी कष्टप्रद है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नही कर सके है, और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर यूरप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओ को सुलझाने में

विफल होंगे या एक संसार-व्यापी आपत्ति आ जायगी, वे उन्हें हिलमिल कर नहीं सुलझा पाये हैं। दोनों उदाहरणों में समस्या को सुलझाने का तरीका गलत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे हैं।

संसार की मुसीबतों और संघर्षों का विचार करते हुए, मैं किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बड़ा उल्लास होता था कि संसार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग में मैं भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने में, जहाँ मैं हूँ, मुझे भी उन आनेवाली क्रांतियों के लाने में कुछ थोड़ा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया में संघर्ष और हिंसा का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी खराब यह दृश्य था कि पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये हैं कि उनके दिमाग अब कष्ट-सहन, गरीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नहीं करते। दम घोटनेवाले इस नैतिक वातावरण में शोरगुल मचानेवाला ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे हैं। हिटलर की विजय और उसके अनुयायियों के 'आतंक-वाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुँचाया, हालांकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब क्षणिक ही हो सकता है। यह देखकर मन में ऐसी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशें बेकार हैं। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहिये का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नहीं कर पाये हैं, और हमारे दिमागों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके

साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी कूद पड़े, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में ले, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो ? संसार की घटनायें और हिन्दुस्तान के भी वाकयात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे हैं, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आज़ादी उससे अलग नहीं रक्खी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आज़ादी के विरुद्ध में सामाजिक-प्रतिगामी-वर्ग खड़े हो गये हैं। यह अनिवार्य ही था, और हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों के ज्यादा साफतौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मैं सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते हैं ? स्पष्ट है कि बहुत लोग नहीं। यह सही है कि कई बड़े शहरों में मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग हैं, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हैं और उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। ख़ासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संगठित मजदूर भी समाजवादी थे मगर ढीले-ढाले ढंग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई थी, और वे मन्दी से दुःख पा रहे थे। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुंधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफसरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैज़िनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्यूनिज्म और रूस पर लिखा साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र-केस ने लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसारव्यापी संकट-काल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई भावना दिखाई देती है। मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ ज़ाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका-सा

झोंका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नहीं है। कुछ लोग फेसिस्ट विचारों के आसपास मँडराते हैं। लेकिन कोई भी साफ़ और निश्चित आदर्श नहीं है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहाँ की प्रमुख विचारधारा है।

मुझे यह तो साफ़ मालूम हुआ, कि जबतक किसी हद तक राज-नैतिक आज़ादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरक-भावना रहेगी। इसी कारण कांग्रेस हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा शक्तिशाली संस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मजदूर क्षेत्रों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों में, गांधीजी के नेतृत्व में इसने जनता में आश्चर्यजनक जागृति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है, और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाजवादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कांग्रेस के द्वारा ही होगी, हालाकि दूसरे मार्गों से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कांग्रेस को छोड़ देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे जबरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक निरर्थक साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कांग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रखा दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उसमें अलग हो जायँगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्यायें ज्यादा साफ़ हो जायें, और कांग्रेस में एक

दृढ-सगठित दल, चाहे वह बहुमत मे हो या अल्पमत मे हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खडा हो जाय।

लेकिन इस समय तो काग्रेस का अर्थ है गाधीजी। वह क्या करना चाहेंगे? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछडे हुए रहे है, लेकिन फिर भी काम और व्यवहार के खयाल से वह हिन्दुस्तान मे इस वक्त के सबसे बडे क्रान्तिकारी रहे है। वह एक अनोखे व्यक्ति है, और उन्हे मामूली पैमानो से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नही है। लेकिन चूंकि वह हृदय मे क्रान्तिकारी है और हिन्दुस्तान के राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए है, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नही जाती, तबतक तो वह इसमें अटल रहकर ही अपना काम करेगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति को जगा देगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढते चलेगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसो से गाधीजी और कांग्रेस पर भयकर हमले करते रहे है, और उन्होने कांग्रेस-नेताओ पर सब तरह की दुर्भावनाओ के आरोप लगाये है। कांग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओ से वह किसी अश तक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे में कम्यूनिस्टो के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वह साधारण सिद्धातो को छोडकर तफसीलो मे आते है, और खासकर जब वह देश में कांग्रेस के महत्व पर विचार करते है, तो वे बुरी तरह भटक जाते है। हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टो की सख्या और असर कम होने का एक कारण यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने

और लोगों के दिमागों में उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बदले उन्होंने दूसरों को गालियाँ देने में ही ज्यादातर अपनी शक्ति लगाई है। इसका उन्हीं पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुकसान पहुँचा है। इनमें से अधिकांश लोग मजदूरों के हल्कों में काम करने के आदी हैं, जहाँ कि मजदूरों को अपनी तरफ मिला लेने के लिए सिर्फ थोड़े-से नारे ही काफी होते हैं। लेकिन बुद्धिमान लोगों के लिए तो सिर्फ नारे ही काफी नहीं हो सकते और उन्होंने इस बात को अनुभव नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी दल है। कट्टर कम्यूनिस्टों के इच्छा न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ खिच आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्यूनिस्टों की राय के मुताबिक, कांग्रेस के नेताओं का लक्ष्य रहा है, सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीवादियों और जमींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधायें पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निचले मध्यम-वर्ग और कारखानों के मजदूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असन्तोष को बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों और लखपतियों की गाड़ी के सामने खड़ा कर देना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में छिपे हुए कांग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म देते हैं कि पहले तो वह सार्वजनिक आन्दोलन चलावे और जब वह बहुत व्यापक और भयकर हो जाय तब उसे स्थगित करदे, या किसी छोटी-मोटी बात पर बन्द करदे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजों का चला जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने की उनको जरूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने में यह काम करने की शक्ति नहीं मानता।

यह आश्चर्य की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते हैं। लेकिन चूँकि प्रकट रूप से उनका विश्वास इसी पर है इसीलिए, आश्चर्य नहीं कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी गलती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरो के पैमानो से नापते है, और चूँकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मजदूर-नेता मजदूर-आन्दोलन के साथ विश्वासघात करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते है। यह तो स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कोई मजदूरो या श्रमिको का आन्दोलन नही है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, वह एक मध्यमवर्गी जनता का आन्दोलन है और अभीतक उसका मकसद समाज-व्यवस्था को बदलना नही बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह ध्येय काफी दूरगामी नही है, और राष्ट्रीयता भी आज कल के जमाने की वस्तु कहला सकती है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नही कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूँजीवादी प्रणाली को उलट देने की कोशिश ही नही करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वास-घात करते है, क्योकि उन्होने ऐसा करने का कभी दावा ही नही किया। हाँ, कांग्रेस मे कुछ लोग ऐसे जरूर है, और उनकी गिनती बढती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूँजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते है, लेकिन वह कांग्रेस के नाम पर नही बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूँजीवादी वर्गो ने (बडे-बडे जमीदारो या ताल्लुकेदारो ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढावे के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बडा फायदा उठाया है। लेकिन, यह तो अनिवार्य्य ही था, क्योकि हर राष्ट्रीय

आन्दोलन देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, अमल में, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय भंग के चालू रहने के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक नावाजिब तरीके से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दुःसाहस कर डाला था। कांग्रेस की निगाह में वह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। बड़ी धारासभा में बम्बई के मिल-मालिकों के प्रतिनिधियों ने, जबकि हममें से ज्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और गरम दल के लोगों की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसों में कई पूंजीपति-दलों ने हिन्दुस्तान में जो-जो काम किये हैं वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप हैं। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूंजी और कारखानों की ज्यादा अधीनता में आगये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हजार लोग जेलों में थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी कड़ी-से-कड़ी शर्तें मनवा लीं, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसने अपनेको करीब-करीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनियों ने हिन्दुस्तान को नुकसान में डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है।

और बड़े-बड़े जमींदार ताल्लुक़ेदार तो गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के बिल्कुल ख़िलाफ़ ही खड़े हो गये थे और ठीक सविनय भंग के बीचोंबीच इन्होंने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार की ओर का घोषित कर दिया था। इन्हीं लोगों की मदद से सरकार ने

भिन्न-भिन्न प्रान्तो में उन दमनकारी कानूनो को पास किया, जिनका समावेश आर्डिनेन्सो में हो जाता था। और युक्तप्रान्त की कौंसिल मे ज्यादातर जमींदार मेम्बरो ने सविनय भग के कैदियो की रिहाई के विरोध मे राय दी थी।

यह धारणा भी बिलकुल गलत है कि, गाधीजी ने १९२१ और १९३० में तीव्र दीखनेवाले आन्दोलन जनता के आग्रह से विवश होकर ही किये थे। बेशक, आम जनता मे हलचल थी। लेकिन दोनो आन्दोलनो में कदम गाधीजी ने ही आगे बढाया था। १९२१ मे वह करीब-करीब अकेले ही सारी कांग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के पथ पर चढा ले गये थे। १९३० मे भी अगर उन्होने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी आक्रमणकारी और प्रभावशाली सीधी लडाई का आन्दोलन कभी नही उठ सकता था।

यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योकि उससे ध्यान असली सवालो से दूसरी तरफ हट जाता है। गाधीजी की सचाई ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुकसान होता है, क्योकि हिन्दुस्तान के करोडो आदमियो के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त-रूप है, और उन्हे जो कोई पहचानते है, वे जानते है कि वह हमेशा सत्य के मार्ग पर चलने के लिए कितने व्याकुल रहते है।

हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टो का ताल्लुक बडे शहरो के कारखानो के मजदूरो के साथ ही रहा है। देहाती हलको की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। हालाकि कारखानो के मजदूरो का भी एक महत्व है, और भविष्य में और भी उनका ज्यादा महत्व होगा, लेकिन उनका किसानो के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानो की समस्या ही मुख्य है। इधर कांग्रेसी-कार्यकर्ता इन देहाती

हल्कों में सर्वत्र फैल चुके हैं, और समय पर अपने आप कांग्रेस किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी। अथवा निश्चित-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान लोग भी क्रान्तिकारी नहीं रह जाते और यह संभव है कि भविष्य में किसी समय शहर बनाम देहात और कारखानी मजदूर बनाम किसान की सामान्य समस्या हिन्दुस्तान में भी खड़ी हो जाय।

मुझे कांग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषों की मैं कामना भी नहीं कर सकता था। लेकिन फिर भी आवश्यक समस्याओं में मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर चकरा गया हूँ कि जो बात मुझे साफ़-सी दिखाई देती है उसकी वे क़द्र भी नहीं कर सकते या उसे समझ भी नहीं सकते। इसका कारण समझ की कमी नहीं है बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारों की अलग-अलग पगडंडियों पर चल रहे हैं। मैंने महसूस किया कि इन सीमाओं को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इनमें जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है और वह हमें धीरे-धीरे और अनजान में प्रभावित करता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना बेकार है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक खास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की ज़रूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियों के अज्ञात प्रभाव पर निर्भर हैं। जीवन की कठिनाइयाँ और उसके कड़वे अनुभव ही हमें नये रास्तों से चलने को मजबूर करते हैं, और अन्त में, जोकि इससे बहुत ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते हैं। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े सहायक हो सकें और शायद मशहूर लेखक ला फौंटेन के शब्दों में—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी मार्ग से पहुँच जाता है जिस पर वह उससे बचने के लिए चलता है।"

## : ४७ :

## मजहब क्या है ?

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन में सितम्बर १९३२ के बीच में मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा! एक सनसनी मच गई। खबर मिली कि मि० रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में यहां की दलित जातियों को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगों को अचानक आघात देने की उनमें कितनी अद्भुत क्षमता है! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग में उत्पन्न होने लगे, सब तरह की भावी सम्भावनाओं के चित्र मेरे सामने आने लगे, और उन्होंने मेरे चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के काम के कुछ नतीजों का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना काफी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूंगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। पिछली बार लगभग एक साल हुआ मैंने उन्हें इंग्लैंड जाते समय जहाज पर देखा था। क्या यही अन्तिम

वक्त के लिए ही नही, बड़े सवाल पीछे नहीं पड़ जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायँगे, और दलित जातियो के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर ही लिया गया है, और कुछ दिन तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम का यह अर्थ नहीं हुआ कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज को किसी अंश तक मजूर करते हैं ? क्या यह असहयोग और सविनय-भंग से मेल खाता है ? इतने बलिदान और साहसपूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस नगण्य प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

वह राजनैतिक समस्या को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टि से देखते है और समय-समय पर ईश्वर को बीच में लाते है, यह देखकर मुझे उन पर गुस्सा भी आया। उनके वक्तव्य से तो ऐसी ध्वनि निकलती थी कि शायद ईश्वर ने उन्हे अनशन की तारीख तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना भयकर होगा !

और अगर बापू मर गये ! तो हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? और उसकी राजनीतिक प्रगति का क्या होगा ? मुझे भविष्य सूना और भयकर दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार विचारो ही विचारो में डूबता रहा। मेरे दिमाग में गड़बड़ी मच गई, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूँ, और सबसे ज्यादा अपने-आपके प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद-मिज़ाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब परिवर्तन हुआ। मुझपर भावनाओं का ऐसा दौर शुरू हुआ था कि एक संकट-काल ही आ उपस्थित हुआ था, पर अन्त में जाकर मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौके पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था—कोई बड़े नतीजे हों, और वह केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र में नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गये, तो भी हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए, कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए कटिबद्ध और मुस्तैद रहना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु तक को बिना हिचकिचाहट के सह लेने का संकल्प करके मैंने शान्ति और धीरज धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल-पुथल मचने और हिन्दू-समाज में उत्साह की एक जादूभरी लहर आजाने की खबरें आईं, और मालूम होने लगा कि अस्पृश्यता का अब अन्त ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवदा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है ! और लोगों के दिलों में खलबली मचा देनेवाले सूत्र का हिलाना वह कितनी अच्छी तरह जानता है !

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका संदेशा पाना मुझे बहुत अच्छा लगा। इस तार में उन्होंने लिखा—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूं। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय की कितनी क़दर करता हूं ! इन्दु और सरूप के

बच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगडी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीडा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लडकी और मेरी बहन के बच्चो के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगडी हो गई है। उस समय मेरी बहन भी पूना की जेल में थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नही भूलते, जिनका वास्तव में बडा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के प्रश्न पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को जवाब देने की इजाजत दे दी, और मैंने उन्हे यह तार भेजा :—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बडी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बडी दुविधा पैदा हुई, पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्गों के लिए बडे-से-बडा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर उसरा मालूम होता है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरी समस्यायें ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ। यह भी डर है कि दूसरे लोग आपके तरीको का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूँ? सप्रेम!"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तखत किये, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और



कुमारी इन्दिरा प्रियदर्शिनी

उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया । अनशन भी तोड दिया गया । मैं ऐसे समझौतो और इकरारनामो को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैने उसका स्वागत किया ।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम मे लग गये । हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गाधीजी की प्रवृत्तियो की खबरे हमें मिलती रहती थी । लेकिन उनसे मुझे खुशी नही होती थी । इसमें शक नही कि अछूतपन को मिटाने और दु खी दलित जातियो को उठाने के आन्दोलन को उससे बडे गजब का बढावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नही, बल्कि देशभर में जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण । यह तो अच्छी बात थी । लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि इससे सविनय भग को नुकसान पहुँचा । देश का ध्यान दूसरे सवालो पर चला गया, और काग्रेस के कई कार्यकर्ता हरिजन-कार्य मे लग गये । शायद उनमें से ज्यादातर लोग कम खतरे के कामो मे लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज्यादा, लाठी खाने और सम्पत्ति जब्त कराने का डर न हो । यह स्वाभाविक ही था, और हमारे हजारो कार्यकर्ताओ में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह घोर कष्ट सहने और अपने परिवार के भग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे । लेकिन फिर भी हमारे बडे आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे पतन होता देखकर दिल में दर्द होता था । फिर भी, सविनय भग तो चलता ही रहा, और मौके-मौके पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-काग्रेस जैसे बडे-बडे प्रदर्शन हो ही जाते थे । गाधीजी यरवदा-जेल में थे, मगर उन्हे लोगो से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के लिए हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गई थी । कुछ भी हो, इससे उनके जेल मे रहने के

कारण लोगों के मन में हुई टीस की तीव्रता कम हो गई थी। इन सब बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर ने भी मुझे फिर बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझलाहट आई थी, उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का जोर उन पर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में जोर की राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह हालांकि मैं खिन्न था, फिर भी उसको सहता रहा।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा :—

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूं? मैं तो एक विचित्र देश में भूला हुआ-सा, जहां आप ही एक-मात्र परिचित मीनार की तरह हैं, अपना कहीं पता ही नहीं पाता हूं; अंधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूं; लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूं। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।'

एक ओर उनके दावे को मैं बिल्कुल नापसन्द करता था, और

दूसरी ओर उन्हे आघात न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस द्वन्द्व का मुझे सामना करना पडा था। मगर फिर भी मैंने महसूस किया कि मैंने उन्हे प्रसन्नता का सन्देश नही भेजा, और अब जब कि वह अपनी भयकर अग्नि-परीक्षा मे से, जिसमे उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, निकलने का निश्चय कर ही चुके हैं, मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हे प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातो का भी मन पर बडा असर होता है, और उन्हे जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पडेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो उसे भी बडे दिल से सह लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हे दूसरा तार भेजा —

> "अब तो जब आपने अपना महान् कार्य शुरू कर ही दिया है, तो मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखाई देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छ हफ्तो के लिए सविनय भग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच मे देश में भावना का फिर एक उभाड आया। मैं ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति मे यह उचित मार्ग है ? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका बिलकुल नहीं ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका अधिकाश श्रद्धा से महात्माजी की तरफ निगाह गडाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह

चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायँ, अस्पृश्यता का नाश कर दें, और स्वराज्य हासिल करलें, इत्यादि, और आप कुछ भी न करें। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे, उनका आग्रह पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालांकि मैं गांधीजी पर बड़ी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। अक्सर वह अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी सहज आत्मप्रेरणा से, जो गलती नहीं करती थी, काम लेते थे। श्रेयस्कर और लाभप्रद काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है? कुछ वक्त के लिए तो यह लाभदायक हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा?

और मैं यह नहीं समझ सका कि वह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी नींव हिंसा और संघर्ष पर है, कैसे मान लेते हैं, जैसा कि वह मंजूर करते हुए दीखते हैं? मेरे अन्दर जोर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं (व्यक्ति-निष्ठा और तत्व-निष्ठा) की चक्की में पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहार-दीवारी से बाहर निकलूंगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और कि कर्त्तव्य विमूढ़ कर देनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा दोष था कि मैं अपने देशवासियों की भावना और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियों और मेरे बीच में एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार करने में अपने आपको असमर्थ पाकर मैं दुखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब पर मानो

पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओ, पुरानी आशाओ और पुरानी इच्छाओ की दुनिया ने अपना परदा डाल रक्खा था। नई दुनिया का निर्माण होना तो अभी बहुत दूर था।

दो लोको के बीच भटकता,
आश्रय की कुछ आश नही,
मरी पडी है एक दूसरे मे,
उठने की शक्ति नही।[१]

हिन्दुस्तान, सब बातो से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिख और दूसरे लोग अपने-अपने मतो का अभिमान रखते है, और एक-दूसरे के सिर फोडकर उनकी सच्चाई का सुबूत देते है। हिन्दुस्तान मे और दूसरे देशो मे मजहब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप में सगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड-मूल से मिटा देने तक की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रगतिविरोध, जड (प्रमाण रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अन्धश्रद्धा और शोषणनीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थो के सरक्षण का ही नाम 'मजहब' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म में और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो मनुष्यो की गहरी आन्तरिक आकाक्षा को भी पूरा करती है। नही तो उसका इतनी जबरदस्त शक्ति बनना जैसा कि बना हुआ है कैसे सम्भव था, और उससे अनगिनती पीडित आत्माओ को सुख और शान्ति कैसे मिल सकते थे ? क्या वह शान्ति केवल अन्ध विश्वास को शरण देने और शकाओ पर परदा डालने वाली ही थी ? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र की तूफानो से बचकर

१ अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

किसी बन्दरगाह मे मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी ? कुछ बातो मे तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित धर्म तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तथ्य और तत्व नही है। श्री जी० के० चेस्टरटन[1] ने इसकी (स्वयम् अपने खास तरह के धर्म की नही, मगर दूसरो के धर्म की !) भूगर्भ में पाये जानेवाले ऐसे 'फॉसिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ ढाचामात्र है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गई है। और, अगर किसी मजहब में कोई महत्वपूर्ण चीज रह भी गई है तो, उस पर और दूसरी हानिकर चीजो का लेप चढ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वी धर्मों में, और पश्चिमी धर्मों में भी, हुई है। चर्च आफ इग्लैण्ड ऐसे धर्मों का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो किसी भी अर्थ में मजहब नही है। किसी हद तक, यही बात सारे सगठित प्रोटेस्टेण्ट मजहबो के बारे मे सही है, लेकिन इसमें सबसे आगे बढा हुआ चर्च आफ इग्लैण्ड ही है, क्योकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[2]

१ यह कैथलिक सम्प्रदाय का था। —अनु०

२ हिन्दुस्तान में चर्च आफ इग्लैण्ड तो प्राय सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊँचे सरकारी मुलाजिम साम्राज्य-वादी सत्ता के प्रतीक है उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजाने से) सरकार की तरफ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी है। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढिवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आमतौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य

उसके बहुत-से अनुयायियो का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्य को पूरा किया है, और पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनो को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस धर्म ने एशिया और अफ्रीका मे अंग्रेजो की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजो में एक असाधारण और ईर्षा करने योग्य भावना भर दी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते है। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नही जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इग्लैण्ड के बराबर भाग्यशाली नही हुए है, अक्सर

---

ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और सस्कृति से आमतौर पर बिलकुल नावाकिफ होते है और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे गैरईसाइयो के पापो और कमजोरियो को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते है। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए है। चार्ली एण्डरूज से बढकर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा मित्र नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमडती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई है। पूना के क्राइस्ट सेवा-सघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज है जिनके मजहब ने उन्हे दूसरो को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बडी-बडी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये है। दूसरे भी कई अंग्रेज पादरी हुए है, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसम्बर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु चेम्सफोर्ड-सुधारो की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे खयाल आता है कि यह बडी घोषणा कुछ जल्दबाजी से कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता पूर्ण प्रदर्शन कर

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के अनुकूल बन जाने की कोशिश की, और लोक-परलोक दोनो का ही ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठाना चाहा। जहाँ तक इस दुनिया का सबध था वहाँतक तो वह खूब ही सफल रहा, लेकिन मजहब की दृष्टि से वह सगठित मजहब के रूप में 'न घर का रहा न घाट का।' और धीरे-धीरे मजहब की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन कैथलिक मत इस दुष्परिणाम से बच गया। क्योंकि वह पुरानी जड को ही पकडे रहा, और जबतक वह जड कायम रहेगी तबतक वह भी फूलता-फूलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ मे 'जीवित धर्म' रह गया है। एक रोमन कैथलिक मित्र ने जेल मे मेरे पास कैथलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हे बडी दिलचस्पी से पढा था। उन्हे पढने पर मुझे मालूम हुआ कि लोगो पर उसका कितना बडा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

---

अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट के राजभक्त रहें, जो कि हमारे धर्म के 'संरक्षक' हैं।" लाजिमी तौर पर इसका अर्थ हुआ हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिससे उनके विचार से हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन खतरे में पड सकते हैं, इग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति प्रकट की थी।

मगर, मेरी समझ में तो इस तरह की सुरक्षितता चाहना मेरे लिए तो असमव है। मैं तो खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूँ, जिसमें चाहे जितनी आँधियाँ और तूफान हों, न मुझे परलोक भी या मृत्यु के बाद क्या होता है इसके बारे में कोई दिलचस्पी है। इस जीवन की समस्यायें ही मेरे दिमाग को व्यस्त करने के लिए काफी मालूम होती है। मुझे तो चीनियों की परम्परा से चली आई जीवन-दृष्टि, जो कि मूल में नैतिक है लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रग लिये हुए है, पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह व्यवहार में लाई जा रही है, वह मुझे पसन्द नही है। मुझे तो 'ताओ' यानी जिस मार्ग पर चलना चाहिए उसमें या जीवन की पद्धति मे रुचि है, मैं चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नही बल्कि उसको अगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक से नाता नही रखता। मुझे वह साफ विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि उसकी नीव सिर्फ कुछ स्थिर और न बदलने वाले मतो और सिद्धान्तों को बिना चूँ-चपड किये स्वीकार कर लेना ही नहीं है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है। मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूँ, उनसे वह बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद असलियत पूर्व निश्चित विचारो से मेल न खाय, असलियत से भी आँखें बन्द कर लेता है। वह सकुचित है, और दूसरी तरह की रायो या विचारो को सहन नही करता। वह आत्म-हित और अहकार पूर्ण है, और अक्सर स्वार्थी और तमाम साधु लोगो को अपने से अनुचित फायदा उठाने देता है।

इसका अर्थ यह नही है कि मजहब को माननेवाले अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक कोटि के लोग नही हुए है, या अभी भी नही

है। लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरे लोक के पैमाने से न नापकर इसी लोक के पैमाने से नापना हो तो मजहबी दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रो की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नही देता, बल्कि बाधा तक डालता है। आमतौर पर, धर्म ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और मजहबी आदमी समाज की भलाई की अपेक्षा अपने-आपकी मुक्त की ज्यादा फिक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहकार मे छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश मे अक्सर अहकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानो का ताल्लुक समाज की जरूरतो से नही रहता, लेकिन उनका आधार पाप के अत्यन्त गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो पर हो जाता है। और, सगठित धर्म तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाजिमी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी शक्ति बनाता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनो मे ईसाई मजहब ने गुलाम लोगो को अपना समाजिक दर्जा सुधारने में मदद नही दी थी। ये गुलाम ही यूरप के मध्यकालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियो के कारण भू-स्वामियो के क्रीतदास बन गये। मजहब का रुख दो सौ वर्ष पहले तक ( १७२७ तक ) क्या रहा था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशो के दास-स्वामियो को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र से मालूम पड सकता है।[1]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से

१ यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' ( पृष्ठ ७८ ) में उद्धृत हुआ है। यह किताब बडी ही रोचक और विचार-प्रेरक है।

सामाजिक स्थिति या सामाजिक सम्बन्धों में [illegible] तब्दीलियों में दख-
लन्दाजी नहीं करती, बल्कि उस समाज के व्यक्ति उसी 'अवस्था' में रहते हैं जिस अवस्था में वह पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान' के बन्धन से और मनुष्यों के 'राग,' 'विकार' और तीव्र 'वासना' के बन्धन से है। मगर, इसकी बाहरी हालत बदस्तूर—'ईसाईधर्म की दीक्षा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी गुलाम या आजाद थी उसमें वह किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं करता।'

आज कोई भी संगठित मज़हब इतने साफ ढंग से अपने खयालात जाहिर न करेगा, लेकिन निश्चित और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख मुख्यतः यही होगा।

यह सभी जानते हैं कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनके कई तरह के अर्थ लगाये जाते हैं। किसी भी भाषा में 'धर्म' शब्द का (या दूसरी भाषाओं के इसी अर्थ वाले शब्दों का) जितने भिन्न-भिन्न अर्थ भिन्न-भिन्न लोग लगाते हैं, उतना शायद ही किसी दूसरे शब्द का अर्थ लगाया जाता हो। (या 'मजहब') शब्द को पढ़ने या सुनने से शायद किन्हीं भी दो मनुष्यों के मन में एक ही-से 'धर्म' के विचार या कल्पनायें पैदा नहीं होंगी। इन विचारों या कल्पनाओं में, कर्मकाण्डों और रस्म-रिवाजों के, धर्म-ग्रन्थों के, मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तों के और नीति-नियमों, श्रद्धा, भक्ति, भय, घृणा, दया, बलिदान, तपस्या, उपवास, भोज, प्रार्थना, पुराने इतिहास, शादी, ग़मी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार की कल्पनाओं और अर्थों के कारण दिमाग़ में जबरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तीव्र भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिसने

अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'धर्म' शब्द का ठीक और जब निश्चित अर्थ (अगर कभी था, तो) अब बिलकुल नही रहा है, और अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका प्रयोग होता है तब तो वह सिर्फ गडबडी ही उत्पन्न करता है और उससे वाद-विवाद और तर्क का कभी अन्त ही नही हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का प्रयोग ही बिलकुल बन्द कर दिया जाय, और उसके स्थान पर ज्यादा सीमित अर्थ वाले शब्द इस्तैमाल किये जाय, जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति-नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वगैरा। यों तो ये शब्द भी काफी अस्पष्ट है, लेकिन ये 'धर्म' की अपेक्षा बहुत परिमित अर्थ रखते है। इसमे बडा लाभ यह होगा कि अभी तक इन शब्दो के साथ उतनी भावुकता और भावना नही लग पाई है जितनी कि 'धर्म' के साथ लग चुकी है।

तो, मजहब (इस शब्द की स्पष्ट हानियो के होते हुए भी इसी का प्रयोग कर रहा हूं!) चीज क्या है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक खास दिशा मे, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँ तक मै समझता हूँ, मजहब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर जोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अग या रूप मात्र मानता है। इसमें शक नही हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बडा जबरदस्त असर पडता है। मगर, इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पडता है। दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते है कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशो में आन्तरि-

विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशो के कई लोग शायद समझते है, कि चूंकि हम कल कारखानो के उद्योग में पीछे है और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक भ्रम है, जिससे हम अपने को तसल्ली दे लेते है, और अपने छोटे-पन की भावना को दबाने की कोशिश करते है। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थितियो और हालतो से ऊपर उठ सके, और ऊंचे आन्तरिक विकास पर पहुंच सके। लेकिन बहुत लोगो और राष्ट्रो के लिए तो, आन्तरिक विकास हो सकने से पहले, किसी अश तक बाहरी विकास का होना आवश्यक है जो आदमी आर्थिक परिस्थितियो का शिकार है, और जो जीवन-सघर्ष के बधनो और बाधाओ से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊंची कोटि की आत्मा-चेतनता प्राप्त कर सके। जो वर्ग पद-दलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराधीन है और बन्धनो में पड़ा परिस्थितियो से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में सफल नही हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आज़ादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आज़ादी को पाने, और परिस्थिति ऐसा बनाने के लिए कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें हट जायें, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे मिले जिनसे असली उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय। मैं समझता हूं कि जब गांधीजी कहते है कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिए जो कि उस उद्देश्य तक पहुंचा दें, नहीं तो उनसे सारी शक्ति ही नष्ट होगी, और उनसे शायद भीतरी और बाहरी दोनो तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गाधीजी ने कही लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के विना जीवित नही रह सकता। कुछ ऐसे लोग है जो अपनी अक्ल की शेखी में कहते है कि हमें धर्म से कोई सबध नही है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी साँस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नही है।" फिर वह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी तपस्या ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खीचा है। और मै विना किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते है कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नही है, यह समझते ही नही कि 'धर्म' का क्या अर्थ है।" यदि वह यो कहते कि प्राय वे ही लोग जो जीवन और राजनीति में से 'धर्म' को निकाल डालना चाहते है, 'धर्म' शब्द का उन (गाधीजी) के आशय से बहुत भिन्न कोई दूसरा ही आशय समझते है—तो शायद यह अधिक उपयुक्त होता। यह स्पष्ट है कि गाधीजी 'धर्म' शब्द को उसके भाष्यकारो से भिन्न अर्थ में—शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक—ग्रहण कर रहे है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह प्रयोग करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

धर्म की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि मजहबी लोग सहमत न होगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में मजहब "वह चीज है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसगो या घटनाओ को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है", या फिर "जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशका होने पर भी और बाधाओ के विरोध में भी किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रक्खी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सार्वजनिक और उपयोगिता वाली है वही स्वरूप में धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज है, तब तो निश्चय ही उस पर किसीको भी कुछ ऐतराज नही हो सकता।

रोम्याँ रोलाँ ने भी मजहब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद संगठित मजहब के कट्टर लोग भयभीत हो जायँगे। अपने 'रामकृष्ण परमहंस' जीवनचरित्र में वह लिखते हैं —

"... बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के मजहबी विश्वासों से दूर हैं, या उनका ख़याल है कि वे दूर हैं, लेकिन वास्तव में वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत में डूबे रहते हैं, जिसे वे समाजवाद, साम्यवाद, मानवहितवाद, राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार की वस्तु ये नहीं, किन्तु विचार की उच्चता या गुण से उसका मेल निश्चित हो सकता है, और हम यह तय कर सकते हैं कि वह मजहब से उत्पन्न हुआ है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सह कर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयतापूर्वक जाता है, तो मैं उसे मजहबी ही कहूँगा। क्योंकि मजहब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वाशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है। और जब वह निर्बलता का नहीं बल्कि शक्ति की एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रमाण में शामिल हो जाती है।"

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोम्याँ रोलाँ की इन शर्तों को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मैं तैयार हूँ।

: ४८ :

# ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी' नीति

यरवदा-जेल से, बाद में बाहर से, गांधीजी के नेतृत्व में हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश का प्रतिबन्ध दूर करने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली ( बड़ी धारासभा ) में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष में मत दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके द्वारा असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय-भंग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकल कर चले आये थे। जो मेम्बर वहाँ बच गये थे, उन्होंने और उन लोगों ने जो खाली हुई जगहों में आगये थे, उन्होंने इस संकट-काल में कांग्रेस का विरोध करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी कानून के रूप में पास कर देने में इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता पचा लिया था, और दिल्ली, शिमला और लन्दन में बड़े प्रभुओं के साथ दावतें उड़ाई थीं। वे हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की हुकूमत की प्रशंसा करने में शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान में 'दो-रुखी' नामक नीति की विजय की उन्होंने प्रार्थना की थी।

उस समय की परिस्थिति में गांधीजी के अपील निकालने पर मैं

आश्चर्य में पड़ गया। और इससे भी ज्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जो कि कुछ ही पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों ने सविनय-भंग को धक्का पहुँचा, लेकिन मुझे तो नैतिक दृष्टि से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह में गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुत-से लोग जेल में थे या लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ करीब-करीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस समय और बाद में मन्दिर-प्रवेश-बिल की तरफ सरकार का रुख आँखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ डालीं। वह उसको स्थगित करती चली गई, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गई, और अखीर में उस पर अपना विरोध जाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार के सभी प्रयत्नों की तरफ किसी-न-किसी अंश तक उसका यही रुख रहा है, और मजहब में हस्तक्षेप न करने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की जरूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करने से बाज नहीं आई। एक इत्तफाक से ही शारदा बाल-विवाह-निरोधक बिल क़ानून बन गया था, लेकिन इस अभागे क़ानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह मालूम हो गया कि इस तरह के क़ानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमें एक के कुसूरों के लिए दूसरों को सजायें दी जा सकती थीं और जिनके भंग करने के कारण वह हजारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार 'शारदा-

एक्ट' सरीखे अपने नियमित कानून की पाबन्दी कराने के खयाल से स्पष्टत दुबकने लगी। इस कानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ गई। क्योकि लोगो ने छ महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि कानून मे बहुत ही बेवकूफी से रख दी गई थी, फायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर तो यह मालूम होगया कि कानून तो बहुत कुछ एक मजाक ही है, और आसानी से उसका भग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ से उसके प्रचार की जरा भी कोशिश नही की गई, और देहात के ज्यादातर लोगो को यह भी पता न लगा कि यह कानून क्या है। उन्होने हिन्दू और मुसलमान प्रचारको से, जो खुद भी हकीकत शायद ही जानते हो, उसका तोडा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयो के प्रति सहिष्णुता की जो यह असाधारण प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकर ने दिखाई है, वह उन बुराइयो के लिए किसी पक्षपात के कारण नही है। यह तो सही है कि वह बुराइयो को दूर-करने की ज्यादा चिन्ता नही करती, क्योकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालती। लेकिन सुधारो की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतो को और बढा ले। मगर इन पिछले दिनो से समाज-सुधारको की दृष्टि से स्थिति और भी खराब होती जा रही है, क्योकि अंग्रेज लोग इन बुराइयो के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान के सबसे प्रतिगामी लोगो के गहरे सम्बन्ध में आने के कारण

राजभक्ति भी है।

अगर ब्रिटिश सरकार बैठी रही, और उसने शासन-सुधार को लोकप्रिय करने और उनको पाबन्दी रखने की कोई कोशिश नहीं की, तो कांग्रेस या दूसरी प्रगतिशील संस्थाओं ने उसके पक्ष में प्रचार क्यों नहीं किया? अंग्रेज और दूसरे विदेशी समालोचकों ने बार-बार यह सवाल किया है। जहांतक कांग्रेस का सम्बन्ध है, वह तो पिछले पन्द्रह साल से, खासकर १९३० से, ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जीवन-मरण का भीषण लड़ाई लड़ रही है। दूसरी संस्थाओं में अपनी ताकत या जनता तक पहुंच नहीं है। आदर्श, चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कांग्रेस में खिंच आये थे, और ब्रिटिश जेलखानों में जीवन बिता रहे थे।

दूसरी संस्थायें कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्राय बढ़ी नहीं। वे शरीफाना तरीक़े से, या अखिल-भारतीय महिला-संघ की तरह जनाने तरीके से ही, काम करती थी, और उनमें आक्रामक प्रचार की वृत्ति नहीं थी। इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सो और उनके बाद के कानूनो द्वारा सब

तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियो के भयकर दमन के कारण निष्प्राण होकर कुछ भी नही कर सकती थी। फौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सभ्यता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियो को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कॉग्रेस और दूसरे गैर-सरकारी सगठन क्यो ज्यादा सामाजिक सुधार नही कर सकते, इसका मूलकारण और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसी पर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जवतक हमें राजनैतिक आज़ादी न मिलेगी तवतक वह उसी मे लगता भी रहेगा। जैसाकि वर्नार्ड शॉ ने कहा है— "पराजित राष्ट्र नासूर के रोगी की तरह होता है, वह और किसी वात का खयाल नही कर सकता । वास्तव में किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से वढकर कोई अभिशाप नही होता, जोकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के दमन का एक दु खदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड मे पीछे रह जाते है, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नही कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनो से छुटकारा पाने की कोशिश करे।"

पिछला अनुभव हमें वताता है कि चुने हुए मिनिस्टरो के हाथ में जाहिरातौर पर कुछ महकमो के वदल दिये जाने पर भी वर्तमान परिस्थिति में प्राय हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नही कर सकते। सरकार की जवरदस्त अकर्मण्यता रूढि-प्रेमियो के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढियो से ब्रिटिश सरकार ने लोगो की नये काम शुरू करने की शक्ति को कुचल दिया है, और वह सर्वाधिकारी की तरह, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, माँ-वाप की तरह से हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियो द्वारा किसी भी वडे व्यवस्थित काम का किया जाना वह पसन्द नही करती, और उसमें छिपे इरादो का शक करती है।

हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ता, यद्यपि उन्होंने हर तरह सावधानी से काम लिया है समय-समय पर सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गये हैं। मुझे तो यकीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का भी राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरी समझ में अगर सरकार सामाजिक सुधार के प्रश्न को हाथ में लेले, तो जनता के मन को उसके माफिक बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज्यादा सफल नहीं हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायें, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

लेकिन जेल में हमारे दिमागों में सामाजिक सुधार और शारदा-कानून और हरिजन-आन्दोलन के विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इसी हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ्तों के लिए मुल्तवी कर दिया गया था। और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम थे। इसके मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आखिरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ आंखमिचौनी का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मन आवे तब चालू और जब मन आवे तब बन्द ही जा सकती है। स्थगित होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमजोरी और प्रभाव-हीनता आगई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेन्सें हो रही थीं, और तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थीं, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी। कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट बड़े सम्मानित लोग थे,

लेकिन उनको सक्रिय लडाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए वार-वार इस वात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये है और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते है। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ ऊँचे हलको मे कुछ असन्तोष था, लेकिन उसको सगठित रूप से जाहिर नही किया जा सकता था, क्योकि सभी कांग्रेसी सस्थायें गैर-कानूनी थी।

इसके वाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास करना, उनका जेल से छूटना, और छ हफ्ते तक सविनय भग का रोक लेना, ये सब हुए। उपवास खत्म हो गया, और वहुत धीरे-धीरे वह फिर अच्छे हुए। जून के मध्य में सविनय भग के स्थगित होने की अवधि छ हफ्ते के लिए और वढा दी गई। इस वीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान के टापुओ में राजनैतिक कैदी (वगाल में जिन्हे क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सजा दी गई थी वे वहाँ भेजे गये थे) जेल-वर्ताव के प्रश्न पर भूख-हडताल कर रहे थे, और उनमे से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। कई मृत्युशय्या पर थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगो ने अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओ में भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हे सजायें दे दी गई। हम (कैदी) केवल कठिनाइयां ही नही सहे, लेकिन हम शिकायत भी न करे, चाहे हम भूख-हडताल को छोडकर विरोध वतलाने का दूसरा उपाय न मिलने पर, भूख की भयकर अग्नि-परीक्षा में मर भी जायें।
२ कुछ महीने वाद, सितम्वर १९३३ में (जवकि मैं जेल से वाहर था), एक अपील निकली थी, जिसमे अण्डमान के क़ैदियो के साथ ज्यादा मनुष्योचित बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान की जेलो में वदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज़ और दूसरे कई-कई मशहूर लोगो के भी दस्तखत थे, जिनमें अधि-

क़ैद, राजनीति से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग थे। इस वक्तव्य पर पार्लमेण्ट के होम मेम्बर ने बड़ी नाराज़गी ज़ाहिर की, और क़ैदियों के साथ सहानुभूति दिखलाने के लिए उनपर उपवास करनेवालों की बड़ी कड़ी समालोचना की। बाद में जहाँतक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी ज़ाहिर करना भी एक जुर्म क़रार दे दिया गया।

सविनय भंग की छः हफ़्ते की मौक़ूफ़ी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल में, हमें ख़बर मिली कि गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेन्स बुलाई है। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक सविनय भंग बिलकुल स्थगित कर दिया गया, किन्तु व्यक्तिगत सविनय भंग की इजाज़त खुली रक्खी गई और सब तरह की गुप्त प्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गईं। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तिदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर ख़ास ऐतराज़ नहीं हुआ। सामूहिक सविनय भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था, क्योंकि वास्तव में उन दिनों सामूहिक सविनय भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इस बात का एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह ज़रूरी भी था, लेकिन ख़ुद सविनय भंग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था।

मुझे जिस बात से अचरज और दुःख हुआ, वह यह थी, कि पूना में मौजूदा परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई। कांग्रेसवाले क़रीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठे हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनायें हुई थीं, जिनमें 'व्हाइट पेपर' का

प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमे ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना थी। इस अर्से मे हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था, और दूसरी तरफ असली सवालो को छिपाने के लिए लगातार झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ सरकार के हिमायतियो ने ही, बल्कि लिबरलो (मध्यमार्गियो) और दूसरे लोगो ने भी, कई बार यह कहा था कि कांग्रेस ने अपना स्वाधीनता का लक्ष्य छोड दिया है। मेरी समझ में हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर ज़ोर देते, हम उसे फिर स्पष्ट कर देते, और अगर हो सकता तो उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी जोड देते। इसके बदले बहस शायद सिर्फ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भग अच्छा है या व्यक्तिगत, गुप्तता रखना ठीक है या नही। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहातक मुझे याद है, गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात मागने के लिए एक तार भेजा, जिसका जवाब वाइसराय की तरफ से 'नही' में आया, और फिर गाधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमे कि 'सम्मान-युक्त सुलह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहां, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में विजयिनी हो रही थी और अण्डमान में लोग भूखो रह-रहकर अपनी जाने दे रहे थे? लेकिन मै जानता था, कि नतीजा कुछ भी हो, गांधी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी ओर से समझौते का पूरा मौका देते हैं।

दमन पूरे ज़ोरो पर चल रहा था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियो को दबानेवाले सारे विशेष कानून लागू थे। फरवरी १९३३ में मेरे पिताजी की सालाना यादगार मे की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालांकि वह गैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करने वाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे अच्छे मॉडरेट। और मानो भविष्य में

मिलनेवाले छुटकारे की जो आशा हमें 'व्हाइट पेपर' से थी वह नहीं थी।

वह एक अनोखा ढंग था, जिससे उत्तर सोचना कठिन जान पड़ता था। उसके अनुसार हिन्दुस्तान एक ढीली-ढाली हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जाती, और 'संघ' में देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा। लेकिन वह संघ-शासन में भाग भी आवेगी इसलिए हस्तक्षेप न किया जायगा और पूरी तरह से एकतर्फ़ी सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली चाबियाँ, रुपये की डोरें, हमेशा लन्दन शहर के हाथ बँधे रहेंगी, और एक रिज़र्व बैंक के मारफ़त मुद्रा की और आर्थिक नीति भी बैंक आफ़ इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए मज़बूत दीवारें खड़ी हो जायँगी, और और भी नये स्थापित स्वार्थों की सृष्टि हो जायगी। इन स्थापित स्वार्थों के लाभ के लिए हमारी सारी की सारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रक्खी जायगी। हमें स्वशासन की असली क़िस्मों के योग्य बनाने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदों पर, जिनको हम हटाना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा, उन्हें हम छू भी न सकेंगे। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर इसकी व्यवस्था में रहनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबके ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मन में आवे सो करने और जिस बात को चाहे उसे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूब तारीफ़ कर सकते हैं, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी हसरत की निगाह से देख सकते हैं।

ऐसा विधान तय्यार कर भी, कि जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ-पाँव अच्छी तरह से बाँध दिये गये थे, उसमें 'ख़ास ज़िम्मेदारियाँ' और

'संरक्षण' के रूप में कुछ और जंजीरें भी जोड़ दी गई थी, जिससे कि यह अभागा राष्ट्र एक ऐसा कैदी हो गया कि जो जरा भी हिल डुल न सके। जैसा की श्री० नेविल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होने सारी ताकत लगाकर योजना में ऐसे सब 'संरक्षण' रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग में आ सकती थी।"

इसके बाद, हमे यह भी बतलाया गया कि इन उपहारो के लिए हमे भारी खर्चा देना पड़ेगा—शुरू में एकदम कुछ करोड़ और फिर सलाना रकम। हमें स्वराज का वरदान काफी रकम दिये बिना कैसे मिल सकता था ? हम तो इस धोखे मे ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्र देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आजादी की तलाश मे थे। आजादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अब तो मालूम हुआ कि वह बोझा और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हाल हमे सच्ची अंग्रेजो जैसी ही वफादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे शासक कितने उदार-हृदय है। किसी भी साम्राज्यवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी प्रजा के लिए अपनी खुशी से ऐसे अधिकार और अवसर नहीं दिये है। और इग्लैण्ड मे इसके देनेवालो में और इसपर आपत्ति उठाने वालो मे, जो इस भारी उदारता से डर रहे थे, बड़ा भारी वादविवाद हुआ। तीन साल तक हिन्दुस्तान और इग्लैण्ड के बीच बारबार बहुत लोगो के आने और जाने का, तीन गोलमेज-कान्फ्रेन्सो का, और अनगिनती कमिटियो और मशविरो का यह नतीजा हुआ!

मगर, इग्लैण्ड की यातनायें तो अब भी खतम नही हुई थी। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें मेम्बर या गवाह बनकर

गये। लन्दन में और भी कोई तरह की समितियाँ बैठ रही थीं, और इन समितियों की मेम्बरी, जिसका अर्थ था [illegible] खाने और साम्राज्य के हृदय (लन्दन) में ठहरने का सुन्दर अवसर मिलना, पाने के लिए भीतर ही भीतर बड़ी भारी छीना-झपटी हुई थी। बड़े-बड़े यशस्वी लोगों ने, जिनके हौंसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठण्डे नहीं पड़े थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और [illegible] देने की शक्ति से 'व्हाइट पेपर' की तजवीज़ों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा के कष्टों का और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज़्यादा [illegible] को सहने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे और कहते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखाई नहीं देता, लेकिन हम हिम्मत हारनेवाले नहीं, और चाहे हमारी कोई न सुने तो भी हम अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे। उनमें से एक व्यक्ति, जो कि प्रति-सहयोगियों का एक नेता था, सबके चले जाने पर भी ठेठ अन्त तक टिका ही रहा, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहता है, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाक़ात-पर-मुलाक़ात लेता रहा, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाता रहा। और आखिरकार जब वह अपने देश में लौटा तब प्रतीक्षा करनेवाले लोगों से उसने कहा कि मराठों की सुप्रसिद्ध दृढ़ता को क़ायम रखते हुए मैंने अपना काम-धंधा छोड़ा ही नहीं और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कह लेने के लिए मैं लन्दन में डटा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि उनके प्रति-सहयोगी मित्रों में मज़ाक़ का माद्दा नहीं है। अपनी कुछ विनोद-भरी बातों पर जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी। यह बड़ा थका

देने वाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी बढ़िया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टुकड़े-टुकड़े भले ही हो जायें लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल 'व्हाइट-पेपर' को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-पर-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालाँकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था, लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कांग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौके-बेमौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह अमुक कांग्रेसी नेता को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूँकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति अनुचित काम करे तो सरकार उसको गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक उचित माना जायगा। इंग्लैण्ड में भी कुछ भले लोग इसी दलील पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करते थे। जब हम जेलों में पड़े हुए थे। तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर इन भले आदमियों से हम बचे ही रहे तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह जाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था और उनके और हमारे बीच बहुत चौड़ी खाई थी।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलो को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे ? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर कदम उठाने की तो वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ अपने समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और कुछ काम करने वाले लोगो से दूर-दूर ही हटना पडा, उन्हे नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पडा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा मे फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लडाई में कोई फर्क न पड सका। मगर उनमे कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी व्यक्तिगतरूप से इज्जत होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओ ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलो ने भी सामूहिक रूप से सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन सकट के समय में ब्रिटिश सरकार को अमूल्य सेवा की। प्रभावकारी आलोचनायें न होने और समय-समय पर लिबरलो के द्वारा उन्हें दी गई मान्यता और समर्थन से सरकार के दमन और अनीति को प्रोत्साहन मिला। इस तरह ऐसे समय में जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व दमन को मुनासिब बताना मुश्किल मालूम हो रहा था, उसको लिबरलो और प्रति-सहयोगियो ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेतागण कहते थे कि 'व्हाइट-पेपर' खराब है—बहुत ही खराब है, लेकिन अब उसके लिए करें क्या ? अप्रैल १९३३ मे कलकत्ता में लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने, जो कि लिबरलो मे सबसे प्रमुख नेता है, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असन्तोष-जनक क्यो न हो, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होने कहा कि "यह ऐसा वक्त नहीं है जबकि हम एक ओर खडे रहे और अपने सामने सब कुछ यो ही हो जाने दें।" जाहिर है कि, उनके खयाल

में सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममें समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की कुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममें ये गुण है, तो उन्हे पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समेन' की राय थी कि ये बड़े "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री० शास्त्री हमेशा शानदार भाषण देते है, और वक्ताओ की तरह सुन्दर शब्दो के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हे शौक है। मगर वह अपने उत्साह में वह भी जाते है, और शब्दो का जो इन्द्रजाल वह खडा करते है उससे उनका मतलब दूसरो के लिए और शायद खुद उनके लिए भी धुंधला हो जाता है। उन्होने अप्रैल १९३३ मे, कलकत्ता में, सविनय भग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी जरा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दे, तो भी उसमे दो बाते ध्यान देने के काबिल दिखाई देती है। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यो न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-शोषण क्यो न होता हो, हमें उसको सह लेना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नही बनाई जासकती जिसके बाहर हम हरगिज न जावे। एक जरा-सा कीडा भले ही एक बार मुकाबिला करने पर उतारू हो जाय, लेकिन श्री० शास्त्री की सलाह पर चले तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नही कर सकते। उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा कोई रास्ता ही नही है। इसका मतलब यह है कि जहाँ तक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फैसले के सामने झुक जाना और उसे मजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मैं इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है। और यही हमारी प्रारब्ध

है—ब्रिटेन है, जिसे हम चाहें या न चाहें हमें मान लेना ही चाहिए।

यह गौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नहीं दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालांकि सबको यह स्पष्ट मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "हालांकि 'व्हाइट-पेपर' की तजवीजें खराब हैं लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हींको क़ानून का रूप दे दिया जाय तो मैं उनको काम में लाने के हक़ में हूँ," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा घटनाओं से सम्बद्ध तो होती। लेकिन श्री० शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गये और उन्होंने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हों, फिर भी मेरी सलाह तो यही रहेगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज्यादा महत्त्व की बात थी, उनके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना ज़रा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल खाली न हो और शासकों के फरमानों की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तब तक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है?

दूसरी जिस बात की तरफ़ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारों के क़ानून बनने की लम्बी मंजिल में 'व्हाइट-पेपर' तो सिर्फ़ एक सीढ़ी ही थी। सरकार की निगाह में वह एक ज़रूरी सीढ़ी थी, लेकिन अभी तो कई सीढ़ियाँ बाक़ी थीं, और मंज़िले-मक़सूद तक जाते-जाते सम्भव था उनमें, आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलियाँ हो जातीं। इन तबदीलियों का आधार स्पष्ट ही यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना

दवाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी मे यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के लिवरलो को अपनी तरफ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पडता और उससे वह योजनाओ को जरा और उदार वनाती या कम-से-कम उसमें कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारो की मजूरी या नामजूरी, या उन्हे काम में लाने या न लाने का सवाल उठने से वहुत पहले ही श्री० शास्त्री की जोरदार घोपणा ने सरकार को यह साफ वता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिवरलो की परवा नही करनी चाहिए। अव उन्हें अपनी तरफ मिलाने का सवाल ही नही रहा। चाहे उन्हे धक्का देकर भी वाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोडेंगे। इस मामले मे, भरसक लिवरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री० शास्त्री का कलकत्तेवाला भापण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक और लिवरल-पक्ष के हितो के लिए हानिकर था।

मैंने श्री० शास्त्री के पुराने भापण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्ठता नही की है कि वह भापण या लिवरल फेडरेशन का जलसा असल में कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मै समझना चाहता हूँ कि लिवरल नेताओ की मनोवृत्ति और विचार कैसे है। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग है, फिर भी (उनके लिए जितना भी सद्भाव हो सकता है उसके होते हुए भी) मैं यह नही समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यो करते है। श्री० शास्त्री के एक और भापण का भी, जिसे मैंने जेल मे पढा था, मुझपर वहुत बुरा असर पडा। यह भापण उन्होंने जून १९३३ में पूना मे भारत-सेवक-समिति के जलसे पर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने वतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अंग्रेजी प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलो की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सतावे

और उन पर जुल्म करें। लेकिन इनके खिलाफ़ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में हमेशा सहिष्णुता की परम्परा रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान में सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री० शास्त्री के भाषण का जो संक्षिप्त हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है। कहा जाता है कि श्री० शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी में भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहाँ बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैंने यह हाल पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री० शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों में तफ़सील के बारे में बेशक फ़र्क़ है, लेकिन मूलतः विचार-धारा एक ही है। श्री० विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों के साथ किसी किस्म की ज्यादती न करते हुए ठीक ऐसी ही भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकते थे। फिर भी, श्री० शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज्यादा-योग्य नेता हैं।

श्री० शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मैं सहमत नहीं हूँ, ख़ासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, अगर वह अंग्रेज़ नहीं है, तो उनसे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज़ भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेज़ी शासकों के रंगीन चश्मों ने दुनिया और अपने देश को देखना, उन्हें एक

वरदान है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि पिछले अठारह महीनो से जो गैर-मामूली घटनाये हिन्दुस्तान में रोजाना हो रही थी और जो उनके भापण के वक्त भी हो रही थी उनका उन्होने इसमे जिक्र तक नही किया। उन्होने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयकर दमन और स्वतत्रता का दलन हो रहा था उसको वह एकदम नजरदाज कर गये। मुमकिन है उन्हे वे सारे खौफनाक वाकयात न मालूम हो जो सीमा-प्रान्त मे हुए थे और वगाल में हुए थे—जिनको राजेन्द्र वावू ने हाल मे कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भापण में 'वग-भूमि पर वलात्कार' कहा है—क्योकि सेन्सर के घने परदे ने सव घटनाओ को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हे भारत-भूमि का दु ख और जवरदस्त मुखालिफ के मुकाविले में हिन्दुस्तान के लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लडाई लड रहे थे, वह भी याद न रही ? क्या उन्हे पुलिस-राज का, जो वडे-वडे हिस्सो मे छाया हुआ था, फौजी कानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सो, भूख-हडतालो और जेल के दूसरे कष्टो का हाल मालूम न था ? क्या वह यह महसूस नही करते थे कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है ?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नही, इसकी चिन्ता नही। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख्तियार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुप जो अद्भुत साहस और वलिदान दिखा रहे थे, उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जव हमारे शासक हिन्दुस्तान के कलेजे पर छुरी चला रहे थे, तव क्या उन्हे वेदना और कष्ट नही मालूम होता था ? हजारो आदमी एक मगरूर साम्राज्य की पाशविक शक्ति के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी

आत्मा को झुकाने के बदले अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने घर-बार का बरबाद हो जाना, और प्यारों का कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्व कुछ नहीं समझते थे? हम जेलों में और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओं में निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज श्री० वेरियर एल्विन हमें बताते हैं कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते हैं कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमाग़ी बन्धनों को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज्यादातर कांग्रेसी स्वयं-सेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ़ की है....... .."

श्री० श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और सहृदय आदमी हैं। उनकी देश में बड़ी इज्जत है, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में कूद जाते, इसलिए नहीं कि किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय-भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज्यादतियों को जाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं।

लेकिन ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषो को पैरो तले रौंद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आजादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाये हो रही है, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होने ठीक ऐसे वक्त में अग्रेजो को सहिष्णुता और आजादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया जबकि हिन्दुस्तान के अग्रेजी शासन में ये दोनो गुण बिलकुल ही नही रह गये थे। उन्होने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उनका हौसला बढाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यकीन है कि उनका यह तात्पर्य नही रहा होगा, या उन्हे यह खयाल नही रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा, इसमे तो शक नही हो सकता। तो, इस तरह उन्हे विचार और कार्य क्यो करना चाहिए था ?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नही मिला है कि लिबरल नेताओ ने अपने-आपको अपने देशवासियो और समस्त आधुनिक विचारो से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढँग की किताबो को वे पढते है, उन्होने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियो पर मरने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलो में गये और हमारे शरीर कोठरियो में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग आजाद फिरते थ और हमारा हौसला दबा नही था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढँग का दिमागी कैदखाना खुद ही बना लिया था, जहा वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नही सकते थे। वे 'मौजूदा हालत के ही ईश्वर की पूजा करते थे, और जब हालत बदल गये, जैसा कि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास, दिमाग और जिस्म दोनो ही बेकार हो गये, न उनके पास

आदर्श रहे न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इन गतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस-पास के तूफानों को देखकर भयभीत हो गये, हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ़ सके, और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये, 'तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड़ गयें', हमेशा सन्देह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।

ओ ईर्ष्यारत दुष्ट[1] मेल का समय कहाँ अब,
लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब।[1]

'सर्वेण्ट आफ इण्डिया' नामक एक लिबरल अखबार ने सविनय भंग-आन्दोलन के बाद के दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहाँ पहुँच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा था कि एकमात्र यही कांग्रेस की नीति है। स्पष्ट ही इसके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियों की सेवा में इंग्लैण्ड डेप्युटेशन भेजना, या इंग्लैण्ड में शासक-दलों के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उनके लिए दुआयें माँगना।

१. शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक की मूल अंग्रेजी की इन पंक्तियों का यह अनुवाद है—

"The time is out of joint O cursed spite!
That ever I was born to set it right"

निरन्तर तर्कग्रस्त, कार्य में असमर्थ हेमलेट की मध्यम-मार्गियों से तुलना की गई है! स्वयं हेमलेट कहता है कि—मुझ जैसे कुकर्मी को सुधारने में इसे कैसे सफलता मिली? —अनु०

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनो कांग्रेस की नीति खासकर यही थी कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी कानूनो को तोडा जाय, और इसकी सजा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र, लम्बी लडाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नही डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नगा बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासको के लिए बडा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दु ख-दाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते है कि अन्त में इससे उनकी नीव कमजोर पड जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके बनिस्बत वह यह बहुत ज्यादा पसन्द करते है कि अपने फौलादी पजे को छिपाने के लिए हाथ पर मख-मली दस्ताना पहने रहे। जो लोग सरकार की इच्छाओ के सामने झुकना नही चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुका-बिला करने से बढकर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नही है। इसलिए दमनकारी कानूनो का कभी-कभी भग होता रहना भी एक महत्त्व रखता था। उससे जनता की ताकत बढती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर 'थोरो' ने लिखा है कि, "ऐसे समय में जब कि स्त्री और पुरुष अन्याय-पूर्वक जेल मे डाले जाते हो, न्यायी स्त्री-पुरुषो का स्थान भी जेल में ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगो को न जंचे, लेकिन हममें से कई लोग ऐसा महसूस करते है कि मौजूदा हालत में, जब कि सविनय भग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते

है, और जबकि सरकार का दमन-यन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी बेइज़्ज़ती कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसीके लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भव नही है। अपने ही देश में हम संदिग्ध की भाँति आते-जाते हैं। हम पर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक क़ानून को तोड़ते तो नहीं हैं, हमारी खतो-किताबत खोली और पढ़ी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमें गिरफ़्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताक़त के आगे हमारे सर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उसकी उपेक्षा करदी जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो, या फिर उनका मुक़ाबिला किया जाय, और उससे जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख़्स यों ही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नही चाहता। मगर, अक्सर, दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज़्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, "जीवन में असली दुःख की बात सिर्फ यही है कि जिन उद्देश्यों को तुम निन्दनीय समझते हो उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ बदकिस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का नरक है।'

: ४६ :

# लम्बी सज़ा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नजदीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की साधारणत जितनी छूट मिला करती है, मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद मे से साढे तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति या सच कहो तो जेल-जीवन से जो मानसिक जडता पैदा हो जाती है उसमें रिहाई का खयाल खलल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए ? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम करदी। लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमडने लगी और मै बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा-करनेवाली खबर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु होगई। हम दोनो कई साल के कार्य-समिति मे सिर्फ गहरे साथी ही नही थे, उनसे मेरा सम्बन्ध मेरे केम्ब्रिज में पढने के शुरू के दिनो से ही था। दोनो सबसे पहले केम्ब्रिज में ही मिले थे—मै तो नया दाखिल हुआ था, और उन्होने उसी समय अपनी डिग्री पाई थी।

सेनगुप्त का देहान्त नज़रबन्दी की हालत मे हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह यूरप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज पर ही वह शाही कैदी बना लिये गये थे। तभी से वह कैदी या नजरबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो गई। सरकार ने उन्हे कई तरह की सहूलियतें दीं, लेकिन वह बीमारी की रफ्तार को न रोक सकीं। कलकत्ता मे उनकी अन्त्येष्ठि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान

प्रकट किया, ऐसा दिखाई देता था कि बंगाल की लम्बे अर्से से दुखी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोडी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही क़ैदी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसो नज़रबन्दी और क़ैद से बर्बाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए यूरप जाने की इजाज़त दे दी। विट्ठलभाई पटेल भी यूरप में रोग-शय्या पर थे। लेकिन और भी कितने ही लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलो की शारीरिक थकावट को बरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे। और कितने लोगो के, हालांकि ऊपर से उनमें बडी तब्दीली दिखाई न देती थी, दिमागो में उस असाधारण जीवन के कारण जो उन्हे जेल में बिताना पड़ा था गहरी मानसिक अव्यवस्था और विषमतायें पैदा हो गई थी।

सेनगुप्त की मृत्यु ने बहुत साफ़तौर पर मुझे दिखा दिया कि सारे देशभर में कितना भयकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा हो गया। यह सब किसलिए हो रहा है? आखिर किसलिए?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं खुशक़िस्मत था, और कांग्रेस की प्रवृत्तियों की मेहनत और अनियमित जीवन के होते हुए भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैंने अपने शरीर को सँभाल रक्खा था। बीमारी और कमज़ोरी और ज्यादा बुढ़ापा भी मुझे बहुत भद्दा मालूम पड़ा, और पर्याप्त कसरत, ताज़ा हवा और साधारण भोजन की मदद से मैं उनसे बच सका। मेरा अपना तजुर्बा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम

वर्गों की बहुत-सी बीमारियाँ तो भारी भोजन से होती हैं। वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिकदार में खाते हैं। (यह बात उन्हीं पर लागू होती है जिनकी ऐसी फजूलखर्च आदतें रखने की हैसियत होती है।) लाड-प्यार करनेवाली मातायें बच्चों को मिठाइयाँ और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीजें ज्यादा खिला-खिलाकर जिन्दगीभर के लिए उनकी बदहजमी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चों पर कपड़े भी बहुत से लाद दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग भी बहुत ज्यादा खाते हैं, हालाँकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते। शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी से, जो गरम-गरम और तेज भोजन अधिक मात्रा में किया करते थे उसमें, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने शौकिया चीजें खाने की या भोजन-सम्बन्धी प्रयोग करने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है, और सिर्फ ज्यादा मिकदार और पक्वान्नों से बचता रहा हूँ। करीब-करीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालाँकि मुझे उसका बहुत शौक कभी नहीं रहा। पर १९२० में असहयोग के वक्त से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छः साल बाद यूरप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा। मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मैं शाकाहारी बन गया, और तब से मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ। मांस-भोजन मुझे अच्छी तरह माफिक पड़ता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और तबीयत उसके खाने से कुछ कचवाती है।

मेरी बीमारियों के दौरान में, खासकर १९३२ में जेल में जबकि कई महीनों तक रोजाना मुझे हरारत होआया करती थी, मैं बड़ा तंग आगया था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति है इस अपनी सदा की धारणा के

विरुद्ध, मैं पहली ही बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूं, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से खासतौर पर डरता नहीं हूं। लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को क़ाबू में लाने में सफल हुआ। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपने को तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटों और दुशालों में लिपटे हुए कांपा करते थे, मैं खुले बदन धूप में बैठकर उसकी गरमी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

मेरी कसरतों में मुझे खासकर शीर्षासन—दोनों हाथों की अंगुलियों को फंसाकर हथेलियों से सिर के पिछले हिस्सों को सहारा देकर कुहनियों को धरती पर टिकाये, बदन को सिर के बल उल्टा खड़ा रखना—बहुत पसन्द आता था। मेरी समझ में शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और मुझ पर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मैं उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ विनोदपूर्ण आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती, और मैं जीवन की विचित्रताओं के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया।

उदासी के आक्रमणों को, जो कि जेल-जीवन में लाज़िमीतौर पर होते ही हैं, दूर करने में मेरी आमतौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्त होने की शारीरिक भावना ने मेरी बड़ी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे

है, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे अच्छा हो जाता था। मेरी राय मे, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नही हुआ और न मुझे कभी नीद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियो से और आँख की कमजोरी से भी बच गया हूँ, हालाँकि मैं पढने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी में भी आँखो से बहुत ज्यादा काम लेता रहा। पिछले साल एक आँखो के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर बडा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पडेगा। उसका कहना बहुत गलत निकला, और मैं अब भी बगैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन बातो से मैं शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगो से बहुत खौफ खाता हूँ जो जब देखो तब हमेशा ही एक-से शान्त और गम्भीर बने रहते हैं और परिवर्तन नही होने देते।

जबकि मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय-भग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गाँधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियो को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानो में सविनय भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गए, उन्हे एक साल की सजा देदी गई और वह यरवदा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गाँधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें

[illegible] था। [illegible] था। [illegible] मालूम हुआ। [illegible] जेलखाने में पड़े हुए हम [illegible]।

उपवास के शुरू होने बाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुँचा दिये गये, लेकिन [illegible] और [illegible] हरिजन-कार्य के लिए सुविधायें देने से [illegible] न हुई। उन्होंने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में कायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होंने लोगों से विदाई लेली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजों को भी इधर-उधर बाँट देने का इन्तजाम कर दिया, जिनमें से कुछ नर्सों के लिए रहीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः सी० एफ़० एण्ड्रयूज को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आ गये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मैं देहरादून-जेल बदल दिया गया, और दूसरी जेलों में करीब-करीब डेढ़ साल रहने के बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को

में नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी माँ की हालत गम्भी समझी गई। मामूलीतौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज्याद से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्ती सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

: ५० :

## गांधीजी से मुलाकात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी माँ की रोगशैया के पास लखन पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफी लम्बे अर्से के ब जेल से वाहर निकला था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात विलकुल अपरिचित और अलग-सा होगया हूँ। मैंने यह अनुभव कि और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर होता है, कि जव मैं जेल में पडा-पडा सड रहा था, तो दुनिया अ चली जा रही थी और वदलती जा रही थी। वच्चे और लडकियाँ अ लडके वडे होते जा रहे थे, शादियाँ, पैदाइशे और मौते हो रही थी प्रेम और घृणा, काम और खेल, दु ख और सुख सव हो रहे थे। जीवन दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई वाते हो गई थी, वातचीत के विा नये हो गये थे, मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सव पर मुझे कुछ-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाडी में छोडकर जिन्द का जहाज आगे वढ गया था। यह भावना सव तरह सुखदायिनी न थी। जल्दी ही इस स्थिति के माफिक मैं अपने को वना सकता थ लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नही होती थी। मेरे दिल ने कहा 'जेल के वाहर सैर करने का तुम्हे यह थोडा-सा मौका मिला है और जल ही फिर तुम्हे जेल मे जाना पडेगा', इसलिए जिस जगह से जल्दी ही न

देता है, उसके अनुकूल अपने को बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय ?

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों पर ज़्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ़्तारियाँ कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की ख़ामोशी बहुत महत्त्व रखती थी। वह वैसी अशुभ ख़ामोशी थी जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; जो ख़ामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त होगई थी। ज़ाहिरातौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के माफ़िक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर में खुफ़िया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फ़ौज फैली हुई थी। लोगों में आम-तौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, ख़ासकर देहाती हल्कों में हो तो फ़ौरन कुचल दी जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूँढ-ढूँढकर कांग्रेसवालों को निकालने की कोशिश कर रही थीं। हर शख़्स जो सविनय क़ानून भंग करके जेल गया था, सरकार की राय में म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटियों आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गईं कि अगर कांग्रेस वाले निकाले न जायँगे तो सरकारी मदद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सब से बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन में हुई। आख़िरकार, मेरा ख़याल है, सरकार ने एक क़ानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियों को मुलाज़िम नहीं रख सकता जो राजनैतिक अपराधों में सज़ा पा चुके हों।

जर्मनी में नाज़ियो की ज्यादतियो की खबरो का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफसरो और उनके अखबारो पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन्हे उन ज्यादतियो से हिन्दुस्तान मे उन्होने जो कुछ किया था, उस सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमें बताया, कि अगर यहाँ नाज़ियो की हुकूमत होती तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता। नाज़ियो ने तो बिलकुल नये पैमाने कायम कर दिये है, उन्होने नई व्यवस्था ही लिख डाली है और उनका मुकाबिला करना निश्चय ही आसान नही था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराब हुआ होता, लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योकि पिछले पाँच वर्षों मे हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाकयात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज़ को नामजूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जाँचो का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष की तरफ झुका रहता है। मेरे खयाल से, यही सच है कि औसत अंग्रेज़ बे-रहमी से नफरत करता है और मै ऐसे अंग्रेज़ो की कल्पना नही कर सकता, जो नाज़ियो की तरह से "ब्रूतैल्तितात" (पशुता या बेरहमी) लफ्ज़ को खुलेतौर पर कहने और उसे प्रेम से दोहराने मे शान मानते हो। जब वे ऐसा काम कर भी डालते है, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते है। लेकिन चाहे हम जर्मन हो या अंग्रेज़ हो या हिन्दुस्तानी हो, मेरा खयाल है कि सभ्यतापूर्ण व्यवहार का हमारा खोल इतना पतला है कि जब हमे रोष चढ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नही लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयंकर रूप से पाशविक

बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर घेरा डाला जाकर उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुल्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाक़यात हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ ख़तरे में पड़ जाते हैं, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और सारी शराफ़त को भूल जाते हैं और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'क़ानून और व्यवस्था' का साधन बन जाती है।

यह किन्हीं व्यक्तियों या किसी खास जाति का दोष नहीं है। वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क में, हुकूमत करनेवाली शक्ति के खिलाफ़ हमेशा एक सुप्त चुनौती खड़ी रहती है और समय-समय पर वह ज्यादा प्रकट और तेज भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फ़ौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते हैं। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में हमें इन फ़ौजी गुण-दोषों का दृश्य बहुत ही ज्यादा अंश में देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती ज़ोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान में हमें तो हमेशा ही फ़ौजी मनोवृत्ति ( या उसके अभाव ) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनों पक्षों का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है, संकट-काल में वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदक़िस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल में मुझे ऊँचे-ऊँचे अफ़सरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलों

मे उनके जवाब और सरकारी बयानात पढने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालो मे, मैंने देखा कि उनमे एक स्पष्ट तब्दीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गई है। उनमें डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट-मेजर अपने मातहतो से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ में, शायद बगाल के मिदनापुर डिवीजन के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणो में "पराजितो का सत्यानाश हो! हम विजयी है, हम जो चाहें वह करेगे" की भावना लगातार रहती थी। गैर-सरकारी यूरोपियन तो, खासकर बगाल में, सरकारी लोगो से भी आगे बढ जाते है और उनके भाषणो और कार्यो दोनो में उन्होने बहुत निश्चित फेसिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नगी मिसाल थी, हाल में ही सिन्ध में कुछ अपराधी पाये गये व्यक्तियो को खुली फाँसी देना। क्योकि सिन्ध में जुर्म बढ रहे थे, इसलिए अधिकारियो ने तय किया कि इन मुजरिमो को सबके सामने फांसी दी जाय,ताकि दूसरो पर भी इसका आतक छा जाय। इस भयकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सहूलियत दी गई और कहा जाता है कि कई हजार लोग गये भी थे।

तो जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियो का अध्ययन किया और मुझे उन्हे देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल में आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अखबारो का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्रव्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफी अहमद किदवई को अपने पत्रो पर

वाहियात हस्तक्षेप होने के कारण बड़ा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे या देर से आते थे या गुम ही हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रों के बारे में ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर से करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको ? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफ़सर था, जो अपना काम गुप्तरूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंजूर भी नहीं किया गया था। रफ़ीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होंने सेन्सर के नाम एक खत लिखा, लेकिन उस पर खुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही खत अपने ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद में रफ़ीअहमद के पत्र-व्यवहार के बारे में कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर वापस जेल जाना नहीं चाहता था। उससे मेरा पेट काफ़ी भर गया था, लेकिन मुझे नहीं सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड़ दूँ। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष में आना ही पड़ेगा। किसी वक्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई खास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ़ बग़ावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं व्यक्तिगत रूप से डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मैं कुछ मामले निबटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी माँ की बीमारी की तरफ़ ध्यान देना

था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह चारपाई पर ही रही। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना में पड़े अपने हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा हुए मैं उनसे नहीं मिला था। मैं जितने अधिक मिल सके, उतने अधिक अपने प्रान्तीय साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि संसार की परिस्थिति पर और उन सब विचारों पर भी बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग में भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बड़ी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलों की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ कतई ध्यान नहीं दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके कागजात की देख-भाल भी नहीं की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, फिर भी वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। लेकिन हम जब तक उस मकान में रहते, तब तक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे, क्योंकि उसका खर्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब यह भी था कि सरकार उसे कभी भी जब्त कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच में, मेरे पास आर्थिक सहायता माँगने वाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिंच जाता था। (सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था।) एक बड़ा आम और गलत खयाल, खासकर दक्षिण भारत में, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा दौलतमन्द आदमी हूँ।

मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मैं चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय—इनसे

पहले कि मुझे जेल जाना पड़े। कमला खुद भी एक साल तक जेल काट-कर छूट चुकी थीं। मुझसे पहले छूटी थीं।

जैसे ही माँ की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालाँकि वह कमज़ोर थे लेकिन, वह अच्छी प्रगति कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुईं। यह साफ़ ज़ाहिर था कि जीवन, राज-नीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफ़ी फ़र्क़ था, लेकिन मैं उनका कृतज्ञ हूँ कि उनसे जहाँ तक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नज़दीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग़ में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालाँकि उनका ज़िक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद तो साफ़ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को अस्थापित कर देना चाहिए, हालाँकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। चूँकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्तन के तरीक़े भी नम्रता और विचार-पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक़्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओं के तार्किक परिणामों को देखकर, धीरे-धीरे करके, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेंगे। वह एक अजीब चीज़ हैं—श्री० बेरियर एल्विन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी' हैं—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और उनकी नब्ज़ का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के किसानों के साथ है।

सकट-काल में वह किस दिशा में मुड जायेंगे, यह कहना मुश्किल था, लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावे, लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर जरूरत हो, तो अलग-अलग रास्तो से भी जाना पडे।

उस वक्त मेरा खयाल था कि अभी तो यह सवाल नही उठता। हम अपनी राष्ट्रीय लडाई के मध्य में थे, और अभीतक सविनय भग ही सिद्धान्तत काँग्रेस का कार्यक्रम था, हालाँकि व्यक्तियो तक ही उसकी सीमा बाँध दी गई थी। हमारी लडाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगो में और खासकर राजनैतिक दृष्टि से अधिक जाग्रत काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओ में फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफी आगे कदम बढाने को तैयार मिले। इस बीच काँग्रेस तो गैर-कानूनी सगठन थी और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गाधीजी के सामने जो खास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हें खुद क्या करना चाहिए ? वह बडी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतो का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा ? ऐसी चूहे बिल्ली वाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा कि 'अगर मुझे उन सहूलियतो के लिए उपवास करना पडा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।' इसका अर्थ था आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद

तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाक़ी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवायें और सिर्फ़ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दें, लेकिन साथ ही, उनका कांग्रेस-कार्यकर्ताओं से मिलते रहना, और जब ज़रूरत हो तब उन्हें सलाह भी देना ज़रूरी ही था।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुनाया कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायें और उसे ( उनके ही शब्दों में ) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा-प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफ़ारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक ग़ैरक़ानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फ़ौरन वापस ले ली जाती और फिर क़ानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता, या कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी होकर और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, अकेली छोड़ी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल के क़ब्ज़े में आने का सवाल ही नहीं पैदा होता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममें से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय भंग को एक भारी आघात पहुँचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में से हट जायगा, तो यह संभव नहीं था कि बहुत उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग में कूद पड़ें; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालांकि हमारे

कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भग को वापस लेने का अभी वक्त नही आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मै लोगो का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तो और ससार की परिस्थिति की ओर भी खीचना चाहता था।

लौटते हुए मैने कुछ दिन बम्बई मे विताये। मेरी खुशकिस्मती से उदयशकर उन दिनो वही थे। मैने उनका नृत्य देखा। मैने इस मनोरजन से, जिसका पहले से कोई खयाल नही था, वडा आनन्द उठाया। नाटक, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्रॉडकास्टिग—यह सब पिछले कई वर्षो से मै देख ही न सका था, क्योकि स्वतत्र रहने के वक्त भी मै दूसरी प्रवृत्तियो में वहुत ज्यादा लगा रहता था। अभीतक मै सिर्फ एक वार ही टॉकी देख पाया हूँ, और वडे-वडे अभिनेताओ के मै सिर्फ नाम ही सुनता हूँ। मुझे नाटक देखने का अभाव खासतौर पर अखरता है और विदेशो में नये-नये खेलो के तैयार होने का वर्णन मै वडे रश्क से पढता रहता हूँ। उत्तर हिन्दुस्तान मे, जेल से वाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौका न था, क्योकि मै मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था। मेरा खयाल है कि वगाली, गुजराती और मराठी नाटक साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रग-मच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नही मालूम, कुछ भी प्रगति नही की। मैने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्म, मूक और सवाक्, दोनो मे कला का प्राय अभाव ही रहता है। उनमें आमतौर पर सुरीले गानो या गजलो की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणो मे से लिया हुआ होता है।

मेरे खयाल से, इनमें वह सब चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग कद्र करते है। इन भद्दे और दु खदायी प्रदर्शनो में और साधारण

जनता के अब भी बचे-खुचे संगीत, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ़ दिखाई देता है। बंगाल मे, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बडा आश्चर्य और आनंद होता है, कि मूलत, लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय है। लेकिन मध्यम-वर्गीयो का हाल ऐसा नही है। उनको तो मानो जडो का ही पता नहीं है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नही रही है, जिसे वे पकडे रहे। वे जर्मनी और आस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और वीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते है, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते है। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। ( मुझे आशा है कि स्वराज सरकार के प्रारम्भिक कामो मे एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे। ) लेकिन दर्दनाक भद्देपन और कला के सब सिद्धान्तो के भंग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों के घरों मे दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और दिखावा करने की ख्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी है, और जो लोग उनके यहाँ जाते है, उन्हे उनकी इस अभिलाषा की पूर्त्ति का दुःखी गवाह बनना पडता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों जगह-जगह पर रुकावटें और बन्धन डाले जाते है और उन्हें दबाया जाता है और वे आतंक के वातावरण में रहते है, तब कोई भी कला किसी बडे पैमाने पर कैसे फलफूल सकती है?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियो से मिला, जिनमे से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कांग्रेस के प्रथम श्रेणी के लोगों में जो हाल में घटनायें हुई थीं उन

पर बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति मे जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना होती थी। अधिकांश आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति मे और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय भंग को वापिस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमे भी हमे कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत में पहुंच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ता वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पड़ती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आगया था कि जब उसका हमेशा ही गैर-कानूनी करार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन के रूप मे, चाहे सविनय भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, वह पीछे नही हट सकता था। असल में, सविनय भंग के जारी रहने से कोई फर्क नही पड़ता था, लेकिन असली महत्व था नैतिक विरोध का। लड़ाई के बीच नये विचारो का फैलना उस वक्त की बनिस्वत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गई हो और लोगो का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लड़ाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि ब्रिटिश ताकत के साथ समझौते की मनोवृत्ति रक्खी जाय और कौंसिलो मे जाकर वैध कार्य किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूंढना आसान न था। अपने साथियो के मानसिक संघर्षो को मैं समझ सकता था, क्योंकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पड़ा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहां मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊंचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी न करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ़ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करे,

वे उन दूसरे लोगों को, जिन्होंने लड़ाई के मैदान की धूल और धूप में सारा भार उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करें। ये आराम कुर्सीवाले समाजवादी लोग गांधीजी पर खासतौर पर जोर का वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियों के सिरताज बताते हैं और ऐसी-ऐसी दलीलें देते हैं, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है, लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान हिन्दुस्तान का क़रीब-क़रीब मूर्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस तरह हिन्दुस्तान को हिला दिया है जैसा क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया है। उनके सबसे ताजे हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता को कम कर दिया है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके खिलाफ़ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें सबसे खतरनाक दुश्मन समझते हैं, हालाँकि वह उनके साथ सोलहों आना शिष्टता और सौजन्य ही का व्यवहार करते हैं। अपने खास ढंग से जबरदस्त ताक़तों को जागृत करके छोड़ देने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरों की तरह चारों ओर फैल जाती हैं और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती हैं। चाहे वह प्रतिगामी हों या क्रान्तिकारी, उन्होंने हिन्दुस्तान का स्वरूप बदल दिया है। उस जनता में, जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों में शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को संसार की समस्या बना दिया है। इस बात को दूर रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हैं, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और संसार के लिए उनकी एक अद्वितीय और शक्तिशाली देन है और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खासतौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल मे यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करे और अपनी समस्याओ पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके हो। दुर्भाग्य से गाधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्ही पर छोड देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत यह गलत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यो और साधनो को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही बढ सकता है और जब उन्हींके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बडा क्यो न हो, आलोचना से परे नही होना चाहिए, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का आश्रयरूप बन जाती है, तो उसमे कुछ-न-कुछ बिगाड समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामो के स्वप्नो के ऊपर वर्तमान के कठिन कामो को करना छोड देता है, वह समय-साधु बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका तात्पर्य है असली जीवन मे इस समय होनेवाली घटनाओ पर अपना आधार रखने मे विफल होना, और स्वप्नो के नाम पर उनसे अलग पड जाना।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते है, जो औद्योगिक मजदूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलको मे, जैसे बम्बई में या कलकत्ते के पास, कारखानो के मजदूर बडी तादाद में है, लेकिन हिन्दुस्तान का बाकी हिस्सा तो किसानो का ही है और कारखानो के मजदूरो के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नही मिल सकता। यहाँ तो

राष्ट्रीयता और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और यूरप के समाजवाद का इनसे शायद ही कुछ सम्बन्ध हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और ग़ैर-मामूली घटनायें हो गईं और वैसी ही घटनायें फिर दूसरी जगह हों यह उम्मीद करना बेवक़ूफ़ी होगी। लेकिन इतना मैं ज़रूर जानता हूँ कि कम्यूनिज़्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है, लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह ज़बरदस्ती और बेइन्साफ़ी होगी कि उसे वस्तुस्थिति और परिस्थिति का मुनासिब ख़याल न रखते हुए आँख मूँदकर हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ी जटिल समस्या है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी निराश-सा हो जाता है। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं को एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुँचें, लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊँचे-ऊँचे उसूलों के पर्दे में छिपाता है, ज़रूर सन्देह का पात्र बन सकता है। जो शख़्स सरकार को इक़रारनामे और वादे लिखकर या और किसी सन्देहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुक़सान पहुँचाने की सम्भावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह लोग रहते हैं। वहाँ सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की निपुणता दिखाई। मज़दूर नेता की हैसियत से वह समाजवादी थे;

राजनीति मे वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे, हिन्दू-सभा भी उन्हे बहुत चाहती थी। उन्होने वादा किया कि मे पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजो की रक्षा करूँगा और उनमे कौसिल को दखल देने न दूँगा, मगर चुनाव के वक्त मे वह सनातनियो की तरफ से उम्मीदवार हुए, जो कि प्राचीन रहस्यो के महान् पुजारी होते है। इस वदली हुई और भिन्न प्रवृति से भी जब वह न थके, तो उन्होने अपनी शेप शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गाधीजी को प्रतिगामी बताने में लगाई। कुछ और लोगो के सहयोग से उन्होने कांग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी खडी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो काग्रेस से इतना ही सम्वन्ध रखती थी कि उस महान् सस्था पर हमला करे। और भी नये-नये क्षेत्रो में कब्जा करने की दृष्टि से, वह मजदूरो के प्रतिनिधि वनकर जेनेवा मजदूर-कान्फ्रेन्स में भी शरीक हुए। कोई तो यह भी खयाल करते है कि शायद वह इगलैण्ड के ढग पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे है।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो और प्रवृत्तियो का लाभ बहुत ही थोडे लोगो को मिलता होगा, लेकिन फिर भी कांग्रेस के समालोचको में ऐसे कई लोग थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का अनुभव किया था, और जो कई जगहो में अपनी टाँग अडाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा वदनाम होता था।

: ५१ :

# लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवालात करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक़्त वहाँ श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो कि शायद बाक़ी के सदस्यों में सबसे ज़्यादा क़ाबिल हैं, लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। इनमें से कुछ लोग, जो उस वक़्त वहाँ उपस्थित थे, बड़े सब्र से सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिल्कुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज़्यादातर गांधीजी की वाइसराय से मुलाक़ात की पुरानी दरख़्वास्त और वाइसराय के इन्कार के बारे में थे। क्या ऐसे समय में जब कि ख़ुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी क़रारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ों संस्थायें ग़ैरक़ानूनी क़रार दी जा रही थीं, अनेक समस्याओं से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाज़ुक वक़्त से गुज़र रहे थे और औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनायें घट रही थीं, विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें मौजूद थीं। लेकिन सवालात सिर्फ़ महत्वशून्य घटनाओं के बारे में या इस बारे में पूछे गये कि

अगर गाँधीजी वाइसराय से फिर मिलना चाहे तो वाइसराय और भारत-सरकार पर क्या असर पडेगा ?

मुझे बडे जोरो से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धार्मिक मठ में आ घुसा हूँ, जिसके रहने वालो का अर्से से बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा है। फिर भी हमारे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, जिनके साथ सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी का लम्बी कारगुजारी थी। उन्हीसे और कुछ और लोगो से मिलकर लिबरल-पार्टी की मूल ताकत बनी हुई थी। बाकी की पार्टी तो वे सिर-पैर की थी जिसमें ऐसे-ऐसे अस्पष्ट और शिथिल विचारो वाले आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोडने का मजा लेना चाहते थे। इनमे से कुछ लोग तो-खासकर बम्बई और मद्रास में— ऐसे थे, जिनमे और सरकारी अधिकारियो मे फर्क ही नही 'नजर' आता था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नही पूछा। जिस हद तक हम कौंसिलो की सीटो के बँटवारे पर अपना वक्त और ताकत व अपना मिजाज बिगाडा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते हैं और उसपर फजूल का वाद विवाद इतना करते हैं कि उससे जरूरी सवालात ही छूट जाते हैं, उसी हद तक हमारी पिछडी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गाँधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवालात पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई

व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानखानों या दरबारों की-सी चीज दिखाई देती थी। मानों, उनको यही जानने की इच्छा रहा करती कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्कों में और खासकर इंग्लैण्ड में, इस शब्द से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त अनियन्त्रित, व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इंग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आजादी की और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतंत्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नहीं, क्योंकि वे क़रीब-क़रीब सभी संरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्व नहीं समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों के साथ, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्यतः से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन ढंग के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ़ ऊटपटांग लिबरल हैं। वे ठीक-ठीक क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ़ आधार नहीं है, और हालाँकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार जुदा-जुदा हैं। वे नकारात्मक रूप में ही [illegible] दिखाते हैं। हर जगह उन्हें गलती-ही गलती दिखाई देती है। उसे टालने की वे कोशिश करते रहते हैं और आशा यह करते हैं कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ़ दो पराकाष्ठाओं के बीच ही हुआ करती है। हर

ऐसी चीज की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते है कि वे गुणवान मध्यम-मार्गी और नेक आदमी है। इस तरीके से वे विचारो के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचारो को पेश करने की आफत से बच जाते है। उनमे से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूंजीवाद यूरप में पूरी तरह कामयाब नही हुआ है और सकट में पडा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो जाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योकि उससे स्थापित स्वार्थो पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा, इस बीच, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी ही चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि पृथ्वी चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनो ही पराकाष्ठाओ के विचारो की निन्दा करेगें और थोडी देर को यही सुझायेगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और बेवजनी मामलो पर भी वे बहुत भडक जाते है और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान में वे मौलिक सवालो को हाथ नही लगाते, क्योकि ऐसे सवालो के लिए तो मौलिक उपायो की ओर विचार और कार्यक्रम के साहस की जरूरत होती है। इसलिए लिबरलो की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता। इस पार्टी की बडी विशेषता और खास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात मे नरम रहना यही इनके जीवन का दृष्किकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"माडरेट होने में ही हम फूले नही समाते है,
नरम गरम हमको कहते, औं गरम नरम बतलाते है!"[1]

1. एलेक्जेण्डर पोप के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशंसनीय क्यों न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नहीं है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदकिस्मती से एक 'तेजोहीन-दल' बन गये हैं—वे चेहरे से मंद-तेज और संजीदा, लेखों और बातचीत में उत्साहहीन होते हैं और विनोद-प्रियता से खाली रहते हैं। निश्चय ही इसमें कुछ अपवाद भी हैं और एक सबसे बड़े अपवाद हैं सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोद-रहित नहीं है, बल्कि जो अपने विरुद्ध किये गये मज़ाक में भी रस लेते हैं। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमें ऐसा ठोसपन है, जिसका दूसरा नाम सुस्ती या मंदी है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने जो, कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए, उसकी राय थी कि मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े ही नाजुक और साफ ढंग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झंडे का गठ-बन्धन कर लिया।

नरम रहना, रूढ़ि-प्रियता और खतरों तथा अचानक परिवर्तनों से बचने की इच्छा बुढ़ापे के अनिवार्य साथी हैं। ये बातें नौजवानों को बिलकुल नहीं सोहतीं। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढ़ा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी कमजोर और थके हुए पैदा होते मालूम होते हैं और उनमें तेजो-हीनता और बुढ़ापे के चिन्ह होते हैं। लेकिन जो तबदीली हो रही है, उसकी ताकतों से ऐसा बूढ़ा देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये हैं। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्ता

पूर्ण ग्गम करने की मीठी सलाह दें, उससे कोई फर्क नही पडता। तूफान या बाढ या भूकम्प को समझाकर कही रोका जा सकता है ? उनकी पुरानी धारणायें टिकती नही हैं, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमें हिम्मत नहीं। यूरोपियन परम्परा के बारे में डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा में पटी है कि हर पीढी बहुत-कुछ उन्ही परिस्थितियो में जीवन बिता-येगी, जिन्होंने उसके पुरखो के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायेंगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण में रह रहे हैं, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल गलत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण मे थोडी नरमी दिखलाने की गलती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही गलत रही है। अगर यूरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी ? लेकिन इतिहास को घडने वाले, जब परिवर्तन का युग आ जाता है तब, इन परम्पराओ की तरफ ज़रा भी ध्यान नही देते। हम लाचारी से देखते रह जाते हैं और अपनी योजनाओ की असफलताओ का दोष दूसरो के मत्थे मढ देते हैं। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते हे, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही खयाल है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नही बल्कि किसी दूसरे के जानबूझ-कर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयकर वहम के शिकार हम सभी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि गाधीजी भी इससे बरी नही हैं। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं, जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते हैं और तजुर्बे और गलतियो के जरिये भी हम इस वहम की

ताकत को कम कर देते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते हैं, लेकिन लिबरल सबसे ज्यादा दुःख उठाते हैं। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई ग़लत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नहीं बढ़ाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने से दूर ही रहते हैं, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियों में मोहित और समाविस्त-से बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलों को आगाह किया था कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और घटनाओं को योंही गुज़रने न देना चाहिए। उस आगाही में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कहीं ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियाँ बना रही थीं, लेकिन लिबरलों की बदक़िस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासकों से अलहदा होने के बजाय उन्होंने उन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क में अजनबी से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गई। जब लिबरलों के देशवासी ज़िन्दगी और आज़ादी के लिए जमकर लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, तब इसमें कोई शक नहीं रहा था कि लिबरल मोर्चेबन्दी के किस तरफ खड़े हैं। मोर्चेबन्दी की दूसरी तरफ से वे हमें नेक सलाह दे रहे थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे, और उस चिकने रोगन को बहुत-सा हमारे ऊपर चढ़ाते जाते थे। गोलमेज़-कान्फ्रेंसों और कमि-

महत्वपूर्ण नैतिक लाभ की चीज़ थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बडा फर्क पड जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ्रेन्स मे ब्रिटिश मज़दूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल साहबान तो उसमे भी अलग नहीं रहे और कुछ अग्रेज सज्जनो ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यो तो हमारे जुदे-जुदे मकसदो के लिहाज़ से हम सब नरम या गरम है। फर्क सिर्फ मात्रा का है। जिस बात के बारे मे हमें अधिक चिन्ता हो उसके विषय मे हमारी भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते है, नही तो हम दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते है, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता अख्तियार कर लेते है, जोकि, असल में कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम माडरेटो को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उडा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानो और समृद्ध लोगो का प्रतिनिधित्व करते है। स्वराज्य के लिए उन्हे बहुत दिनो तक इन्तज़ार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हे व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की ज़रूरत नही। लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय में माडरेट ही रह जाते है और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार में उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नही सकते। 'ब्ल्यू बुक' (सरकारी रिपोर्ट) उनके गभीर अध्ययन की वस्तु होती

है। इर्नेकिन ने की 'पार्लमेण्टरी प्रैक्टिस' और ऐसी ही किताबें उनकी जीवन-संगिनी होती है। नई सरकारी रिपोर्टें उनके तेज और नाकिबानी का विषय बनती है। इंग्लैण्ड मे लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियो के कारनामो के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते है, क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलो, प्रतिसहयोगियो और ऐसे ही दूसरे दलो की दृष्टि में वैकुण्ठ है। पुराने जमाने में यह कहा जाता था कि जब कोई 'भद्र अमेरिकन' मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलो की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है।

यहाँ लिखा तो मैंने लिबरलो के बारे में है, लेकिन यही बात बहुतेरे कांग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियो पर तो और भी ज्यादा लागू होती है, क्योंकि नरमी में तो उन्होंने लिबरलो को भी मात कर दिया है। औसत दर्जे के लिबरल और औसत दर्जे के कांग्रेसी में बड़ा फ़र्क है। मगर इस सम्बन्ध में विभाजक रेखा न तो साफ ही है न निश्चित ही। जहाँतक विचार-धारा से सम्बन्ध है, आगे बढे हुए लिबरल और नरम कांग्रेसी में कोई ज्यादा फ़र्क मालूम नही होता। मगर भला हो गाधीजी का, जो हरेक कांग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगो के साथ थोडा-बहुत संपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुँधली और अधूरी विचारधारा के परिणामो से बच गया है। मगर लिबरलो की बात ऐसी नही है। उन्होंने पुराने और नये दोनो ही विचार के लोगो से अपना नाता तोड़ लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगो के प्रतिनिधि है, जो मिटते जा रहे है।

मैं खयाल करता हूँ कि हममें से बहुतो की वह पुरानी अधश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अतर्दृष्टि प्राप्त नही हुई है। न तो हमें

समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस¹ के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रायटन² की पुष्पमाला-विभूषित शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं। हममें से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो—

"पिंड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन में स्वर्ग-शोभा देखते,
अंजली में बाँधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को।"[3]

दुर्भाग्य से, हममें से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर हैं। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानों के पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नहीं पाते। उसके स्पर्श के मधुर कंपन का सुख नहीं उठाते। वे दिन अब चले गये, लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानवजाति के गौरव और करुणता में, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफानों में, उसकी पीड़ाओं और विफलताओं में, उसके संघर्षों और विपत्तियों में, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति में हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। और जो कष्ट और क्लेश इस खोज में हमें उठाने पड़े हैं, उसका बदला हमें इसी प्रयत्न में मिल गया है। इस खोज ने समय-समय पर हमें जीवन की तुच्छता से

१. प्रोटियस—प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपना मनचाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. ट्रायटन—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियंत्रण रखना था।

३. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतो ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया है और पुराने तरीको से अपने को बिलकुल अलहदा रखकर वर्तमान में अपना मार्ग खो दिया है। न तो उनकी भावनायें ही ऊँची है, न कुछ वे करते ही है। वे फ्रास की महान् राज्यक्राति या रूसी राज्यक्राति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नही समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओ के जटिल तेज और निठुर विस्फोटो या उभाडो से वे भयभीत हो जाते है। उनके लिए बेस्तील ( फ्राम ) का किला अभी सर नहीं हुआ है।

बडे रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कांग्रेसवालो ने ही नही ले रक्खा है।' यही शब्द बार-बार दोहराये जाते है, जिनमें कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। यह देखकर कुछ दुःख होता है। मैं समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मैं नही समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है और मैं बडी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फायदा उठानेवालो और सुखी और निश्चित जीवन चाहनेवालो के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियो, स्वार्थों और वर्गों के अनुकूल उसके कई रूप है। अगर आज 'जूडस'[1] जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नही, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नही है, अब तो हमें कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज चाहिए।

और नरमी स्वत ऐसी कोई चीज नही है, जो काफी समझी जाय। हॉ, सयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी सस्कृति का एक पैमाना

१. ईसा के मुख्य बारह शिष्यों में एक था जिसने दगा करके ईसा को यहूदियों के हाथ पकड़ा दिया था। अनु०

है, मगर कोई चीज भी तो हो, जिसका हम सयम और निग्रह करे। मनुष्य सदा से पचतत्वो पर शासन करता आरहा है, बिजली पर सवारी गाँठता आरहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पडते हुए पानी को अपने काम मे लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है, लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खाये डालनेवाले विकारो का निग्रह करना या उन्हे सयम में रखना। जबतक वह इन्हे अपने काबू मे नही कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पासकता। पर क्या हम उन पैरो को रोक रक्खें, जो हिलते ही नही है या उन हाथो को, जिन्हे लकवा मार गया है ?

इस प्रसग पर मै रॉय केम्पबेल की चार पक्तियाँ देने का लोभ सवरण नही कर सकता, जो उन्होने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यास-कार के सम्बन्ध में लिखी थी

"लोक आपके दृढ सयम का गाता है यश-गान,
मै भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान !
खूब जानते आप खीचना और मोडना बाग,
पर कमबख्त कहाँ वह घोडा, है इसका कुछ ध्यान ?"[1]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते है कि वे सकडे स्वर्ण मध्यम मार्ग पर चलते है और एक तरफ कॉंग्रेस और दूसरी तरफ सरकार दोनो की पराकाष्ठायें बचाकर अपना रास्ता निकालते है। वे दोनो की कमियाँ बताने वाले मुसिफ बनते है और इस बात के लिए अपने मुँह मियाँ बनते है कि वे इन दोनो की बुराइयों से बरी है। मेरी समझ में वे तराजू धारण करके आँखो पर पट्टी बाँधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते है। कही यह मेरी खब्त ही तो नही है जो, आज मेरे कानो मे

१. केम्पबेल के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[1] और फेरिसियो[2] ........ओ अंधे पथ-प्रदर्शको! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो!'[3]

## : ५२ :

# औपनिवेशिक स्वराज्य और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों चाहे कांग्रेसी, आये सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाक़ाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो क़िस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहने लायक अन्तर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख़्तलिफ़ दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ़ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ़। विचार-धारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फ़र्क़ नहीं था।

१. स्क्राइब्स—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

२ फेरिसियो—प्राचीन यहूदियों के एक दलवालों का नाम, जो प्रचलित रस्म-रिवाजों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसीलिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

३. बाइबिल का प्रसिद्ध वाक्य।

लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब बाज़ारू, साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहजा करारा और हमलावर होगया। कारगर ढग से काम करने की ताकत तो थी नही, सो कड़ी ज़बान में उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर डर के मारे माडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने में ही उन्होंने अपने को सुरक्षित समझा। फिर भी ऊपरी मध्यम-वर्गियो का उसमें ज़ोर था, हालाँकि, तादाद में निम्न मध्यमवर्गियो की प्रधानता थी। वे अपने राष्ट्रीय सग्राम मे महज़ कामयाबी की ख्वाहिश से ही नही आये थे, बल्कि इसलिए कि उस सग्राम में ही उन्हे सच्चा सतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यो तो एक राष्ट्र-वादी के मन मे सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालाँकि सभी के मन में उठती है, तो भी यही से नरम और गरम दोनो की स्वभावगत भिन्नता सामने आगई। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियो की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानो ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यो-ज्यो कांग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यो-त्यो उसके और लिबरलो के बीच की खाई और-और चौडी होती गई यहाँ तक कि लिबरलो के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को सम-झना या उसकी कदर करना नामुमकिन हो गया। उच्चवर्ग के दीवान-खाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोपडे को समझना आसान नही है। फिर भी, इन मतभेदो के रहते हुए भी, दोनो की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार

का नहीं। कांग्रेस में अखीर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम-दल में बड़े मजे से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सों पर अपना कब्जा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वहाँ नौकरों के कई दर्जे बंधे हुए हैं—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार, वगैरा-वगैरा—और उनमें छोटे-बड़े का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सों में एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगा दी है जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नहीं सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है। मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग़ बना लिया। कभी-कभी हमारी बड़ी इज्जत कर दी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारी महत्त्वकांक्षाओं की उच्चता होती है सम्मानित बनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिये जाने तक। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब ज़माना बदल गया और अब न इंग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान में मेहनौकर वाली यह आदर्श सभ्यता राजी-खुशी से मानी जाती है।

मगर फिर भी हममे ऐसे लोग है जो उन्ही नौकरो की कोठरियो मे पडे रहने की ख्वाहिश रखते है और अपनी सुनहरी चपरासो, पट्टो, वर्दियो और बिल्लो पर नाज़ करते है। दूसरे कुछ लोग लिबरलो की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यो-का-त्यो कायम रहने देना चाहते है, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते है, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक है कि धीरे-धीरे उसके मालिको की जगह खुद उन्हे मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते है। उनके लिए शासको का रग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नही सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब बाते ज्यो-की-त्यो चलती रहे, सिर्फ उसका काला रग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते है, जिसमें वे या उनके जैसे लोग सूत्र-सचालक रहे और अग्रज हाकिमो की जगह ले ले—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभायें, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह सुरक्षित रहे, कभी-कभी झर्क-वर्क पोशाक और जवाहरात से सजधज कर रिआया पर रौब गाँठते हुए दर्शन दिया करे, ज़मींदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहे और दूसरी तरफ काश्तकारो को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मीदार और काश्तकार दोनो को तग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहे और ईश्वर स्वर्गपुरी मे विराजता रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तब्दीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते है; और वे इन परिवर्तनो को ब्रिटिशो की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी

राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढ़ता पर है। वे देखते हैं कि इस सम्राज्य की नींव हिल नहीं सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उनके मुआफ़िक अपने को बनाते हैं और न केवल उनकी राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा को ही ग्रहण करते हैं, बल्कि बहुत हद तक उनके उन नैतिक आदर्शों को भी अपनाते हैं, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये हैं।

लेकिन कांग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है, क्योंकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसकी स्पष्ट धारणा एक औसत कांग्रेसी के दिमाग़ में आज नहीं है और इनके बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। मगर कांग्रेस में शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते हैं, कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर, कि मौजूदा अवस्था और तरीक़े क़ायम नहीं रह सकते और न रहने चाहिएँ और बुनियादी तबदीलियाँ लाज़िमी हैं। यही फ़र्क़ है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज्य—और पूर्ण स्वाधीनता में। पहला उसी पुराने ढांचे को दृष्टि में रखता है, जो हमें ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनों से बांधे हुए है, और दूसरा हमें अपनी परिस्थितियों के अनुकूल एक नया ढांचा खड़ा करने की स्वतन्त्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इंग्लैण्ड या अंग्रेज लोगों से सदा शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य बना रहा तो उनका क़ुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "सत्ता का अनाड़ीपन ताले की कुंजी को तो खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेंती से काम लेता है।" हाँ, हमारे दिलो

की गुजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और रीतियो का जो भरपूर उपयोग हमपर किया गया है उसने हमे अग्रेजो का तरफदार नही बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितो की सेवा करने का दावा करते है, तो हम अपने को क्षणिक विकारो और भावनाओ में नही बहने दे सकते, और चाहे हम उस तरफ झुक भी जावें तो गाधीजी ने जो १५ साल तक हमको कडी तालीम दी है वह हमें उससे रोक लेगी। यह मै एक ब्रिटिश जेलखाने मे बैठकर लिख रहा हूँ, महीनो से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल में जो कुछ बीती है, उससे कही ज्यादा कष्ट मैने इस तनहाई में सहे है। कई घटनाओ के अवसरो पर विरोध और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है, लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मै अपने दिल और दिमाग की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमें कही भी इग्लैण्ड या अग्रेजो के प्रति रोष या द्वेष नही दिखाई पडता। हाँ, मै ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मै नाराज हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे है उसे मै जरा भी पसन्द नही करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मै कुल मिलाकर इग्लैण्ड या अग्रेजो को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहराता, और अगर मै ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नही पडता, क्योकि सारी जाति पर नाराज होना या उसकी निन्दा करना जरा बेवकूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियो के शिकार बन गये है जैसे कि हम।

मै खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी परायेपन का भाव नही रख सकता और मै जो चाहूँ करूँ, लेकिन मै अपने मन के उन सस्कारो से और दूसरे

देशों के और खासतौर पर जीवन के बारे में विचार करने की पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक वेदना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिस पर ऐतराज करते हैं और जिसके साथ हम कभी खुशी-खुशी से समझौता नहीं कर सकते वह अंग्रेजों का शासन है, आधिपत्य है, न कि अंग्रेज लोग। हम शौक से अंग्रेजों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ठ सम्पर्क बांधें। हम हिन्दुस्तान में ताजी हवा चाहते हैं, ताजा और चेतनामय विचार और स्वास्थ्यकर सहयोग चाहते हैं, क्योंकि हम जमाने से बहुत पीछे पड़ गये हैं। लेकिन अगर अंग्रेज शेर बनकर यहाँ आते हैं तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नहीं रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ जान-जान से मुकाबिला किया जायगा और आज हमारे देश का इसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के इन क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सम्भव हो सकता है, लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े हैं, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नहीं है।

किसी का यह कहना कि वह या उसका देश किसी से समझौता नहीं करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता कराता है, और जब दूसरे देश या वहाँ के लोगों पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिल्कुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी खास नीति या सिर्फ खास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य

की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनो परस्पर बेमेल है और न तो फौजी कानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपडी बाते ही उन्हे एकसाथ मिला सकती है। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थायें पैदा हो सकेगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया मे स्वाधीनता एक सकुचित ध्येय है, क्योकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए मुकम्मिल आज़ादी की माँग करके हम घडी का काटा पीछे घुमा रहे है। लिबरल और शान्तिवादी, यहा तक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमें अपने सकुचित उद्देश पर लताडते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-सघ' में से होकर गुज़रता है। यह अजीब-सी बात है कि इग्लैण्ड मे तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शातिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को कायम रखने की ओर ही ले जाते है। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है, ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोडने की अभिलाषा आसानी से शातिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह मैकडानल्ड गाँधी के आगे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।'

मै नही जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा? लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी है, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती है। एक

समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ ही नहीं है, लेकिन बहुतेरे कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं लेकिन आगे बढ़े हुए हैं, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-अलग रहने की ख्वाहिश है। इसके विरुद्ध हम तो बिलकुल राजी हैं कि और देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बड़ा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।

इधर हाल में जो घटनायें हुई हैं उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों को खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई कमजोरी को जाहिर करते हैं। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है वहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सों से वह अपने को अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के आश्रित हो रहे हैं और, इससे कई बातों में जो तात्कालिक नुकसान हुए हैं उनको अलग रखदें तो भी, इस नीति से पैदा होनेवाले खतरे स्पष्ट हैं। इस प्रकार 'डोमिनियन स्टेटस' हमें ज्यादा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते है। इस बात को समझने की कोशिश किये वगैर ही कि कॉंग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यो कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते है कि औपनिवेशिक स्वराज की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कही सकीर्ण और नैतिक उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नजदीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते है, क्योकि उनको दूसरे देशो का तो कुछ पता ही नही है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है, मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हे उनकी उपेक्षा करने मे ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ है। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओ को, अगर दूसरे देशो मे ये तरीके अख्तियार किये जायें, तो कोई ऐतराज नहीं होता। वे दूर रहकर ही उनकी कदर और इज्जत कर सकते है और पश्चिमी देशो के कुछ मौजूदा डिक्टेटरो को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामो से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल यह है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते है, या सिर्फ एक नया शासक-मडल बनाना चाहते है? लिबरलो का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नही चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'औपनिवेशिक स्वराज्य' (डोमिनियन स्टेटस) का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उनका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तर-दायित्व' इन गूढ शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है। सत्ता, स्वाधीनता, आजादी, स्वतन्त्रता आदि उनके जोरदार शब्द उनके लिए नहीं है।

उन्हें तो ये खतरनाक मालूम होते हैं। पर क़ानून की भाषा और तरीक़े उन्हें ज्यादा जँचते हैं—चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी अनगिनती मिसालें मिलती हैं कि जहाँ व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आज़ादी के लिए ख़तरों का मुक़ाबिला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे क़ानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक बार खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका लक्ष्य और इसको भी पाना है 'सीधे हमले या और किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्यदक्षता' का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त में जाकर अपने शासकों को इस बात के लिए राज़ी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों बातों के कारण। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफ़ेसर आर० एच० टॉनी नामक एक विद्वान् अंग्रेज़-लेखक ने क्रम-क्रम से और शासक वर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत उचित और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते हैं, क्योंकि इंग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक संस्थायें तो हैं जहाँ बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफ़ेसर टॉनी लिखते हैं :—

"प्याज़ का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक ज़िन्दा शेर के एक-एक पजे की खाल नही उतार सकते। जीते की चीरफाड करने का काम तो शेर का है और खाल को पहले उतारनेवाला वह होता है· ····"

अगर कोई ऐसा देश है कि जहाँ के विशेषाधिकार पाये हुए वर्ग निरे बुद्धू हो तो कम-से-कम इग्लैण्ड वह नही है। यह खयाल गलत है कि लेवरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इसमे वे इस धोखे मे आजायेगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते पुर्जे कानून-दा को झासा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हकनामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे हरदिल अज़ीज़, चालाक, प्रभावशाली, आत्म-विश्वासी और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की पर्वा न करने वाले लोग है, जो अच्छी तरह जानते है कि रोटी किधर से चुपड़ी जा रही है और जो चुपडने के घी में कभी कमी होने देना नही चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशका होती है तो वे राज-नैतिक और आर्थिक शतरज के हरेक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते है। हाउस आफ लॉर्ड्स, सम्राट्, अखबार, फौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये विना वे न रहेगे। आवश्यकता पडने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझने भी पैदा कर सकते है और जैसा कि १९३१ मे पौण्ड की विनिमय दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओ मे साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राजनैतिक भगोडो की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते है।

ब्रिटिश लेवरपार्टी का ज़ोरदार सगठन है। उसके पीछे कई ट्रेड यूनियने, जिनके लाखो चन्दा देने वाले मेम्बर है, सहयोग-सम्मितियो का

एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटेन में बालिग़ मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थायें हैं और वहाँ बरसों से नागरिक स्वतन्त्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी मि० टॉनी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उनको सही साबित कर दिया है—कि लेबरपार्टी ख़ाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती। हालाँकि इन दोनों साधनों का प्रयोग करना लाभप्रद और वाञ्छनीय ज़रूर है। टॉनी साहब तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर कॉमन-सभा में मजदूर-दल का बहुमत होजाय तो भी विशेष लाभ-प्रद वर्गों के मुक़ाबिले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगी, क्योंकि उनके हाथ में आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फ़ौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी ज़बरदस्त ताक़तें अपनी हिफ़ाज़त के लिए हैं। यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान में परिस्थितियाँ बिलकुल दूसरी तरह की हैं। न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक संस्थायें ही हैं और न ऐसी परम्परायें ही। इसके बजाय, यहाँ आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का और बोलने, लिखने, सभा करने और अख़बारों की आज़ादी को कुचलने का ख़ासा रिवाज पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहाँ कोई ख़ासा मज़बूत संगठन है। ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है।

लिबरल लोग अवैध या 'ग़ैरक़ानूनी' कार्रवाइयों के सख़्त ख़िलाफ़ हैं, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ 'वैध' शब्द का ख़ास अर्थ होता है। उसमें क़ानून बनाने का अधिकार आजाता है, जो अल्पसंख्यकों की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखता है, उसमें राजनैतिक और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करने के लिए

लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुंजाइश रहती है, लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नहीं है, और यहां विधान के अर्थ भी इस तरह के नहीं हैं।[1] उसका यहाँ इस्तैमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है। और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ 'वैध' शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यों के समर्थन में किया जाता है, या दूसरी तरह उसका 'कानूनी' के भाव में व्यवहार किया जाता है। इससे तो यह कहीं बेहतर है कि हम कानूनी और गैरकानूनी शब्दों का ही व्यवहार करें, हालाँकि वे काफी गोलमोल हैं और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है।

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये कानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है, इसी तरह साइकिल पर सवार होना, खास किस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के किसी हिस्से में जुर्म समझी जाती है। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जा सकता है और दूसरे में नहीं। जब एक गैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे कानून थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'कानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राजी से हो चाहे

१. श्री० सी. वाई. चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान संपादक हैं, युक्तप्रान्त की कौन्सिल में पार्लमेंटरी ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर जोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"भविष्य में अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध सरकार को मजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें।"

बेमन से। क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स का यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूँगा, मानो तानाशाही या ग़ैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को बेच देना है और अपनी प्रवृत्तियों के लिए आज़ादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतन्त्रात्मक देश में महज़ इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तंत्र के द्वारा क़ानूनीतौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाने होंगे। लेकिन जहाँतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक़ है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा वैधानिक साधन ही नहीं है जिनके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज़ क़ानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज परिस्थिति और भी विषम हो गई है। कार्यकारिणी हर क़िस्म के सार्वजनिक कामों पर रोक या बन्दिश लगा सकती है और लगाती ही है। उसकी राय में जो भी काम उसके लिए ख़तरनाक है, वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी है तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और इस स्थिति को सह लेना किसी तरह मुमकिन नहीं है।

यह कोई नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिला नागा कानून के मुताबिक ही काम करेगा। लोकतन्त्रीय-राज्य में भी ऐसे मौके पैदा हो सकते हैं जब किसीको उसकी अतरात्मा उसके खिलाफ चलने के लिए मजबूर करदे फिर उस देश में तो जहां स्वेच्छाचारी या निरकुश शासन हो, ऐसे मौके और भी बार-बार आ सकते हैं। वास्तव में ऐसे राज्य में कानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से, और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हे सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का गलत सोचना और गलत लिखना हुआ। बाज वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरो की हड़ताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहां कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या गैरक़ानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम तो लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास फटकने तक की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता है, मई, १९३४ में कहा था—"विधान निर्मात्री सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कांग्रेस जन-समूह की समझदारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगो की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम न्याय करती है, जिन्होने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज़-कान्फ्रेन्सो में भाग लिया है। मुझे तो इस बात मे बड़ा शक है कि विधान निर्मात्री सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सबधी धारणा 'जन-समूह' से कुछ

अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और योग्य' लोगों के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह समा जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं, क्योंकि, यद्यपि वह उससे "पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं है," "तो भी देश को उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना कुदरती ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और ग़लत आन्दोलन" से अपने को अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"हमने पहले ही ऐसा कहा था न?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए एक करारी लड़ाई लड़ी और हम गिर पड़े इसपर से हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही ग़लत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिल्कुल नामुमकिन है।

## : ५२ :

## हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और लाज़िमी बात थी कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे ज्यादातर पढ़े-लिखे लोग १९ वीं सदी के अन्त तक, मन में या अनजान में, इंग्लिस्तान के ब्रिटिश आदर्श में विश्वास करते थे।

वही उनकी दलीलो का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी लक्षणो पर ही वे नुक्ताचीनी करके सतुष्ट हो जाते थे। स्कूलो और कॉलेजो में इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमे हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयो और अँग्रेजो के सद्गुणो और उज्वल भविष्य पर जोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोडे वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कही हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी, क्योकि हमारे पास न तो दूसरे वाकयात थे और न दलीले। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढकर नही है। हमने अपनी इस बदबख्ती और गिरावट में भी इस बात से तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नही है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज है जो कि उससे कही ज्यादा कीमती और रहने लायक निधि है। विवेकानन्द और दूसरो ने तथा पश्चिमी विद्वानो ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रो में जो दिलचस्पी ली उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रतिअभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अँग्रेजो के बयानो पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे में ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज खराब होती तो वह अब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अग्रेज ने हिन्दुस्तान में खराब वर्त्ताव किया तो वह उसका कुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नही।

लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो सामग्री हाथ लगी और जो तरह हुआ उसने, लेखकों का दृष्टिकोण माडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उन्नत सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े सन्तोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेजों के लिखे इतिहासों ने हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचारधारा के घेरे में करते थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कांग्रेसियों का भी, जो भावुकता में भले-ही आगे बढ़ जाते हैं लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी उन्नीसवीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही वजह है कि ये लिबरल हिन्दुस्तान की आजादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ हैं, क्योंकि ये दोनों चीजें मूलतः अनमेल हैं। वह सोचता है कि उत्तरदायित्व के ऊंचे पदों पर पहुंचना सम्भव हो जायगा और

वन जायगा और ब्रिटिश फौज जरूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, विना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने में पडी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमीनियन स्टेट्स—से उसका यही मतलब है। यह एक विलकुल वाहियात वात है जो कभी पार नही पड सकती, क्योंकि अँग्रेजो-द्वारा रक्षित होने की कीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी ले कि एक महान देश के आत्म-सम्मान को यह गिरानेवाला न हो तो भी हम दही और मही दोनो एक साथ नही खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हे भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नही कह सकते, अपनी एक नई किताव 'दी फ्यूचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' मे लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयेगा तो इग्लैण्ड उसके और सर्वनाश के वीच में आकर खडा होजायगा, और जबतक वह इस धोखे मे है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी वुनियाद नही डाल सकता।" जाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिवरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढग के हिन्दुस्तानियो से है जिनसे उनका सावका हिन्दुस्तान की असेम्वली के अध्यक्ष की हैसियत से पडा होगा। कांग्रेस का ऐसा विश्वास नही है। तब और आगे वढी हुई दूसरी जमातो का तो जरूर ही नही हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस वात से सहमत है कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर मे कोई तवाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाविला करने के लिए अकेला न छोड दिया जाय—तबतक हिन्दुस्तान को आजादी नही मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का दौर-दौरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आज़ादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुव की वात नही है कि १९वी सदी के पढे-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव मे आजायें, लेकिन वडे ताज्जुव

की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल दहला देने-वाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हैं। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गों में से था जिनके साथ काफी वंश-परम्परा, हुकूमत और परम्पराएँ थीं। इस लम्बी ज़िन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमन्तशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात में सुख मान सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी शान-शौकत दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपने को—जैसा कि कितनों ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाडले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनका विरोध करना मानो ईश्वरी व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आन्द्रे सीगफ्रीड ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मज़े-दार प्रकाश डाला है :—

“परम्परा ने शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत डाली हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो गर्वीला था और जिससे अपने-आपको ऐसी परिस्थितिवाले मनुष्य अपनी समझने के नाते या एक अजीब-सा

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर जोर देना इसलिए दिलचस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाजुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियायें स्पष्ट हो जाती है। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज जाति उन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं मे ही ढूंटने का प्रयत्न करती है। उनके मतानुसार नुकसान सदा किसी दूसरे के कुसूर से होती है और अगर वह (कसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इंग्लैण्ड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले . . . (अंग्रेज जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदले, लेकिन दूसरे बदल जायें।"

सारे जगत के प्रति अंग्रेजो का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के मसलो को जिस तरह हल करना चाहते है, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भड़कानेवाला। शान्ति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी जिम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निवाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिको और पापियो पर क्रोध और घृणा—इन भावो की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन कैथलिक धर्म-विचारको की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार मे रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओ के अनुकूल बनाना और कुछ

चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश साँचे में ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और धंधों को मानने लगेंगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज या स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्यों ही हम इस बात की गारंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार ही अपने को मिली हुई आजादी का उपयोग करेंगे त्योंही आजादी हमारे पास आजायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस पहलू के विषय पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज एक मत न होंगे। और शायद यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के बारे में बेखबर हैं। जबकि हकीकतें ही उनको धोखा दे जाती हैं तब हिन्दुस्तान की आत्मा तो उनकी पहुँच के बिल्कुल परे होगी? उन्होंने हिन्दुस्तान के शरीर को पकड़ कर अपने कब्जे में कर तो लिया है पर वह कब्जा बलात्कार का है। वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। उन्होंने कभी उसकी आँख से आँख नहीं मिलाई। वह मिलाते भी कैसे? क्योंकि उनकी तो आँखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थीं। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

अपने इस घोर अधःपतन और दरिद्रता के होते हुए भी हिन्दुस्तान

मौजूदा मुसीबतो से काफी दबा हुआ है और उसकी पलके थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निरखती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु में अद्भुत विचारो, स्वच्छन्द कल्पनाओ और उत्कृष्ट मनोभावो की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों में से होकर गुजरा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव सचित किया है, दूसरे देश-वासियो से देन-लेन किया है, उन्हे अपने बडे कुटुम्ब में मिला लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे है, बडी-बडी ज़िल्लते उठाई है, महान् दु ख झेले है और कई अद्भुत दृश्य देखे है, लेकिन अपनी इस सारी लम्बी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन सस्कृति को नही छोडा है। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगो को उसका स्वाद भी चखाया है। घडी के लटकन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारो से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये है और उसे नरक-कुण्ड मे गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दु खदाई अन्धविश्वासो और पतनकारी रस्म-रिवाजो के बावजूद, जो कि उसमें घुस आये है और जिन्होने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस स्फूर्ति और जीवन को अपने हृदय से कभी नही भुलाया, जो उसकी कुछ ज्ञानी सन्तानो ने इतिहास के उषा-काल में उसके लिए उपनिषदो मे सचित करदी थी। उसके ऋषियो की कुशाग्रबुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड सूत्रो को पकडकर नही बैठी रही और न लुप्तप्राय विधि-विधानो, ध्येय-वचनो और निरर्थक कर्म-काण्डो में डूबी रही। न तो उन्होने इस लोक में खुद अपने लिए

कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[1] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मन्त्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकडे-टुकडे होते रहे हैं, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[2]। तमाम पुराने मुल्कों की तरह इनमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पडता था, लेकिन पतन की बदबू जाहिर थी और सूरज की कडी और निठुर धूप ने उनकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनों प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालांकि हिन्दुस्तान के मुकाबिले में

१. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

२ "हिन्दुस्तान में सबसे बडी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपने को प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्ति-शाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक ब्हाइट।

इटली ज़रा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनो के टुकडे-टुकडे हो गये है। लेकिन इटैलियनो की यह भावना कि हम 'इटैलियन' है, हिन्दुस्तानियो की तरह कभी नही मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधो में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकाश रोमन एकता थी, क्योकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नही रहा। हालाँकि काशी को पूर्व की मोक्षपुरी कह सकते है—हिन्दुस्तान के ही लिए नही बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी, लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पडने की कोशिश नही की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय सस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को सस्कृति का केन्द्र नही कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय में अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारो का प्रचार था और यदि किसी एक जगह मे विचारो का विरोध होता तो उसकी प्रतिध्वनि देश के दूर-दूर हिस्सो तक पहुँच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी यूरप को धर्म और सस्कृति की भेंट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को सस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालाँकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड गया था, उसीकी सस्कृति का यूरप में बोलबाला था।

मेटर्निक[१] ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है, और

१. मेटर्निक १८०७ से १८४८ तक आस्ट्रिया का प्रधान मंत्री था। यह प्रगति विरोध और अराष्ट्रीयता की प्रत्यक्ष मूर्ति था और अपनी चाणक्य नीति से जर्मनी और इटली को आस्ट्रिया के पंजे में इसने बहुत

कितने ही भावी मेटर्निकों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योंकि बीसवीं सदी के इंग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवीं सदी के मगरूर हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताकत दी थी वे सिकुड़ रही थीं और उस जबरदस्त वृक्ष में घुन के कीटाणु अन्दर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को मानव-रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। भारत 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आँखों में दुःख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और उत्पीड़ित और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगों की भावनाओं को उभार देता और उनको कुछ करने और कुर्बान होजाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो खासकर उन किसानों और मजदूरों का देश है जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि गरीबी खूबसूरत नहीं होती। क्या वह सुन्दर स्त्री जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है नंगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कारखानों में काम करनेवाले किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है? या वह उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से

दिनों तक रहना था। नेपोलियन के पतन के बाद कोई २० साल तक मेटर्निक का इस योरप में डंका था। १८४८ में जब जगह-जगह बलवे

जनता को कुचला और चूमा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये है और उनमें से बहुतों को अछूत तक करार दे दिया है ? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते है और असलियत से अपने को बचाकर सपने की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते है।

मगर इन अलग-अलग जात-पाँत और उनके आपसी संघर्षों के होते हुए भी उन सबमें एक ऐसा सूत्र रहता है जो हिन्दुस्तान को एकसाथ बांधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढता और सहिष्णुता को देखकर दांतो अगुली दबानी पड़ती है। इस ताकत का क्या कारण है ? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जडता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं है, हालाँकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नही है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योंकि उसने जोरदार बाहरी प्रवाहो का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकतें उसके मुकाबिले के लिए उठ खडी हुई उन्हे आत्म-सात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को कायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पडता है कि ये दोनो बाते इतनी परिश्रम करने योग्य नही जान पडी। उनके महत्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमें बडी हानि उठानी पडी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कही भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नही किया गया। वह धन-सपत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को घृणा की दृष्टि से देखता था, सम्मान और धन-सपत्ति दोनो एकसाथ नही रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी सस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानो और बवण्डरो में भी अपने को जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप

कायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्ति-मान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की वनिया सस्कृति से लड़ रही है। वह नवा-गन्तुक वाणिज्य उनपर हावी हो जायगा, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखो भूखो को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणो-चित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है, लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहो को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिवास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिवास तो चिथड़े-चिथड़े होगया है, तो उसे उसमें इस तरह काटछांट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थायें और पुराने विचार दोनो का मेल साध सके। जिन विचारो को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे होजाने चाहिए जो उसकी भूमि के समरस हो जावे।

## : ५४ :

## ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा? मुझे यह सम्भव नहीं मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप में विचार कर सकता हो। और अगर सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्म घटनाओं को

कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज़ दी है जो सदियो में भी उसे हासिल नही हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने में मानी जाती है,"[1] इसने कानून का राज्य और एक न्यायो-चित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी शासन की कल्पना तथा व्यगतिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है, और "ब्रिटिश भारत को एक सगठित एकछत्र राज्य मे परिवर्तित करके भारतवासियो में परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है"[2] और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अकुर का पोषण किया है। अग्रेजो का यही दावा है और इसमें वहुत-कुछ सचाई भी है, हालाँकि न्याय-युक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातत्र्य वहुत वर्षो से नजर नही आ रहे है।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई वातो को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनो के दृष्टि-कोण में इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस वात की अग्रेज़ लोग तारीफ़ करते हैं उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते हैं। जैसा कि डॉक्टर आनन्द-कुमार स्वामी ने लिखा है—"भारत में अग्रेज़ी राज्य की एक सवसे ज्यादा विलक्षण वात यह रही है कि हिन्दुस्तानियो को पहुँचाई जाने-वाली वडी-से-वडी हानि भी वाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा वरसो में हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए हैं, वे ससार व्यापी हैं, और वे पूर्व और पश्चिम के अधिकांश देशो मे समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी यूरप में, और इसके वाद वाकी के देशो मे भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सव

१-२ ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गये हैं।

जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का उदय हुआ। अंग्रेज लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का द्वार पश्चिम के लिए खोला और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था, एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी। और अब सुदूर-पश्चिम से एक तीसरी और अधिक जोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया। इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अंग्रेजों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने हमारी औद्योगिक तरक्की को रोक दिया, और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी पुरानी सामन्तशाही या दूसरी पुरानी रूढ़ियां उन्हें यहां मिलीं उन सबका उन्होंने पोषण किया। उन्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगतिशील, कानूनों और रिवाजों तक को भी जिस स्थिति में पाया उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए उनकी जकड़ से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय कोई उन लोगों की सद्भावना या महानता से नहीं हुआ। परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को बन्द नहीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही सफल हुए और इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय-शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नीव पर खडी की गई है और वडे भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से जबकि ईस्ट-इंडिया कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट की हकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सबन्धी और भौतिक उन्नति उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[१] लेकिन यह बात ऐसी नही मालूम होती जैसी कि वताई गई है और यह वार-वार कहा गया है कि अग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आ गई है, लेकिन यह कथन विलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगो से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के करीब-करीब सभी देशो में, पिछली सदी में, वडी भारी शिक्षा की और आर्थिक तरक्की हुई है, और ऐसे किसी भी देश के वारे मे यह यकीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कही ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्वे और उतार-चढाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।" इतिहास हालाँकि शायद उस देश का इतिहास भारत के से पुराना न हो। अगर हम यह कहे कि इस तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फिजूल का ही झगडा या ज़िद है? और सचमुच में अगर हम वहुत-से दूसरे देशो की हालत से अपनी हालत का मुकाविला करे तो क्या हम यह कहने का साहस न करे कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योंकि हमें अग्रेजो के उस प्रयत्न से भी तो भिडना पडा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, वेतार के तार आदि अग्रेजी राज्य की

१ ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ की रिपोर्ट।

अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अंग्रेज लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका शुक्रगुज़ार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खासतौर पर ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाड़ियाँ थीं जिनमें होकर राष्ट्र के खून को बहना चाहिए था, जिनसे व्यापार की तरक्क़ी होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोड़ों मनुष्यों को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आखिरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलना ही, लेकिन इन्हें जमाने और काम में लाने का मक़सद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मज़बूत करना और अंग्रेज़ी माल से बाज़ार पर क़ब्ज़ा जमाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीक़ों के बिलकुल पक्ष में हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफ़र करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ती है, जो भारतवर्ष को जकड़े हुए और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रक्खा है, वह वैसी ही है, जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ़ सरकार की रक्षा करना था और बाक़ी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फ़ौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और क़र्ज़ के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर क़ुर्बान कर दी जाती थीं। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्यकतायें कुछ थोड़ी-सी को छोड़कर, सब ताक पर रखदी जाती थीं। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्तनशील धारणायें, जिनके फलस्वरूप अन्य

देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों की बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा आदि वाते जारी हुई, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थी। वह इन खर्चीले कामों मे नही पड़ सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालों से ज्यादा आमदनीवालों की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह करीब-करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक कब्ज़ा मज़बूत हो। बाकी सब बातें गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है, और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हींके खिलाफ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुकाबिले में ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेजों के आधिपत्य से हमें अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुग़ल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफ़ों और कम्बख्तियों के बाद अमन-चैन की ज़रूरत भी थी इसमें शक नहीं। अमन-चैन एक बड़ी कीमती चीज़ है जो किसी भी तरह की तरक्की के लिए ज़रूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी क़ीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी कीमत पर खरीदी जायगी तो उससे हमें जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके ज़रिये हमें जो हिफ़ाज़त मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की-सी हिफ़ाज़त। या वह शान्ति ऐसे लोगों की विवश निराशा हो सकती है जो अपनी बहबूदी करने के क़ाबिल न रहे हों। विदेशी विजेता की ज़बरन क़ायम की हुई शान्ति में वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति में होते हैं। युद्ध बड़ी भयकर चीज़ है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार वह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, संगठन, शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, शोधकबुद्धि, मितव्ययिता, शारीरिक आरोग्य और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूपान्तर तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयकरता के बिना ही किसी जाति में इन गुणों को उत्तेजन दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय रूपान्तर मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फ़िज़ूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान यूरप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी

मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ ज़ोर-ज़ोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकती। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सैक्सन अंग्रेज़ लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज्यादा फर्क था और वे हमें अधिक ज़ोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तकाज़ा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ रियासतों में बँटा हुआ है जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं। लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियां उसके मार्ग में बाधक न हों तो अरबी राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्यायें पैदा कर दी जायें जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पंच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढ़ोतरी के घुणाक्षर-न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फिरकेबन्दी के जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे और यह दोनों बातें हमारी भावी उन्नति के मार्ग में बड़े ज़बरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेजों को यहां आये हुए डेढ़ सौ वर्ष से ज्यादा हो गया और उन्हें शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये। तानाशाह शासकों की भांति वे मनचाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्जी के मुताबिक ढालने का उनके पास काफी सुन्दर मौका था। इन वर्षों में संसार इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जा सकता—इंग्लैण्ड, यूरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये हैं। अठारहवीं सदी में अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं, जापान में थोड़े से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है; रूस का विशाल प्रदेश, जहां अभी कल तक ही जार के शासन का फौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन से परिप्लावित हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खडी कर रहा है। हिन्दुस्तान में भी बडे भारी परिवर्तन हुए हैं और यह देश उससे बहुत भिन्न है जो अठारहवीं शताब्दी में था—रेलें, नहरें, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, बडे-बडे सरकारी दफ्तर, आदि बन गये हैं।

और फिर, बावजूद इन परिवर्तनों के, आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है ? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजडे में बन्द करदी गई है जो खुलकर सांस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता, जो दूर देश में रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है, जिसके निवासी नितान्त निर्बल, थोडी उम्र में मरनेवाले और रोगों तथा महामारियों से अपने-आपको बचाने में असमर्थ हैं, जहां अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है, जहां के बहुत-से बडे-बडे प्रदेश हर तरह की सफ़ाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं और जहां मध्यमवर्ग और जनता दोनों में बडे भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि 'स्वाधीनता', 'जनसत्ता-

वाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद, आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियो सिद्धान्तवादियो और धोखेबाजो की पुकार है, असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है, लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशो में होनेवाली बेकारी कम करने तथा कष्टो को दूर करने की बडी-बडी योजनाओ की बाते पढते है, लेकिन हमारे यहाँ के करोडो बेकारो और चारो ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टो को कौन पूछता है? हम दूसरे देशो की गृह-योजनाओ के विषय में भी सुनते है, हमारे यहाँ के करोडो मनुष्यो के, जो कच्ची झोपडियो मे रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नही, मकान कहाँ है? क्या हमें दूसरे देशो की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधायें, और पैदावार बडी शीघ्रता से तरक्की कर रही है, जब कि हम लोग जहाँ थे वही खडे हुए है या बडी दिक्कत के साथ चीटी की तरह रेग रहे है? रूस ने बारह साल के थोडे-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नो से अपने विशाल देश की अशिक्षा का करीब-करीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछडे हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा कदम बढाया है। फेसिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही जोरो से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेन्टाइल ने आवाज उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोडा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सडा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" घर में बैठकर बाते करने में ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हो, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहनेवाली दृढता

और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग खूब फूंक-फूंककर कदम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमिटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज्यादा करते हैं पर काम जरा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेजों की ऐसी कमिटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी खरीता"—तैयार करता है, जो बाकायदा तारीफ किये जाने के बाद दाखिल-दफ्तर करदी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ने का, तरक्की का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं-के-वहीं हैं। सम्मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें, हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते हैं कि कहीं जरूरत से ज्यादा तेज न चलने लगें।

"शाही शान-शौकत रिआया की गरीबी का पैमाना बन गई"—मुगल साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते? आज यह वाइसराय की शान-शौकत और तड़क-भड़कवाली नई दिल्ली और प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की गरीबी। यह भिन्नता दिल को चोट पहुंचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही वैभववाली इस ऊंची दुकान में आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय

परिस्थिति का फीका पकवान है। जोड़-तोड़ मिलाकर और दिखावटी बातो से शाही शान-शौकत बढ़ादी गई है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कम्बख्त लोग हैं, जो जमाने की हालतो से पिसते ही चले जा रहे है। इनके पीछे मजदूर लोग हैं, जो पीस डालनेवाली गरीबी में कम्बख्ती की जिन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद किसान लोग हैं जो हिन्दुस्तान के प्रतीक है जिनकी किस्मत में "अनन्त अधकार में रहना" ही लिखा है।

"आह ! पीठ पर ले कितनी सदियो का भारी भार,
झुका खड़ा अपने हल पर धरती को रहा निहार ! !
युग-युग का सूनापन उसके ही मुंह पर लो देख,
सिर पर उसके और बोझ बन बैठा है ससार ! ! !

× × ×

झाक रही ठठरी से युग-युग की पीडा दुर्दान्त,
झुकना है था महाकाल का यह इतिहास दुखान्त
रोती है सृष्टा से दुखडा—यही भविष्यद्वाक !
ठगी-लुटी, पीडित-अपमानित मानवता आक्रान्त !"[1]

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफो का दोष अग्रेजो के सिर मढना ठीक नही होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कन्धो पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नही सकते, अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामो के लिए दूसरो को दोष देना अच्छा नही मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली जरूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमिति रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवको

१ अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" (फावडेवाला आदमी) नामक कविता के अंश का भावानुवाद।

की सबसे उत्तम प्रवृत्तियो—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, तेजस्विता—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरो की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना की अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नही होती, यह तो ऐसे लोगो को छाँट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हो और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से ज़िन्दगी बसर करना हो। हम देखते है कि हिन्दुस्तान मे अंग्रेज लोग कैसे व्यक्तियो को अपनी ओर आकर्षित करते है! इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते है। ये लोग दूसरी जगह मौका न मिलने के कारण सरकारी या अर्द्ध सरकारी नौकरियो में पडकर धीरे-धीरे नरम हो जाते है और उस बडी मशीन के पुर्जेमात्र बन जाते है, उनके दिमाग काम के सुस्त ढर्रे मे कैद हो जाते है। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते है। सार्वजनिक सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहाँ न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरो में भी अधिकतर किसी तारीफ के काबिल नही होते। क्योंकि उन्होने तो सिर्फ अपने बडे अफसरो की कदमबोसी करना और अपने मातहतो को डाँटना ही सीखा है। इसमें उनका कुसूर नही है। यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारो के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है? नौकरी में उनका कोई आदर्श नही रहता, उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखो मरने के डर का भूत लगा रहता है, और

उनकी खास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहे और अपने रिश्तेदारो और दोस्तो के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करे। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव मुखबिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते है, वहाँ लोगो में अधिक वाञ्छनीय गुणो की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओ ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोवाले व्यक्तियो के लिए सरकारी नौकरी मे घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती नही और वे उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नही चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायें।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरो पर है, कालो पर नही। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए सरक्षणो की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब है हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियो के स्पष्ट हितो और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिजर्व की हुई नौकरियाँ कम कर दी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है! और हाँ, अगर फौजो में अग्रेजो की सख्या को हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयकर खतरे हमारे सामने आ जाते है।

मेरा खयाल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफ्सर यकायक चले गये और अपने महकमो को मातहतो के भरोसे छोड़

गये तो इन्तजाम में कमी जरूर आवेगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत ज्यादा नहीं है, न उनके कन्धों पर कभी जिम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जायें। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ होता है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मजबूत ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपने को उसके योग्य बनाते जायेंगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे को हमारे सामने से उठाते जायेंगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धा-युक्त आंखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊंचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना में इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकार-पूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और पर्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, यह सब किसी भी व्यक्ति या समु-

दाय के दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीज़ें नही हो सकती। इस सर्विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पडता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयो से इन्कार करना फ़जूल है, क्योंकि हमें इनको भूलने ही नही दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इतनी निरर्थक बातें कही गई और कही जाती है कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोडी-सी कलई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेवलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियो को भी 'सुरक्षित नौकरियाँ' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बडी खर्चीली ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके है और हिन्दुस्तान के मामलो में बहुत दिलचस्पी लेते है, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नही की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज़ है।" चूंकि इसी प्रकार की बाते इंग्लैण्ड में अक्सर कही जाती है और उन पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही में काटे जा सके, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल गलत है कि इस बात पर कभी किसी ने ऐतराज़ नही किया। इसको तो बार-बार चुनौती दी गई है और ठीक नही माना गया है, और काफी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन

सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी बातें कही जाती रही थीं। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या न हो—मगर मेरे ख्याल में इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों की दृष्टि से देखकर सोचते हों। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मजबूत बनाये रखने और देश का चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस जरूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा जाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज है और दरअसल जिसके पास से इनकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आमतौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालांकि वह स्टैण्डर्ड लाजिमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जासकती। इसके अन्दर लाजिमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैण्ड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालांकि इंडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालांकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के खास गुण रोजमर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ

इस डर मे कि कही दूसरो से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पडते कही दूसरे नम्बर मे आता था। जिस तरह की तालीम उन्हे मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कर सकते थे। चूंकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक खास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तकाजा था। और चूंकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज होते थे और उसे बडा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-जिम्मेदार राज्य-शासको के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में सतुष्ट रहते और किसी दूसरे की कुछ आवश्यकता नही समझते थे। उनके दिमाग सकीर्ण और घडे-घडाये थे, जो परिवर्तनशील ससार में भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज होते, उन्हे खरी-खोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोडे अटकाते। जब यूरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्त्तनो ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न करदी, तो य लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और सकीर्ण शिक्षा ने उन्हे ऐसी सकटापन्न और नवीन परिस्थितियो के योग्य नही बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-जिम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको करीब-करीब बिलकुल निर-

कुश प्रभुता मिली हुई थी, जिस पर सिर्फ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्ल-मेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमें बिगाड़ देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूलीतौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफसर होते थे, जो अपना रोज़मर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालांकि उनका आत्म विश्वास, उनकी कायदे के साथ काम करने की आदतें और उनकी आन्तरिक एकता उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देते थे। मैसेपोटेमिया में की हुई मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भंडा-फोड़ कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें ज़ाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भंग के प्रति इन्होंने जो वृत्ति दिखलाई वह कुढंगी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़नेवाले और तेज़-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबिला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुकाबिला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीका ही नहीं सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल काबू नहीं रहा था, और उनमें वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में उनमें रहता था। अक्सर

उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यो में भी फजूल बकवास-सी नजर आती थी। और दिनो रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। खतरा बडी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमजोरियो का भडाफोड कर देता है। सविनय-भग एक ऐसा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी, और लडनेवाले दोनो दलो—कॉंग्रेस या सरकार—मे से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नही उतरा। मि० लाइड जार्ज कहते हैं कि खतरे के समय मे ऊँचे दर्जे की दिमागी ताकत रखने वाले पुरुष और स्त्रियो की सख्या बहुत कम मिलती है, और "बाकी लोगो की खतरे में कोई गिनती नही। छोटी-छोटी पहाडियाँ, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखाई पडती है, जोर की बाढ मे फौरन डूब जाती है, जबकि सिर्फ उससे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नजर आती है।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इण्डियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमे से बहुतो की आरम्भिक शिक्षा पुराने शाही जमाने की थी, जिसकी वजह से उनमे कुछ सस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओ में जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने सकुचित और गूलर के समान 'ऐंग्लो-इडिया' ससार में निवास करते थे, जो न इग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज मे जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी कदर वे कर ही नही सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नही जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियो की योग्यता का अन्दाजा उन चापलूसो और नौकरी के उम्मीदवारो से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी

लोगों को वे आन्दोलनकारी और बोखेबाज कहकर उड़ा देते थे। के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और खासकर आर्थिक क्षेत्र के प का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक में फँस कि परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना नहीं सक वे इस बात को महसूस नहीं करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रति वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और वे समुदाय-रूप धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० ने अपने 'दि हॉलो मैन' (पोले आदमी) में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जब तक ब्रिटिश साम्राज तबतक कायम रहेगा और यह अभीतक काफी शक्तिशाली है भी उसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेजी-राज्य हुए दाँत के समान है जो अभीतक मजबूती से जमा हुआ है करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दाँत निकाला या खुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूलवालों के दिन इंग्लैण्ड में भी पूरे हो गये उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालाँकि सार्वजनि में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्याद है और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उसका मेल बैठ सकत न उनके साथ सहयोग ही हो सकता है, सामाजिक परिवर्त शामिल रखनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणा उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों को पूरा करने में खर्च ह लिए हिन्दुस्तानियों को कुछ फायदा नहीं है। सर्विस के कुछ

अफसर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम है कि वे अपने को सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते है। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफसर से हुई थी जो अपने लिए बडी ऊँची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मै सहमत नही हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चगेजखाँ तथा तैमूर के साम्राज्यो से बेहतर नही है ?

इण्डियन सिविल सर्विसवालो की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फर्ज़ बडी होशियारी के साथ अदा करते है, और इसलिए वे अपने दावो पर जोर दे सकते है, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के है। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह कुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजो का, महाजनो और रुपया उधार देनेवालो का, और सबसे ज्यादा उसकी बडी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बडी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते है यह मै नही जानता, क्योकि अकालो, महामारियो और आमतौर पर बडी तादाद में मौतो से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहाँ की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। सतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मै तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूँ कि सतति-निग्रह के ज्ञान और तरीको का प्रचार किया जाय। लेकिन खुद इन तरीको का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफी ऊँचा ढग, कुछ हद तक मामूली शिक्षा और सारे देश में असख्य चिकित्सालयो की आवश्यकता रखता है। मौजूदा हालत में सतति-निग्रह के तरीके साधारण जनता की पहुँच से बिलकुल बाहर है। मध्यमवर्ग के लोग इनसे फायदे उठा सकते है और मै समझता हूँ कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में ऐसा कर भी रहे है।

लेकिन जरूरत से ज्यादा जन-वृद्धि-सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया मे सवाल यह नही है कि खाने की या दूसरी जरूरी चीजो की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालो की, या दूसरे शब्दो में, कमी है उन लोगो के लिए खाना वगैरा खरीदने की शक्ति की कि जो भूखो मर रहे हैं। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नही है, हालांकि आबादी बढ गई है, खाने का सामान भी बढ गया है, और आबादी के मुकाबिले में ज्यादा मिकदार में बढ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढोतरी का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षों के) ज्यादातर पश्चिमी देशो से बहुत कम है। यह सच है कि भविष्य में यह फर्क बढता जायगा, क्योकि पश्चिमी देशो में आबादी की बढोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढोतरी को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपने को जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे जरूर अपने सबसे अच्छे पुत्रो और पुत्रियो की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बडी मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नही मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागो में विदेशी विशेषज्ञो की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामो के लिए, जिनमें खासतौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत हो। जो लोग इंडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियो में रह चुके हैं उनमें बहुत-से हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन

एक बात का तो मुझे पूरा यकीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी, तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नही की जासकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनो साथ-साथ नही निभ सकती। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फैसिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह बहुत जरूरी मालूम देता है कि, हम नई व्यवस्था का कोई असली काम शुरू करें, उसके पहले सिविल सर्विस और इस तरह की दूसरी शाही सर्विसो का अन्त होजाना चाहिए। इन सर्विसो के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरी के लिए राजी हो और योग्य हो, खुशी के साथ आवें, लेकिन सिर्फ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नही की जासकती कि उनको वही फजूल की मोटी-मोटी तनख्वाहे और भत्ते मिलेगे जो आज उन्हे दिये जारहे है। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओ की सेवायें चाहिएँ जिन्हे उसके हित में हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हो, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हो, और जो बडी-बडी तनख्वाहो के लोभ से नही, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हो। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना होगा। विदेशी सहायको की बहुत ज्यादा जरूरत पडेगी, लेकिन मेरे खयाल से ऐसे राज-काज चलानेवालो की जरूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियो का तो हिन्दुस्तान में कुछ अभाव न होगा।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालो और उनके समान अन्य दलवालो ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेजी विचार-प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सर्विसो के सम्बन्ध

में तो यह बात और भी साफ जाहिर हो जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, शासन के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फौज और नौकरों के वापस हटा लिए जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमागों में घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहों और रिआयतों को नमता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में सरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये सरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायें, तो उनमें दूसरी बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वगैरा का उनके वर्तमान रूप में तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फ़ौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो बिना कोई चीं-चपड़ किये सिर्फ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है। कुछ दिन हुए, सितम्बर १९३४ में, हिन्दुस्तान के जगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-ऑफ-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फौजी भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दखल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक सशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते हैं कि बहुत-सी लड़ाइयाँ जीती

हुई और युद्ध-प्रवीण अंग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के ज़ोर से जीता है और तलवार के ही ज़ोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियाँ तोडनेवाले आलोचको से सीखेगी ?" उन्होने और भी बहुत-सी मजेदार बातें कही थी, और कही हम यह खयाल न करने लगें कि उन्होने तैश मे आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमे बतलाया गया था कि उन्होने अपना भाषण बडे विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ-कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फौजी मामलो पर एक जगी लाट से भिड पडना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी टोडनेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आसकती है कि जिन्होने साम्राज्य को तलवार के ज़ोर से कब्ज़े में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक-दूसरे भिन्न हो। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तान के हितो या साम्राज्य के हितो के लिए काम में लाई जाय और इन दोनो हितो में भिन्नता ही नही बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोडनेवाले आलो-चक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवो के बाद भी प्रमुख सेनानायको का यह दावा कि उनके कामो मे दखल न दिया जाय कहांतक जायज है। उस समय उनको बहुत अशो तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहांतक मालूम हुआ है, उन्होने सारी अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, आस्ट्रियन, इन, रूसी सेनाओ में करीब-करीब तमाम बातो में एक बडी भयकर गडबड पैदा करदी थी। मशहूर अंग्रेज फौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड वार' में लिखा है कि महायुद्ध में एक बार जब

अंग्रेज सिपाही दुश्मनो से लड रहे थे, उसी समय अंग्रेज फौजी अफसर आपस में लड रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय संकट के वक्त में भी लोग विचारों और कार्यों मे एकता न ला सके। वह फिर लिखते है, महायुद्ध ने, अपने आराध्यदेवो के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओ की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यो की तरह है, हमको उनसे बहुत ज्यादा आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० लॉयड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' (महायुद्ध की स्मृतियाँ) नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायको की गलतियो का—ऐसी गलतियो का, जिनके कारण लाखो आदमियो की जाने गईं—बडा भयकर चित्र खीचा है। इंग्लैण्ड और उसके सहायको ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊँचे अफसरों-द्वारा फौजो और परिस्थितियो के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इंग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसको और उसके सहायको की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओ की ऐसी भूलो के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्रधानमन्त्री इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग मे कुछ बाते बिठाने के लिए, खासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ सख्ती से पेश आना पडा था। फ्रांसीसी मार्शल जॉफर के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उसका सबसे बडा गुण उसकी दृढता-सूचक मुखमुद्रा थी जो हृदय में शक्ति की भावना को पैदा करती

थी। "यही चीज़ है जो त्रस्त लोग सकट के समय में खोजते है। वे यह समझने की भूल करते है कि चतुरता किसी चेहरे मे निवास करती है।"

लेकिन मि० लॉयड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ़ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञो इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातो को छिपाया, जिसके कारण फ्रास में अंग्रेज़ी फौज को बडी भारी हानि उठानी पडी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नज़र आरही थी, वे आखिर तक अपनी ज़िद पर अडे रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैसृशन्डेल तथा कैम्ब्राई की भयकर दलदलो में कई महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हज़ार तो अफसर ही वहाँ काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज़ सिपाही हताहत हो गये। सतोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'अज्ञात सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि अपने जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नही थी।

अन्य लोगो की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियाँ करते है, लेकिन जन-सत्तावादी राजनीतिज्ञो को जनता के रुख और घटनाओ पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पडता है और वे आमतौर पर अपनी गलतियो को स्वीकार करके उन्हे दुरुस्त करने की कोशिश करते है। पर सिपाही का निर्माण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहाँ हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नही होता। इसलिए वह दूसरो की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह गलती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस गलती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक

महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योंकि खुद मुल्की आमतन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और उस कारण बहुत अंशो तक सिपाहियाना रोबदाब आदि विशेषतायें उसमें मौजूद हैं।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक वर्षों में एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान में पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा वरसो में भारतीयकरण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य होसकता है कि खतरे के समय में इंग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से में ही लाखो की फौज खडी करदी। अगर उनके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए है, तो शायद वह बडी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूंककर आगे कदम बढाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस शिक्षित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओ का भी विचार आता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनो के ही अकस्मात् तैयार होगई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओ से लोहा लेती हुई उन्हें हराने लगी। आज इन सेनाओ की ससार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियो में गणना की जाती है। इनके पास तो सलाह देने के लिए 'सग्राम में लबे हुए और युद्ध-प्रवीण' सेनापति नही थे।

हमारे यहाँ देहरादून में एक फौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियो को फौजी अफसर बनने की तालीम दीजाती है। कहा जाता है कि वे बडी चतुरता से परेड करते है और बेशक वे-बड़े अच्छे अफसर बनकर निकलेगे। लेकिन मुझे समझ में नही आता है कि इस तालीम से क्या फायदा है, जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय? पैदल और घुडसवार सेनायें आज-कल उतने ही काम की है

जितनी रोमन फौजें होती, और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचड तोपो के युग मे बन्दूक, तीर-कमान से ज्यादा कारगर नही है। इसमें शक नही कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते है।

हिन्दुस्तान में अग्रेजी राज्य का इतिहास कैसा रहा है ? हम उसकी खामियो के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन है, जबकि ये खामिया हमारी ही कमजोरियो के फलस्वरूप है ? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड दें और दलदल में फँस जायँ, एकागी और स्वय-सतोषी बन जायें और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारो ओर की घटनाओ से आँख मूद ले, तो इसमें हमारा ही नुकसान है। अँग्रेज लोग हमारे यहा ससार सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियो को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफान की शिकायत करे जो हमें उखाडकर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठडी हवा की जो हमें कँप-कँपा देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगडे-टटो को तिलाजिली ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुकाबिला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए अंग्रेजो का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नो को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होने देश के झगडालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक, जातिगत तथा मौके से लाभ उठानेवाले लोगो को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक जरूरी परीक्षा और चुनौती है, और इसके पहले कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पडेगा जो शुद्ध और दृढ बनाती है और जो दुर्बल, पतित और आचार-भ्रष्टो को जलाकर खाक कर देती है।

: ५५ :

# अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच में क़रीब एक हफ़्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी माँ अभीतक अस्पताल में थीं, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में तत्पर थी। हर सप्ताह के आख़िरी दिनों में मेरी बहिनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ़्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुक़ाबिले में ज्यादा फ़ुरसत मिली थी। मेरा ख़ास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फ़ुरसत का समय अख़बार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अख़बारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफ़ी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके सम्बन्ध को ध्यान में रखकर, विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखों का फ़ारसी तर्जुमा तेहरान और काबुल में भी छापा गया था। आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों में जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखों में कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या होरहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे सकते। मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत होरहा है।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती-सी जारही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया। वापस

लाने के दूसरे कारणो में से एक कारण मेरी वहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्ही दिनो में घोपित की गई थी। हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल में ठूंस दिये जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ खयाल न था कि मैं कितने समय तक वाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योकि सविनय-भग कांग्रेस का वाकायदा कार्यक्रम था और खुद कांग्रेस और दूमरी वीसियो सस्थाये गर कानूनी थी।

हमने अक्तूवर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताविक होनेवाला था। मै इस वात से खुश था, हालांकि सच पूछो तो इसके सिवाय हमारे पास और कोई उपाय भी न था। क्योकि वह विवाह दो भिन्न जातियो, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, मे होनेवाला था, और ब्रिटिश भारत के मौजूदा कानून के मातहत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यो न किया जाय, जायज्ञ नही होसकता। खुशकिस्मती से उन्ही दिनो मे पास हुआ 'सिविल मैरिज एक्ट' हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो कानून थे, जिनमे से दूसरा कानून, जिस से मेरी वहन की शादी हुई, हिन्दुओ और हिन्दू-धर्म से सम्वद्ध दूसरे धर्मवालो के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, वौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मत या वाद में धर्म परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नही होता। ऐसी हालत में पहले कानून का ही आश्रय लेना पडता है। इस पहले कानून के अनुसार दोनो को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पडता है, या उन्हे कम-से-कम यह तो कहना ही पडता है कि हममे से कोई किसी भी धर्म को नही मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग वडा वाहियात है। वहुत-से ऐसे लोगो को भी, जिनका कि मजहव की तरफ कोई रुझान नही है, इस वात पर ऐतराज है और इस तरह वे इस कानून से फायदा नही उठा

सकते। मुख्तलिफ मजहबों के कट्टर लोग ऐसे सब परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस कानून के मातहत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, एक ऐसी अनुमति देनेवाले अन्तर्जातीय-विवाह-क़ानून का बनना तो निहायत जरूरी है जो आमतौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हें मजहब छोड़ने या बदलने की जरूरत न पड़े।

मेरी बहन की शादी में कोई धूमधाम नहीं हुई, सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौरपर, वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ थोड़े रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुँचा, क्योंकि उन्हें यह लगा, हालाँकि वह था गलत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छापा था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन

लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्त-लिफ किस्म के लोगो पर क्या असर होता है। इसे कुछ ने पसन्द किया, कुछ ने नही। ज्यादा सख्या नापसन्द करने वालो की ही थी। बहुत कम लोगो के पास यह निमन्त्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगो के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नही किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तैमाल नही की थी कि मै उसके पक्ष मे होगया था, हालांकि उसने मुझे बहुत दिनो से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीले है उसमे काफी वजन है, फिर भी मै भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष मे नही हो गया था। अगर मै उसके पक्ष में हो भी जाता तो भी मे अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत मे उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, मजहबी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलो की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह में मानता हूँ कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नही होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना जमाना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बडी क्राति है, क्योकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नजर आयंगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायेंगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खडी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा मे लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मै ऐसे रद्दो-बदल का खयाल भी नही कर सकता हूँ। क्योकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न

और अमूल्य ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एकसी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और उनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूंढ़ निकालने में कोई खास दिक्कत नहीं होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषायें एक-दूसरे के नजदीक आजायेंगी।

हमारे अंग्रेजी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो दन्तकथायें संसारभर में फैला रक्खी हैं, उनमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कई-सौ भाषायें बोली जाती हैं। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कईसौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा से भी मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। वे इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्यलर' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन verna का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है), और हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी जिन्दगी इस देश में गुजार कर भी अंग्रेज लोग यहां की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्ण-

कट्ट काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचडी भापा ईजाद करली है, जिसको वे असली भापा समझ बैठे है। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरो व जीहुजूरो से मालूम करते है उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भापा के बारे मे अपने विचार अपने उन घरू नौकरो से बनाते है जो 'साहब लोगो' से अपनी इस 'कामचलाऊ खिचडी भापा, मे ही बोलते है, क्योकि उन्हे डर है कि वे और कोई भापा समझेंगे भी नही। वे इस बात से बिल-कुल अपरिचित मालूम पडते है कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भापाओ का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान मे दो सौ या तीन सौ भापायें है, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहाँ पर भी लगभग ५०-६० भापायें है। मुझे खयाल नही कि कभी किसी ने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी मे सब प्रकार की छोटी-मोटी भापाओ का भी जिक्र किया जाता है, चाहे इन भापाओ के बोलने वाले कुछ हजार ही व्यक्ति क्यो न हो, और अक्सर थोडा-थोडा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए बोलियो को अलग-अलग भापा मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोडी भापाओ का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरप के इतने भाग को लेकर मुकाबिला करे तो भापा की दृष्टि से हिन्दुस्तान मे इतने भेद नही मिलेगे। लेकिन हिन्दु-स्तान में आम जनता मे शिक्षा का प्रसार न होने के कारण यहाँ भापाओ का समान-स्टैण्डर्ड नही बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। बरमा को छोडकर हिन्दुस्तान की मुख्य भापाये ये है—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू जिसकी दो किस्में है) बँगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलायालम और कन्नड़। इनमें अगर आसामी, उडिया, सिन्धी, पन्नो,

और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सों को छोड़कर सारे देश की भाषायें इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्य भाषायें जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित हैं आपस में बहुत मिलती-जुलती हैं और दक्षिणी द्राविड़ी भाषायें भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हुई हैं और उनमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है।

इन मुख्य आठ भाषाओं में पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषायें देश के काफी बड़े हिस्से में बोली जाती हैं। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से देखें तो ये भाषायें संसार की प्रमुख भाषाओं में आजाती हैं। बंगला बोलनेवालों की संख्या साढ़े पाँच करोड़ है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ आंकड़े नहीं हैं, लेकिन मेरे खयाल में वह अपने सभी रूपों सहित १४ करोड़ भारतवासियों में बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान-भर के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं।[1] साफतौर पर ऐसी भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मजबूत नींव पर जमी हुई है और फारसी का भी उस पर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-

१. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आंकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्यायें १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक़ हैं या १९२१ के। मेरे खयाल में तो १९२१ की गणना के मुताबिक़ हैं। इसलिए १९३१ की संख्या तो जरूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

| | | |
|---|---|---|
| १ हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, और राजस्थानी शामिल हैं) | १३९३ | लाख |
| २ बंगला | ४९३ | ,, |
| ३ तेलुगु | २३६ | ,, |
| ४ मराठी | १८८ | ,, |

कोप ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविडी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है। लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो वरस पहले १९३२ में, मैंने एक सस्था के आँकडे देखे थे। यह सस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रो ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ वरसो में, अकेली उस सस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगो ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी सस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नही मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखनेवालो में से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते है।

मुझे इसमें कुछ भी शक नही है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक बडी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनो दलो की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खडी करदी है कि भाषा को सस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगडे पैदा हो जाते है कि इस कठिनाई

---

| | | |
|---|---|---|
| ५ तामिल | १८८ | लाख |
| ६ कन्नड़ | १०३ | ,, |
| ७ उड़िया | १०१ | ,, |
| ८ गुजराती | ९६ | ,, |
| | २७९,८ | ,, |

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषायें जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग है, इस सूची में शामिल नहीं की गई है।

को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही मालूम नहीं होता कि दोनों लिपियों को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसी को भी काम में लाने की छूट देदी जाय। संस्कृत व फारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता ही जायगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं-बँगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषायें तो अब भी हिन्दुस्तानी की बनिस्वत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकृत रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हींके जरिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेज़ी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का खयाल है कि बहुत करके अँग्रेजी ही भारत की राष्ट्र-भाषा हो जायगी, लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायेगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और

संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नही है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और तिजारती कामो में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारो में, अँग्रेजी ज्यादा काम में आने लगी। हममें-से बहुतो के लिए विदेशी भाषाओ का सीखना व जानना बहुत जरूरी है, ताकि ससार के विचारो व प्रगतियो से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान मे रखते हुए मैं तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियो मे अँग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रूसी, स्पेनिश और इटैलियन भाषायें सीखने के लिए विद्यार्थियो को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नही है कि अग्रेजी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमें ससार की हलचलो को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमे अपने को अँग्रेजी सीखने तक ही समिति नही रखना चाहिए। केवल अग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभी से एकागी और सकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारो का एक ही दृष्टि और विचारधारा की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते हैं कि अपने देश के सम्बन्ध मे उनके दृष्टि-बिन्दु पर अँग्रेजी विचार-धारा का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओ को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यो न दें, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमे कुछ हर्ज भी नही है। हम कई पीढियो से अग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमे लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अग्रेजी आज ससार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओ पर वह अपना सिक्का जमाती जारही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय

व्यवहारो में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण करले, बशर्ते कि 'अमेरिकन' उसकी जगह न लेले। इसलिए हमें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सके उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी जरूरत नही मालूम होती कि अंग्रेजी की बारीकियो को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आजकल हममें से बहुत-से करते है। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते है, लेकिन बहुसंख्यक लोगो के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उन पर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओ में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनो से 'बेसिक' अंग्रेजी (Basic English)[1] ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञो तथा कुछ खास विद्यार्थियो के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस बेसिक अंग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओ से बहुत-से शब्द अपने में लेले। इस बात की जरूरत है, क्योंकि आजकल जो नई चीजें निकलती है हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रवर्तक शब्द नही, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत फ़ारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित

१ 'बेसिक अंग्रेजी' का 'मूल अंग्रेजी' अर्थ होने के अलावा एक और भी अर्थ है; वह है पाँच प्रकार की भाषाओं का—बेसिक BASIC [British (अंग्रेजी), American, (अमेरिकन), Scientific (वैज्ञानिक), International (अन्तर्राष्ट्रीय) और (Commercial) व्यापारिक] का—सम्मिश्रण।

शब्दो को काम में लावे। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दो के इस्तैमाल का विरोध करते है, लेकिन मेरा खयाल है कि वे गलती करते हैं। वास्तव में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओ के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जायें।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तफाक हुआ। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उन पर लकवे का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे होरहे है। बनारस की इस यात्रा के मौके पर मुझे हिन्दी साहित्य की एक छोटी-सी सस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहा उसके सदस्यो से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैंने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उस पर उसके विशेषज्ञो से बोलते हुए मुझे हिचक होती है, लेकिन फिर भी मैंने उन्हे थोड़ी-सी सूचनायें दी। आजकल हिन्दी में जो क्लिष्ट और अलकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है, उसकी मैंने कड़ी आलोचना की। उसमे कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के सस्कृत शब्दो की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगो के काम मे आनेवाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखको को अब यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा मे लिखें जिसे लोग समझ सके। आम जनता के ससर्ग से भाषा में नया जीवन और असली सच्चा-पन आजायगा। इससे स्वय लेखको को जनता की भाव-व्यजना शक्ति मिलेगी और अधिक लाभप्रद लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारो व साहित्य का अध्ययन करें तो उनसे

उन्हे बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरप की भाषाओ के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारो के ग्रथों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बँगला और मराठी साहित्य इन बातो में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षो में हिन्दी की अपेक्षा बँगला मे कही अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयो पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मै चला आया। मुझे इस बात का जरा भी ख़याल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारो में देदिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगो मे से किसी ने हमारी उस बातचीत को हिन्दी अखबारो मे प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारो में मेरे और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी आलोचना के खिलाफ़ बड़ा भारी वावैला मच गया। लोगो को मेरी यह धृष्टता खासतौर पर अखरी कि मैंने हिन्दी को वर्तमान बँगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यो कहा। मुझे अनजान—इस विषय में मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दबाने के लिए बहुत-से कठोर शब्द काम में लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद में पड़ने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगड़ा कई महीनों चलता रहा—तबतक, जबतक कि मैं फिर जेल में नही चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखें खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और अखबार कितने ज्यादा तुनकमिजाज है। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं है। साफ़ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी

तह में अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारो के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी में कोई असाधारण बात नही है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत सकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हो। उन्हे आम जनता और उसके हितो से मानो कोई सरोकार ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियो का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखको का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा गौरवमय रहा है लेकिन वह सदा के लिए उसीके बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश में हिन्दी के अखबार एक जबरदस्त ताकत बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियो व बन्धनो से अपने-आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न होसकेगी।

: ५६ :

## साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहन की शादी के क़रीब, यूरप से श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल के इन्तकाल की खबर आई। वह बहुत दिनो से बीमार थे और सेहत खराब

होने की वजह से ही वह हिन्दुस्तान में जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दु:खद घटना थी। हमारे बुजुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच से, लड़ाई के बीच में ही, एक के बाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ दी गईं जिनमें से ज्यादातर में उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उन्होंने पाई थी, जोर दिया गया था। यह बात थी तो बिलकुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ सुशोभित कर सके? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आजादी के एक महान् और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने बड़ी खुशी से इस निमन्त्रण को मंजूर कर लिया और एक बड़े मजमे में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिकता के बारे में बहुत-कुछ कहा और जोरदार शब्दों में उसकी निन्दा की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले ही से इरादा रहा हो सो बात नहीं, बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग में गुस्सा भरा हुआ था और जब मैं अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा

तो इस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पडा। मैंने जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओ के दकियानूसीपन पर जोर दिया, क्योंकि हिन्दुओं की जमात के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नहीं था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही मे नही आई कि जिस सभा के सभापति मालवीयजी बहुत दिनो हिन्दू-महासभा के स्तम्भ रहे हों उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत सुरुचियुक्त न था। पर उस समय मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनो से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नहीं था और करीब-करीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओ ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग में रोडा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनो से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र होगई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसन्द भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात जरा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति खराब हो, उनके निमन्त्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफसोस भी हुआ।

एक और मूर्खतपूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमें कि मैं फँस गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर में हिन्दू युवको की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण में जिक्र किया था। असल में ऐसा प्रस्ताव किसी सस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हमें चकमा ही दिया गया था।

मेरे बनारस के भाषण की रिपोर्ट अखबारों में प्रकाशित हुई। इसपर बडा होहल्ला मचा। हालाँकि मैं ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन हिन्दू-महासभा के नेताओं के जबरदस्त हमलो से मैं चकित हो गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्राय सम्बन्ध ही नही रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कह लेने का मौक़ा मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनो से, यहाँ तक कि जेल में भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि उस विषय को किस तरह छेडूँ। वह एक बर्र का छत्ता था और हालाँकि मुझे बर्र के छत्तो में हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादो में पडना पसद नही था जो बाद में तू-तू मैं-मैं पर आ जावे। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता ही न रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनो ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नही थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनैतिक सकीर्णता थी। इत्तिफ़ाक से मेरे पास कई अखबारो के कटिंग थे, जो मैंने जेल में इकट्ठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओ के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मैं किस तरह एकसाथ उसे एक लेख में भर दूँ।

मेरे इस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारो में खूब प्रकाशन मिला। यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियो के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें थीं, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनो की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओ ने मुझे बडी जोरदार और तरह-तरह की भाषा में आडे हाथो लिया था, वे भी

बिलकुल चुप्पी साधे रहे। मुसलमानों की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल[1] ने गोलमेज-परिषद सम्बन्धी मेरी कुछ बातो में सुधार करने की कोशिश की, लेकिन मेरी दलीलो के सम्बन्ध में तो उन्होने कुछ भी नही कहा। उनको दिये गये अपने जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-विधात्री सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनो विषयो का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखो का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियो पर प्रकट रूप से जो-कुछ उनका प्रभाव पडा उससे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ गया। असल में मैंने इस बात का तो अनुमान ही नही किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह मे जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूंगा। मेरा उद्देश तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के घोर प्रति-क्रियावादी फिरको से मिले रहते है और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी होते है। उनकी सभी मांगो का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नही है। उनका उद्देश यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलो का भला होजाय।

मेरा इरादा था कि इस तर्कभरे हमले को जारी रक्खूं, लेकिन जेल ने फिर मुझे खीच लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आये दिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल फजूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणो को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगो का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बार-बार रटने से अन्त में एकता जादू की तरह आटपकेगी।

१. २१ अप्रैल १९३८ को आपका देहावसान होगया है।

सन् १८५७ के गदर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेज़ों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी। दरअसल और ज़रूरीतौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेज़ों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताज़ी थी। इस वजह से अंग्रेज़ उनको ज्यादा उग्र, लड़ाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज़ लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेज़ी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेज़ों को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज़ से बहुत पिछड़े हुए थे।

यह राष्ट्रीयता बड़ी विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी, पर फिर भी सरकार को यह सहन नहीं हुई और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रखा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेज़ी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाज़िमी था। अंग्रेज़ों ने बड़ी दूरदेशी से आगे के लिए इन्तज़ाम कर लिया और इस काम में उन्हें सर सैयद अहमदखाँ की ज़ोरदार हस्ती से बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुःखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अंग्रेजों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेजों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर यूरप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी जमाने में यूरप, या यों कहो कि, पश्चिमी यूरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्दी पर था। यूरप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमें वे सब गुण भली भांति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुकाबिला करके कामयाब हो सकेगा। वह प्रगतिवाद के उद्गम का युग था, जिसे अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि जो हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहां का शानदार नजारा देखकर मोहित होगये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज्यादा गये, और वे यूरप और इंग्लैण्ड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी होगये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहां की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ जाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होंने घर को जो पत्र लिखे उनमें उन्होंने वहाँ के सम्बन्ध में अपने खयालात जाहिर किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालाँकि अंग्रेज लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हेय, नीच और घृणित समझते हैं

है इसके लिए उनको बख्शा नहीं जासकता, फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बर्ताव इसीलिए करते है कि वे हम लोगो को समझ नही पाते है। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पडती है कि उन्होने जो राय हमारे बारे मे कायम की है वह ज्यादा गलत नही है। मै अंग्रेजो की झूठी तारीफ नही कर रहा हूं, यदि मै सचमुच यह कहूं कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हो या नीच, बडे व्यापारी हो या छोटे दूकानदार, पढे-लिखे हो या अपढ, अंग्रेजो की तालीम, तमीज और ईमानदारी के मुकाबिले में ऐसे है जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुकाबिले में एक गन्दा जानवर। अंग्रेज लोग अगर हम हिन्दुस्तानियो को निरा जगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है।' मैं जो-कुछ देख रहा हूं और रोजमर्रा देख रहा हूं वह एक हिन्दुस्तानी के कयास के बिलकुल बाहर की बात है '' परलोक और इस लोक दोनो लोको की सारी सुन्दर वस्तुयें, जो इन्सान में होनी चाहिएँ, खुदा ने यूरप को, खासकर इग्लैण्ड को, बख्श दी है।"[१]

कोई भी आदमी अंग्रेजो की और यूरप की इससे ज्यादा तारीफ नही कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होने ऐसी जोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियो को गाढी नींद से जगाने और उनको आगे कदम बढाने के लिए उकसाने की नियत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह क़दम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछडती और कमजोर होती जायगी। अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफ़ाजत दबदबा और इज्जत। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताकत इस

१ यह उद्धरण हैन्स कोहन की "हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" (पूर्वी राष्ट्रीयता का इतिहास) से लिया गया है।

शासकों के हिमायती और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके जैसे ख्याल के हो जावें। मुसलमानों की सुस्ती और शिक्षा से दूर रहना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उन्नति मार्ग में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवें। बंगाल-वालों व हिन्दुओं-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की बगावत समझा और इसीलिए उन्होंने उसका विरोध किया। शिक्षा में ५० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुले तौर पर करते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की पूरी सहायता पर आँखें गड़ा रक्खी थी और वे कोई ऐसा जल्दबाजी का काम नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हे इस मार्ग में जोखिम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा ( कांग्रेस ) को धता बताई। ब्रिटिश-सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष ज़ोर देने का सर सैयद का निर्णय बेशक बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगो के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण मे कारगर हिस्सा लेसकना असम्भव था और उनको लाज़िमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पड़ता, क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमे हिन्दुओं की तरह कोई मध्यम-वर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हो, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रांति की ओर ले जानेवाली थी। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्र विरोधी जागीरदाराना विचारों से जकडे हुए थे, जबकि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू-

अंग्रेजी प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनों ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम-नीति थी, जिसमें मुट्ठीभर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति जो उद्योग-धन्धों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूँढ़ता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नजर हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशसक थे। टर्की और आरमीनियनों के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूँकि डिसरैली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहाँ होरहा था। उसमें उन्होंने कांग्रेस की बहुत नरम मांगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने कानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों से उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाक़िफ हैं, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊँचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के क़ाबिल है। कुछ लोग

पूछ सकते हैं कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले है, काबलीयत का खयाल क्यो न रक्खा जाय ? • •'मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यो न हो और जरूरी योग्यता रखते हो, उन पर हुकूमत करे और उनकी जानोमाल से सम्बन्ध रखनेवाले कानून बनाने की ताकत रक्खे ?' कभी नही ! "वाइसराय ऐसा कभी नही कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतो में निमन्त्रण दे जिनमे उसे इग्लैण्ड के अमीर-उमरा (ड्यूक और अर्ल) के साथ दस्तरखान पर बैठना पडता हो ।• क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने के लिए जो तरीके सरकार ने अख्तियार किये है, वे लोगो की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये है ? क्या हम कह सकते है कि कानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नही है ? बेशक हम ऐसा नही कह सकते ।"[१]

ये थे शब्द उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुकेदार या या आगरा, बिहार या बँगाल प्रान्त के बडे-बडे जमीदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेगे। लेकिन सर सैयद मे ही यह निरालापन हो सो बात नही हैं। कॉंग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढे जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होगे। लेकिन यह तो साफ़ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से साधनसम्पन्न मध्यमश्रेणी के (हिन्दू) लोगो का पुराने ढँग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसल-

१. हेन्स कोहन की 'हिस्ट्री ऑफ नेशनेलिज्म इन दी ईस्ट' से उद्धृत।

मान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था। हिन्दू जमीदारो का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यम-वर्ग की माँगो के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन माँगो के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज लोग हमेशा की तरह जमीदारो का साथ देते थे। दोनो ओर की साधारण जनता और दोनो निम्नश्रेणी के मध्यम-वर्ग की ओर तो किसी-का कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद के प्रभावशाली और जोरदार व्यक्तित्व का मुसलमानो पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदो और ख्वाहिशो का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि तरक्की की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक जाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते है कि कॉंग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही है और हम लोग, जो बाद में उसमे शामिल हुए है, सिर्फ दालभात में मूसलचन्द है। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते है कि दुनिया बदलती रहती है और कॉंग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज भी उस जमाने के लिए मौजूं और जरूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नही हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होने खुद ही अपने सदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सदेश नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के माफिक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुटी रह गई उसने दूसरो के

लिए पुरानी लकीर को छोड देना मुश्किल कर दिया । दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानो में ऐसी ऊँची कावलीयत के लोगो का वहुत वुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते । अलीगढ-कॉलेज ने वडा अच्छा काम किया और उसने एक वडी तादाद में अच्छे काविल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानो का सारा रुख ही वदल दिया । लेकिन जिस साँचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर जमीदाराना खयालात का असर वना ही रहा और साधारण विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। हिम्मत के साथ जीवन-सग्राम मे उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नही थी। वह तो अगर उसे कही डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमे अपने को धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ वात की याद दिलाने से ठडा होजाता था कि वह इस्लाम की महान् लोक-सत्ता का एक अग है। इस भाईचारे के प्रमाणस्वरूप वह अपने सिर पर वडी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फैज कहते है और जिसको खुद तुर्को ने ही वाद में विलकुल उतार फेंका। जहाँ उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयो के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस वात के सोचने की झंझट में नही पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नही।

यह तग दृष्टि और सरकारी नौकरियो के पीछे दौडना सिर्फ अलीगढ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियो तक ही सीमित न था। हिन्दू विद्यार्थियो में भी—जो स्वभाव से ही खतरो से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाया था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से वहुतो को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी सख्या तो थी वहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थी वहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन

विचारक लोगों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखाँ के राजनैतिक संदेश के गलाघोटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक होगये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इडियन अनरेस्ट' ( भारत में अशान्ति )नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जासकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिकरूप से कभी अपने हितों और आकाक्षाओं को ब्रिटिश राज के सगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नही मिलाया। राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणी करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थी, तोड़कर कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्वपूर्ण थे। इन्ही दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ और खतम भी होगया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट ससार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजों पर पहुँचे जाहिरा तौरपर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आगाखाँ मुसलमानों के नेता के रूप में प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे; क्योंकि आगाखाँ कोई मध्यमवर्ग के नेता नही

थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अग्रेजो के लिए वह अपने आदमी बन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाडी की भाति ज्यादातर यूरप मे ही पड़े रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मजहबी या फिरकेवाराना मामलो में नकीर्ण विचारो से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानो का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमीदार और बढते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायें, साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने ज़ोरो के साथ जाहिर की जाती थी। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखाँ ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बग-भग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे में मुसलमानो की क्या राय है ताकि जल्दबाजी में हिन्दुओ को कही ऐसी राजनैतिक सुविधायें न देदी जायें जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दें—जो बहुमत ब्रिटिश राज की दृढता और मुस्लिम अल्पमत के हितो के लिए, जिसकी राजभक्ति में किसी को सदेह नही होसकता था, समान रूप से खतरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन जाहिरा हिमायती ताकतो के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियाँ भी काम कर रही थी। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिन-दिन लाजिमीतौर पर असतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जारहा था। आगाखा को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पडा और उन्हे अँग्रेजो को एक खास ढँग की चेतावनी भी देनी पडी। जनवरी १९१४ (यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अंक मे उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानो को

लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय, और दोनों सम्प्रदायों के नरम खयाल के लोगों को एक छाते के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा होजाय। इसलिए यह साफ़ है कि आगाखां हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। ससारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आगाखाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ़-कॉलेज का भी रुख बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक ज़ोरदार अली-बन्धु निकले, ये दोनों ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख्तारअहमद अंसारी, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण में श्री मुहम्मदअली जिन्ना भी भाग लेते थे। गांधीजी ने इनमें से अधिकांश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आमतौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२२ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों क़ौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति

प्राप्त की, खासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानो की साम्प्रदायिक सस्थाये मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रही। फिर भी मुस्लिम नेताओ का एक जबरदस्त दल सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नही रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियो की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह में भी पानी आगया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोवाले बहुत से लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनो ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलो की सीटो के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रो में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो के लिए नौकरियो की लडाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नही सकती थी जो सबको मिल जाती, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हींके बारे में लडते-झगडते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र में थे, क्योकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्हीने घेर रक्खी थी और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियो की लडाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो साम्प्रदायिक तो नही थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ जरूर रहा था। पजाब, सिन्ध और बगाल में हिन्दू लोग सब तरह से

ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तो के मुसलमान गरीब, कर्जदार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनो की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनो में प्रान्तीय धारा-सभाओ में पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले कई बिलो पर, खासकर पजाब में, जो बहसें हुई है उनसे यह बात बिलकुल साफ होजाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इन युक्तियो का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानो की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओ ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नही है, क्योकि वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्व-साधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओ का हित-विरोध होता हो और वह उसका विरोध न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौके आये है, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितो के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओ के खिलाफ हिन्दुओ ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनो ही दलो के सम्प्रदायवादियो द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियो का सबसे अजीब प्रदर्शन तो गोलमेज कॉन्फ्रेन्स में हुआ। ब्रिटिश-सरकार उनके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानो को नामजद करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आगाखाँ के नेतृत्व में तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के

सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नही बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायो की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियो तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आगाखाँ और उनके गिरोह का लार्ड लॉयड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बडी असाधारण-सी बात थी। इतना ही नही, इन लोगो ने गोलमेज परिषद मे गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियो तक से समझौता कर लिया था। यह बडे दु ख और निराशा की बात थी, क्योकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियो ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होने, खासकर पजाब के लिए, स्वतत्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्धो की मॉंग की जो अग्रेज़ो के हक में 'सरक्षण' थे। उन्होने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नो में मुसलमानो को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नही, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होनें नुकसान पहुँचाया और स्वतत्रता के पक्ष के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानो के बोलने के ढग मे कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियो के पास तो यह भी न था।

मुझे तो स्पष्ट बात यह मालूम पडती है कि दोनो तरफ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नही हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते है और उससे बेजा फायदा उठाते हैं। दोनो ओर आर्थिक प्रश्नो को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नो को दबाया जासकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनो तरफ

के साम्प्रदायिक नेता निस्सदेह आगाखां की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचार वालो को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियो के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहे, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहो में सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनो ही मिल जाते है। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने दोनो को एकसाथ लामिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आगाखां का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवीलीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लॉयड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहां आपने लार्ड लॉयड के उन प्रस्तावो का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होने ब्रिस्टल की कञ्जरवेटिब कॉन्फ्रेंस में ब्रिटिश जहाजी बेडे की शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफाजत के लिए इतने चिन्तित थे कि वह इंग्लैण्ड की फौजी ताकत बढ़ाने के काम मे मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जारहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ में, यह खबर लगी कि लन्दन में खानगीतौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था 'मुसलमानों को अंग्रेजी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बांध देना'। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखां और लार्ड लॉयड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा

मालूम पडता है कि शाही मामलो में आगाखाँ और लार्ड लॉयड दोनो इस तरह एक जान दो कालिब है, जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में सर तेजबहादुर सप्रू और मि० एम० आर० जयकर। यह बात भी गौर करने के काबिल है कि इन महीनो मे, जबकि ये दोनो एक-दूसरे में इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लॉयड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओ के विरुद्ध इसलिए एक अत्यन्त कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमजोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनो कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओ के व्याख्यानो और वक्तव्यो में एक मजेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नही है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगो की शायद यह राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम सस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो की घोर असम्बद्धता पर खूब जोर दिया जारहा है। इसका परिणाम लाजिमीतौर से यही निकलता है ( हालांकि वह इतने खुलेतौर पर नही रक्खा गया है ) कि न्याय करने और दोनो सस्कृतियो में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अग्रेजो का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत जरूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा में बह रहे हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हे यह आशा है कि चूँकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हीकी 'सस्कृति' का बोलबाला होगा।

१. अभी हाल ही में कुछ अग्रेज लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश इन दोनो घोर प्रतिक्रियावादी दलो के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख़्ता करना है।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियाँ' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं! हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नहीं बल्कि डावाँडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्लियाना है, यह तो ध्यान में लाने लायक भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके जरिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग में, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकने वाली जातियाँ एकसाथ मिलकर रहती थीं। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनियाँ में ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरा—अलग-अलग रहती थीं और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थी। यह उस देशांतर भावना[1] की शुरुआत थी जो, अबसे कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख्तियार करलें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार, अन्त में मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतों से, खासकर आर्थिक असलियतों से, मुँह छिपाने की एक ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नहीं है। भाव-वृत्तियाँ कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट

१ अपनी या किसी भी देश की भौगोलिक सीमा के बाहर रहने वालों पर उनकी जाति या धर्म के कारण राजनैतिक अधिकार होना।—अनु०

देती है और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुजर नही कर सकते कि वे हमें इतनी तर्क रहित मालूम होती हैं। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियो की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारो मे इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमें विश्वास रखते हो, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह गायब होजायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'सस्कृति' की भावना भी इसी किस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओ का भी ज़माना तेजी के साथ जारहा है और सारा ससार एक सास्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनो तक अपनी-अपनी विशेषताओ, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोडें, और शायद बहुत काल तक छोडेंगे भी नही, मगर मशीनो का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरा है—इन विशेषताओ को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नही कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला ससार-व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। हिन्दुओ और मुसलमानो के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारो में जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनो की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करे, तो यह मत-भेद करीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारो में भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान मे इस समय असली झगडा हिन्दू-सस्कृति और मुस्लिम-सस्कृति का नही, बल्कि इन्ही जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक सस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-सस्कृति' की, जैसी कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते है, उन्हे हिन्दू-सस्कृति से घबराने की जरूरत नही, लेकिन उन्हे पश्चिमी

दैत्य का मुकाबिला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नही मालूम होता है कि हिन्दुओ या मुसलमानो के, आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफसोस न होगा। जिस समय रेल वगैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयदअहमद ने भी अलीगढ-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानो के लिए ज़ोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था। लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज़ को पकड़ने के और कोई चारा नही रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममें से किसी के लिए उसके सिवाय और कोई मार्ग न था।

यह 'मुस्लिम संस्कृति' आखिर चीज़ क्या है? क्या यह अरबी, फारसी, तुर्की वगैरा लोगो के महान् कार्यों की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नही पड़ता कि किसी ने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का ज़िक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओ का, और खासकर फारसी का, प्रभाव पड़ा है। लेकिन फारसी के प्रभाव में धर्म का कोई निशान नही है। फारसी भाषा, और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्परायें हज़ारो वर्षों के समय में हिन्दुस्तान में आई और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका ज़ोरदार असर पड़ा। फारस तो पूर्व का फ्रांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस सब देशो में फैलादी। यह हम सब भारतीयो की एक समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियो और देशों के पुराने कारनामो का गर्व मुसलमानो

को एक साथ बाँधनेवाले सूत्रो मे शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसीको इन जातियो के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानो से हसद है ? जबतक वे इसे याद करे और दिल से उसका पोषण करना चाहे, तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नही सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि यूरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बाँध देनेवाली यही चीज है। मै जानता हूँ कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक्त मे अरब लोगो के साथ हुए झगडो का हाल पढा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबो के साथ रही है। मै निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूँ पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियो का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नही रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज। लेकिन मुझे स्वीकार करना पडता है कि मैं इसमें सफल नही हुआ। मै देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान मे ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानो और हिन्दुओ की एक नगण्य-सी सख्या है जिन पर फारसी भाषा और परम्पराओ की छाप पडी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नजर आते है। एक खास तरह का पायजामा न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा, डाढ़ी का बढाया जाना और मूँछो के बनाने का एक खास तरीका, और एक खास तरह का टोटीदार लोटा।

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है।

इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढग के रस्मो-रिवाज है। धोती पहनना, चोटी रखना, और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नतायें भी ज्यादातर शहरी है और अब कम होती जारही है। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरो मे कोई भेद नहीं मालूम पडता। मुसलमानो के शिक्षित-वर्ग में डाढी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालाँकि अलीगढ में लाल रग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसन्द की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्को ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नही रक्खा है।); मुसलमान स्त्रियाँ साडी को अपनाने लगी है और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही है। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीको को पसन्द नही करती और डाढी, मूँछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नही है, लेकिन मै अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओं को दूसरो के गले नही मढना चाहता। हाँ, डाढियो के विषय में मै यह मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उडाना शुरू किया था तो मुझे बडी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पडता है कि उन हिन्दुओ और मुसलमानो को देखकर मुझे बडी दया आती है जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते है और उन चीजो को पकडने की कोशिश करते रहते है जो उनके हाथ से खिसकती जारही है। मै प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूँ, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बाते है जो सुन्दरता में अनुपम है। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नही है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओ को तो नही पकडते, बल्कि ऐसी चीजो को पकडने दौडते है जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती है।

पिछली कुछ वर्षो मे मुसलमानो को बार-बार धक्के पहुँचे है और

उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट होगये है। इस्लाम के यानी उस टर्की ने खिलाफत को ही खतम नही कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० मे बडी बहादुरी से लडे थे, बल्कि वह तो मजहब से भी दूर-दूर कदम हटाता चला जारहा है। टर्की के नये विधान मे एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खाम-खयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ मे कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रक्खी गई है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिस्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर होरहा है और अपनी राजनीति को मजहब से बिलकुल अलग रक्खे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे है, सिवा खास अरब के, जो बहुत पिछडा हुआ है। फारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे है। हर जगह मजहब पीछे हटता जारहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप में प्रकट होरही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' है जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियो को लिए हुए है। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-सस्कृति' का क्या होगा? भविष्य में क्या वे सिर्फ अंग्रेजो के उदार शासन की छत्रछाया में मस्त पडे हुए उत्तर भारत में ही मिलेगे?

उन्नति अगर इसी बात मे है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पडेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियो का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी सकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

: ५७ :

# दुर्गम घाटी

दुवारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वगैरा का दौर-दौरा था, और खुद कांग्रेस भी तब गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्तियार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहने वाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मै जमकर कोई काम नही कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना-कुछ होसके कर डालूं।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नही थी और जहां-तक होसकता था मैं ऐसी कारंवाइयो से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियो का कारण बनें। अपने प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहो से निमन्त्रण आरहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योकि मै जानता था कि कोई भी व्याख्यानो का दौरा तूफानी हलचल के सिवा और कुछ नही होसकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जासकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नही सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग-कमिटी के सदस्यो से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मै सार्वजनिक सभाओ में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में एक बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जुलूस निकाला गया, दिल्ली

की सभा में तो इस कदर भीड थी जितनी मैंने पहले कभी वहाँ देखी ही नही। वास्तव में इन सभाओ की सफलता से ही यह स्पष्ट होचला था कि सरकार ऐसी सभाओ का बारबार होना कभी सहन नही करेगी। दिल्ली मे, सभा के बाद ही, बडे जोरो की अफवाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है, लेकिन मै बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मै अलीगढ ठहरा, जहाँ मैंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियो के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय, मे जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामो को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नही था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय।

कांग्रेसवालो में मुझे एक जोरदार प्रवृत्ति यह नजर आई कि उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामो में पड जाना जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नही था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नही दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य में हमने इलाहाबाद मे, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चत करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओ की बैठके की। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी एक गैर-कानूनी सस्था थी, और चूँकि हमारा उद्देश कानून की अवज्ञा करने का नही बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाकायदा नही बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यो को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्त्ताओ को खानगीतौर पर विचार-विनिमय की इच्छा से बुलाया था। हमारी मीटिंगे खानगी तो होती थी, पर उनकी कारंवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नही किया जाता था। इसलिए आखिरी दमतक हमें इस बात का पता नही लगता था

कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग ससार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, साम्यवाद वगैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ होरहा है, उनकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय भग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भग की कोई सम्भावना नहीं है और व्यक्तिगत सविनय भग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला है या एक बहुत ही सकुचित रूप में जारी रह सकता है। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फर्क नहीं पडता था, क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरकरार था। इसलिए बाकायदा सविनय भग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही मात्र के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्त्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर ऐसा काम न करें कि व्यर्थ ही गिरफ्तार हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ्तारी होजाय तो उसे खुशी के साथ मजूर करलें। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है। उस वक्त लगान-बन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेंस के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जाचुका था और यह साफ ज़ाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुत.

कोई गैरकानूनी वात नही थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियाँ तो होगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गावो में पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उन पर करवन्दी आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म वना दिया गया था, विलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सजा देदी जाती। अपने वहुत-ने साथियो की गिरफ्तारियो के वाद मेरा इरादा भी था कि मै इन देहाती क्षेत्रो में जाऊँ। लेकिन कई और जरूरी कामो में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्यगित करना पडा, और वाद मे तो इसके लिए मौका ही न रहा।

इन महीनो मे वर्किंग-कमिटी के सदस्य सारे देश की परिस्थिति-विचार करने के लिए दो वार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नही कि वह गैरकानूनी थी, लेकिन इस-लिए कि पूना के वाद, गाधीजी के आदेश से, सारी कॉंग्रेस कमिटियाँ और कॉंग्रेस दफ्तर स्थायीतौर पर वन्द कर दिये गए थे। मेरी स्थिति एक अजीव तरह की होरही थी, क्योकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कॉंग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति, और गाधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस वार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक वडे भारी अखिल-भारतीय दौरे में लगे थे। हमने उनको दौरे के वीच में जवलपुर और दिल्ली में पकड पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्वरो के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरो ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्वरो के मतभेद को साफतौर से सामने लाकर रख दिया। वस, यही गाडी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता

नही नजर आता था जो सबको पसन्द हो। दोनो पक्षो, सत्याग्रह जारी रखनेवालो, और बन्द करनेवालो के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य होसकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष मे नही थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कांग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लडने के प्रश्न पर भी कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालांकि इस समय तक वर्किंग कमिटी के सदस्यो की इस तरफ कोई दिलचस्पी नही थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था, इसके लिए अभी समय भी नही आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल तक असली सूरत में आनेवाले ही नही थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी जाती राय में तो मुझे चुनाव लडने में सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नही थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पडेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायेंगे और समझौते के प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस दर्मियान मैं लगातार लेख और वक्तव्य अखबारो में भेजता रहा। कुछ हदतक मुझे अपने लेखो को नरम करना पडता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे भांति-भांति के कानूनों का घातक जाल दूर तक फैला था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। वैसे तो सब अखबार मेरी खातिर करते थे और बहुत-सी बातो मे मेरे हक में रिआयत भी कर जाते थे, लेकिन हमेशा नही। कभी-कभी लेखादि रोक

दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बडी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी सन् १९३४ मे, जब मैं कलकत्ते में था, एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रो के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूंकि इस सम्पादक शिरोमणि ने उसे नामजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' और कोई नही थे सिवा कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय के।

अखबारो को दी गई कुछ मुलाकातो और वक्तव्यो में मैंने कई दलो और व्यक्तियो की वडी कडी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज़ हुए। इस नाराजी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाव न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार में गांधीजी का भी हाथ। खुद गांधीजी ने इसका उदाहरण पेश किया था और प्रमुख कांग्रेसियो ने भी कुछ कम-बढ मात्रा में उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालांकि हमेशा नही होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावनायुक्त वाक्यो का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचको को गलत तर्क और समय-साधक चालो को काम में लाने का मौका मिल जाता था। असली प्रश्नो को दोनो दल उडा देते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के साथ ऐसा वादविवाद शायद ही कभी होता जिसमें तनातनी और जोश-खरोश की नौवत आये, जैसाकि उन देशो को छोडकर, जहांकि फैसिज्म का बोलवाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशो मे होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यो की तेजी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मैं करीब-करीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था।

क्या यह मेरी आशाओं पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था ? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओं को लिये बैठे है। व्यक्तिगत रूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नही होता था, क्योकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नहीं हो रही थी। जब से गाधीजी मेरे राजनैतिक मानस क्षितिज पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामो के डर से अपने हृदयगत भावो को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने—राजनैतिक क्षेत्र में पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रो में इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक होजाना सम्भव है)—मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सतोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूँ, केवल इसी कारण हममे से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावो से बरी रहे है। यह खयाल भी, कि लोगो की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सात्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरो से भुला दिये जाने का खयाल मै समझता हूँ, सब खयालों से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दु खमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है ? कितनी ही बार हरेक बात बिगडती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारो ओर रहनेवाले लोगो को देखते है तो तरह-तरह की शकाएँ आघेरती है। मुख्तलिफ घटनाओ और परिवर्त्तनो, यहाँ तक कि व्यक्तियो और दलो पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और

मौज हो आती है। और पिछले कुछ दिनो से तो मै ऐसे लोगो पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओ पर सजीदगी से विचार नही करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को भूल जाते है और उनका जिक्र करना भी वेजा समझते है, क्योकि इन प्रश्नो का असर उनके पैसो या उनकी चिरपोषित धारणाओ पर पडता है। लेकिन मै समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय, और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने अपनी और दूसरो की वेवकूफियो पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नही खोया है।

परमात्मा की कृपालुता में लोगो की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढता की परीक्षायें मान ली जाती हैं। जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पक्तियाँ अनेक हृदयो में गूँजती है —

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मै करूँ विवाद,
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
और फूलते फलते हैं क्यो पापी करकर पाप ?
मुझे निराशा देते हैं क्यो सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयो के दास,
भोग रहे वे पडे मौज में है जीवन के विभव-विलास!
और, यहाँ मै तेरी खातिर जीवन काट रहा हूँ नाथ!
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओ के साथ।[1]"

उन्नति में, शुभकार्यों में, आदर्शो में, मानवी सज्जता में और मानव

1. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

भविष्य की उज्ज्वलता मे विश्वास। क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नहीं है ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई में पड जायँगे। पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है, अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान होजाय।

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियो तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे, लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक में स्थापित स्वार्थों को भडका रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जासकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं है, लेकिन मै यह हमेशा खयाल करता रहा कि कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, बिना कांग्रेस को उसमे घसीटे, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। जब मैने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मै उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या ? जिस चीज को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अग समझता था उसे छोड देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था। अगर दोनो में झगडा होता तो मैं वर्किंग कमिटी से इस्तीफा देदेना इससे कहीं बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी गैरक़ानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उनमे इस्तीफ़ा क्या देता ?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा खयाल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मदरास से

मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मदरास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करने-वाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमे उन्होंने मेरे कार्य-कलापो पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ आशा प्रकट की थी, और यह भी कहा था कि मैं कांग्रेस को इन नवीन मार्गों में नही घसीटूँगा। अपने बारे में इस तरह का ज़िक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू में आगे दी हुई—ज़मींदारी प्रथा के लिए गाधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत ज़रूरी अग है। इसने मुझे बडी हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बडी ज़मीदारियो या ताल्लुकेदारियो की तरफ़दारी करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे ससार में ये प्रथायें नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान मे भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नही है। खुद ताल्लुकेदार और ज़मीदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवज़ा मिल जाय।[1] यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापो के बोझ से डूबी जारही है।

१. अखिल-बंगाल ज़मींदार कान्फ़रेन्स की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी० एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"ज़ाती तौरपर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन ज़मींदारो को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मींन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैण्ड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त ( Permanent Settlement ) के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मींनों के ज़मींदारो से ज्यादा आसूदा हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

लेकिन फिर भी गांधीजी उसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य में मैं कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या मैं वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूँ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही नहीं था, और कुछ हफ्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही होगया।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी माँ का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभीतक रोगशय्या पर पड़ी थीं, पर उनके जीवन का कोई खतरा नहीं मालूम होता था। मैंने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवा नहीं की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ में पड़ गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौरपर कोई तरकीब ही नजर नहीं आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मैं तो क़रीब-क़रीब उस वक्त के इन्तज़ार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और सम्पत्ति बड़ी उपयोगी चीजें हैं, लेकिन जिस मनुष्य को लंबी यात्रा पर जाना हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती हैं। धनवान आदमियों के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन होजाता है जिनमें कुछ खतरा हो; उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्जी के मुताबिक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे जब्त कर सकती हो? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था उससे भी मैं छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं और मुझे जरूरत के मुताबिक

कमा लेने की अपनी शक्ति मे विश्वास था। मुझे सबसे बडी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के इन अतिम दिनो मे तकलीफ न उठानी पडे या उनके रहन-सहन के ढग मे कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फिक्र थी कि मेरी लडकी की शिक्षा में कोई बाधा न पडे, जिसके लिए मै उसका यूरप मे रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई खास जरूरत नही थी। कम-से-कम हमारा खयाल ऐसा ही था, क्योकि हमें कभी रुपये की सच्ची कमी का तजुर्बा नही हुआ था। मुझे यकीन है कि अगर कभी ऐसा समय आया जबकि हमें रुपये की कमी महसूस करनी पडी तो मुझे निश्चय है कि हमें दु ख ही होगा। एक खर्चीली आदत जिसका छोडना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबे खरीदना।

उस वक्त की बिगडी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के जवाहरात, हमारी सोने-चांदी की चीजें और छोटा-मोटा गाडियो सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने जेवर बेचने का खयाल पसन्द नही आया, हालांकि करीब १२ साल से उसने उन्हे नही पहना था और वे बैंक मे पडे हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लडकी को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद जिले के गाँवो में हमारे कार्यकर्त्ता कोई गैर-कानूनी कार्रवाइयाँ नही कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियाँ होरही थी। इन गिरफ्तारियो का तकाजा था कि हम लोग उनका अनुकरण करे और उन गाँवो में जायें। युक्त-प्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभावशाली मंत्री रफीअहमद किदवाई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतन्त्रतादिवस नजदीक आरहा था। उसे दरगुजर नही किया जासकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने मे, आर्डिनेन्सो और पाबन्दियो

के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जारहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता ? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता ? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए, लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न होसकी। मुझे आमतौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नजर आई कि जिनके फल-स्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जासकते थे। आखिरकार मैंने स्वतन्त्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के स्थानीय लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे ज़िले में काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा ख़याल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायेंगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभाँति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज़ की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इनका स्वागत ही किया गया था—और खासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था। और इस बात से दुःखी होरहा था कि ज़रूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत

गिर गया था, पर हम दोनो ने कुछ हदतक इसे दरगुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते मे या किसी और जगह बहुत दिनो तक ठहरना पडे। जेल से मेरे बाहर रहने के थोडे समय में हम दोनो यथासभव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब में जेल चला जाऊंगा तो इसको डाक्टरो और इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूँकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आरही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाकी बातें तो बाद में भी तय की जासकती थीं।

इसलिए हम दोनो ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतत्रता-दिवस की सभाओ से हम पहले ही लौट आना चाहते थे।

## : ५८ :

## भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खडा किसानो के एक गिरोह को मैं कुछ बाते बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ होगया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलने वालो का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लडखडाने लगे और सम्हलना मुश्किल होगया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाजो के किवाड भडभडाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, एक गड-गडाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पो का कुछ अनुभव नही था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या होरहा है, लेकिन मैंने

जल्दी ही जान लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानो से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालो के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नही समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंजिल मे अपनी माता को खाट पर पडी हुई, और वही अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बॉध रही थी, छोड जाने और अपनी रक्षा का इन्तजाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द होगये। उन्होने चन्द मिनटो की बातचीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हें जल्दी ही करीब करीब भूल-से गये। उस वक्त हम नही जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानो के लाखों आदमियो के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मै कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाडी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से में होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प के किये हुए घोर अनर्थ के बारे में कोई खबर नही थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम में लग गये। कई डाक्टरों से बारबार मिलना पडा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ते आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नही मिले थे। चारो तरफ दमन के कारण लोगो के दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जब

नक मैं वहाँ रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कहीं उनपर आफत न आजाय, वे बहुत आफतें झेल चुके थे। वहाँ के अखबार भी अन्य प्रान्तो के अखबारो से अधिक फूँक-फूँक कर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय मे भी वैसी ही शका और उलझनें थी, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागो मे। वास्तव मे यह शका ही थी, भय उतना नही, जो सब प्रकार के प्रभावो-त्पादक राजनैतिक कार्यों में बाधा डाल रही थी। फेसिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत ज़ोरो मे उदय होरही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप में और आपस में इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थी कि इन गिरोहो में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतकवादी आन्दोलन के बारे में, जिसकी तरफ सरकारी हलको का बहुत ज्यादा ध्यान खिंचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर से खूब विज्ञापन किया जारहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फ़ुरसत थी और न कोई मौका ही। जहाँतक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नही रह गई थी और न आतकवादी दल के पुराने सदस्यो की इसमें कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियो का सयम छुडा दिया था और उससे बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनो तरफ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतकवादियो की तरफ से तो यह काफी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट होरहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लडाई जारी रक्खी जाय, बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाबिला करके उसे रोका जाय। आतकवादी कार्यों से सावका पडने पर कोई भी सरकार उनका मुकाबिला किये बिना और उनको दबाने

की कोशिश किये बिना नहीं रह सकती। लेकिन शान्ति और गम्भीरता के साथ नियन्त्रण करना सरकार के लिए अधिक शोभा की बात है, बनिस्बत ऐसे अत्याचारों के जो अपराधियों और निरपराधों पर अन्धाधुन्धी से किये जायँ—खासकर निरपराधों पर, क्योंकि उनकी संख्या ज़रूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय में गम्भीर और धीर रहना आसान नहीं है। आतंकवादी घटनायें बहुत कम होती जारही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी, और यह बात उन लोगों के धैर्य को डावाँडोल करने के लिए काफी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनायें खुद कोई बीमारी नहीं है, बल्कि बीमारी का एक लक्षण है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियाँ, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित होजाते हैं। साहसी नवयुवकों का गुप्तमन्त्रणा और खतरे की तरफ हमेशा झुकाव होजाता है, उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किस लिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं। दुनिया में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाज़ा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं,—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देहपात्र बना देने के लिए काफी होता है। अगर इनकी किस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इस बात की तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नज़रबन्दों की जमात में या नज़रबन्दों की किसी जेल में भर दिये जायँ।

यह कहा जाता है कि न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश-राज्य की गौरव-पूर्ण सफलताओ मे गिने जाते है। मै खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूँ। मुझे जीवन मे अनुशासन पसद है और अराजकता, अशान्ति और अयोग्यता नापसद। लेकिन कड़ुवे अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय मे मेरे हृदय मे शका पैदा करदी है जिनको राज्य और सरकारे जनता पर जबरन लाद देती है। कभी-कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना ज्यादा ठीक मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारो ओर छाये हुए आतक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नही होसकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानूनी शासन नही। कल्हण कवि के हजार वर्ष पुराने 'राजतरगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बारबार प्रयुक्त हुए है और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे है 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ कानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगो की निर्भयता थी। आतकित जनता पर 'व्यवस्था' लादने की बनिस्बत उसे निर्भयता सिखलाने की यह भावना अधिक वाञ्छनीय है।

हम साढे तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैने तीन सार्वजनिक सभाओ मे भाषण दिये। जैसा कि मैने पहले कलकत्ते में किया था, मैने (इस बार भी) आतकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियाँ बतलाई, और इसके बाद में उन तरीको पर भी बोला जो

सरकार ने बंगाल में अत्याचार किये हैं। मैं काफी जोश से साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के सिलसिले से मैं बहुत अधीर होगया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचाई वह था वह तरीका जिससे वहाँ की सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमन करके मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ते में मुझपर जो मुकदमा चला उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सजा इन्हीका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जासकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन होआया था, लेकिन कमला का यह पहली बार आना था, और वह इस स्थान को देखने के लिए खासतौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी लड़की को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमें परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल खिलाफ था कि वह सरकारी या अर्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में दाखिल हो, क्योंकि मैं उन्हें नापसन्द करता था। इनके चारों ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमें से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली हैं और आगे भी निकलते रहेंगे। पर ये थोड़े-से अपवाद यूनिवर्सिटियों को नौजवानों की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नहीं बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातावरण से बचा जासकता था। इसलिए हमने वहीं उसे भेजने का निश्चय

रिया, हालाँकि कुछ बातों में वह दूसरी यूनिवर्सिटियों की तरह बिलकुल अप-टू डेट और सब तरह के साधनों से पूर्ण नहीं थी ।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे । वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाजिमीतौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के गैर-सरकारी काम में सबसे आगे कदम रक्खा । हमारा वहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार उन्हें नहीं मिला था । कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह खण्डहर होगया था, पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिला इमारत थी । इसलिए और बहुत से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे ।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया । भूकम्प हुए पूरे सातदिन होचुके थे, पर अभीतक सिवाय कुछ खास रास्तों के, कहीं भी मलबा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था । इन रास्तों को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थीं । इनमें कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों । इमारतों के खण्डहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था । जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत होरहे थे ।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो काँग्रेस में थे वे भी, और जो नहीं थे वे भी मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये । मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ । लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे भी, कोई कारण नहीं नजर आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों खलल पड़े ? बहुत-से लोगों का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाजी और गिरफ्तारियाँ कर बैठे और

उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गाँवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ्तारियाँ हुईं।

विहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य में मैंने विहार-सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनों तक उसने बताई थी। मेरा इरादा भूकम्प-पीडित इलाकों के अफसरों की आलोचना करने का नही था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी महाविकट परिस्थिति का सामना करना पडा था जिससे बडे-से-बडे दिलेरों के भी दिल दहल जाते। और मुझे इसका अफसोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जासकता था। लेकिन मैंने यह तो ज़रूर बडे जोरों से महसूस किया कि शुरू में विहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने कुछ ज्यादा कारगुजारी नही दिखलाई, खासकर मलवा हटाने में, जिससे बहुत-सी जानें बच जाती। खाली मुंगेर शहर में ही हजारों की जानें गई, और तीन हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलवे का पहाड-का-पहाड ज्यों-का-त्यों पडा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हजारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प के पीछे कुछ ही घण्टों में इस काम में लगाया जासकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दबे पडे थे उनकी जान बचाने में उसने सरगर्मी नही दिखाई। इन इलाकों में म्यूनिसि-पैलिटियाँ तो रही ही नही थीं।

मैं समझता हूँ कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-पीडित इलाकों के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत

थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नही बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गई थी। इस बारे मे किसीने भी सरकार पर यह दोष नही लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई गलत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने मे आनाकानी की। यह तो एक अजीब और निराश कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूले क्षम्य थी। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योकि मै जेल में हूँ), बिहार सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बडी तेजी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनो बाद बिहार के कुछ लोगो ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य करीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई। यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई है, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशो मे जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नही करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नही कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उनके ऊँचे हाकिम-हुक्काम, कोई गलती नही कर सकते। ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राजद्रोह है।

इसमे विचित्रता यह है कि शासन मे असफलता और अयोग्यता का आरोप बहुत ज्यादा बुरा खयाल किया जाता है, बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत

मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी होगई है और असल में इसकी परवा भी नहीं करती। आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह क़रीब-क़रीब एक वाहवाही की बात समझी जासकती है। लेकिन नालायक और कमज़ोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है, इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज़ पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार होजाता है लेकिन अगर उसे कोई बेवक़ूफ़ या नालायक कहे तो वह ग़ुस्सा होकर मारने को दौड़ता है।

अंग्रेज़ लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम होजाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा ख़राब और निकम्मा होजायगा। इस विश्वास को रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश में उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी और उन्नति-शील विचारों वाले अंग्रेज़ यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं होसकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इस पर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत में किसका अधिकार हो, इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें और भी हैं।

हाँ, अंग्रेज़ों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की भी मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान में सम्भव होनेवाली किसी हालत

से कही बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नही। इससे भी ज्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज मिलने की सभावना होसकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने का यत्र इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भडकदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज्य किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नही हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूँकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ थी वह नष्ट होचुकी है। भारत की स्वतन्त्रता का सच्चा औचित्य इसीमें है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सास्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर होजाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत में मनमानी करने की ताकत भले ही रखते हों, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मे हैं, भविष्य के प्रश्नों के लिए तो और भी ज्यादा। क्योंकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणायें बिलकुल ग़लत हैं और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया

योग्य नही है या जो पतनशील समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनो तक मनमानी नही कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता-कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीडित इलाको मे जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीडितो की सहायता के लिए जो ढग इख्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मै फौरन अकेला ही चल पडा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाको में घूमा।

इस दौरे में बडी मेहनत करनी पडी और इन दिनो मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधीरात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोवाली टूटी-फूटी सडको पर मोटर में जारहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोगियो के द्वारा ऐसे स्थानो मे उतर रहे है जहाँ पुल गिर पडे थे या जहाँ जमीन की सतह में फर्क आने से सडकें पानी में डूब गई थी। शहरो में ढेर-के-ढेर खडहरो और टूटी हुई, या मानो किसी दैत्य के द्वारा मरोडी हुई, या दोनो ओर के मकानो की कुर्सी से ऊपर उठी हुई, सडको का दृश्य बडा हृदय-स्पर्शी था। इन सडको की बडी-बडी दरारो में से पानी और बालू-रेत ने फूट-फूटकर मनुष्यो और जानवरो को बहा दिया था। इन शहरो से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानो पर—जिनको बिहार का बाग कहा जाता था—उजाड और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलो तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बडे-बडे तालाब और विशालकाय दरारे और असख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-से मुँह थे जिनमें से यह बालू-रेत और पानी निकले थे। इस इलाके के ऊपर हवाई-जहाज में बैठकर उडनेवाले कुछ अग्रेज अफसरो ने कहा था, कि यह कुछ-कुछ लडाई के जमाने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक बडा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प जोरदार, इधर-

उधर दोनो ओर की गति से, शुरू हुआ, जिससे खडे हुए मनुष्य गिर पडे। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुईं और एक ऐसी गडगडाहट करती और गूँजती हुई भयकर आवाज हुई जैसे तोपें चल रही हो या आकाश में सैकडो हवाई जहाज उड रहे हो। अनगिनती स्थानो पर बडी-बडी दरारो और गड्ढो में से पानी फूट निकला और उसकी धारे दस-बारह फुट तक ऊँची उछली। यह सब शायद तीन या चार मिनट रहकर मिट गया होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयकर थे। जिन लोगो ने इन घटनाओ को होते हुए देखा, आश्चर्य नही यदि उन्हे यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आगया। शहरो मे मकानो के गिरने का शोर था, पानी बडी जोर से बहकर आरहा था और सारे वायुमण्डल मे धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजें भी नजर नही आती थी। देहातो मे इतनी धूल नही थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखने वाले ही नही थे। जो लोग जिन्दा बचे वे भयकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढकने लगे।

मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में एक बारह बरस का लडका भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बडा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे नीचे गिराकर दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय होगया है और अकेला वही जिन्दा बचा है।

मुजफ्फरपुर ही मे ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकानात गिर रहे थे और चारो तरफ सैकडो आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनो की जाने बच गई और वे मजे मे थे। भूकम्प की यादगार मे बच्ची का नाम 'कम्पो देवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखिरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और करीब करीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी होगये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण हालत को देखा तो इसकी भयंकरता ने हमारा दम फूलने लगा और हमें कँपकँपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहातों में, वहाँ के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नजर आया। शायद शहरों के मध्यम-वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था—वे लोग इस इन्तजार में थे कि कोई सरकारी या गैर सरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हें सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्सन्देह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे जिलों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या में आनेवाले मददगारों का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज नजर आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की, मुसीबत में साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। कांग्रेस और भिन्न-भिन्न सहायक संस्थायें काम कर रही थीं, जिनके आपस में बहुत कुछ सहयोग था।

सस्थाओ के तमाम अगुआ टोकरियाँ और फावडे लेलेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लडकी की लाश बाहर निकाली। मै तो उस दिन मुगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बडी सफलता पूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक सस्थायें थी उन सबमें सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी सस्था नही थी। शीघ्र ही यह बढकर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल-भारतीय सस्था बन गई। इससे सबसे बडा लाभ यह था कि देहातो की कांग्रेस कमिटियो की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्तप्रान्त के कुछ जिलो को छोडकर कहीके कांग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानो के इतने अधिक सम्पर्क में नही थे जितने यहाँ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृषक-प्रदेश है और उनके मध्यम-वर्ग तक का किसानो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी-कभी, जब मै कांग्रेस के मत्री की हैसियत से बिहार-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नजर आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम में ढीलम-ढाल की मै बडे कडे शब्दो मे आलोचना किया करता था। वहाँ खडे रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरो में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौरपर जरूरी लवाजमे के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद, मै खूब अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तो में से था। यहाँ की कांग्रेस में ऊपरी तडक-भडक नही थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक

रूप से उसके पीछे था। आल-इंडिया कांग्रेस कमिटी में भी बिहार के प्रतिनिधियो ने शायद ही कभी किसी मामले मे उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहां देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भग के दोनो आन्दोलनो में बिहार ने बड़ा शानदार नमूना पेश किया। यहांतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भग के आन्दोलन में भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ-कमिटी ने किसानो तक पहुंचने के लिए इस सुन्दर सगठन से लाभ उठाया। देहात मे कोई भी साधन, यहांतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नही होसकते थे। और रिलीफ-कमिटी और बिहार कांग्रेस कमिटी दोनों के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने में एक किसान के समान, बिहार देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आंखो और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता। वह मुद्रा और वे आंखें भुलाई नहीं जासकती, क्योंकि उनमें झांककर सचाई आपकी ओर झांकती है और उनपर आप सदेह कर ही नहीं सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण हैं जिन्होंने उनको अपने ही प्रान्त का नहीं बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार में प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं। उनके सिवा, गाधीजी के वास्तविक सदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो विरले ही होंगे।

यह बड़े सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्रबाबू जैसे व्यक्ति बिहार में सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमे लोगो की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य में पिल पड़े। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योकि वह सारी कार्रवाइयो का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीके पास आते थे।

जिस समय मै भूकम्प के इलाको मे दौरा कर रहा था, या शायद वहाँ जाने से पहले, मुझे गाँधीजी का यह वक्तव्य पढकर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का दण्ड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मै उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इससे अधिक विरोध करनेवाली किसी और चीज की कल्पना करना कठिन है। कदाचित विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियो और मनोवैज्ञानिक घटनाओ के प्रभाव के विषय में इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नही कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओ में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बाते है जो हमको कई-सौ वर्ष पीछे लेजाती है, जबकि यूरप में धार्मिक अत्याचारो का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ्र के कारण जोर्डानो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियो को सूली पर चढा दिया। अठारहवी सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियो ने मासाचुसेट्स के

भूकम्पो का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भो की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प ईश्वरी पापो का दण्ड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करें कि हमको कौन-से पाप का दण्ड मिल रहा है ? क्योंकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुत-से पापो का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसन्द का कारण बता सकता है। शायद हम लोगो को एक विदेशी राजसत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौडी जागीरो के मालिक है, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान उठानेवालो में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते है कि यह जमीदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने की कि बिहार के करीब-करीब निरपराध निवासी, दक्षिण भारत के लोगो के अस्पृश्यता के पाप के बदले में पीडित किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यो नहीं आया ? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भग के लिए ईश्वरी दण्ड कह सकती है, क्योंकि, यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान पहुँचा, आजादी लडाई में बडा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनायें कर सकते है। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है, कि हम लोग परमात्मा की आज्ञाओं के प्रभाव को को अपने मानवीय प्रयत्नो से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यों में क्यो हस्तक्षेप करे ? और हमें इस पर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यो की—कि, पहले तो हम-को त्रुटियो से पूर्ण बनाया, हमारे चारो ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दु खपूर्ण ससार की रचना करदी,

मैना भी बनाया और भेड भी, और फिर हमको सजा भी देता है।

"जब तारो ने अपनी झिलमिल किरणे डाली जगती पर,
और गगन-मडल मे उनरी बूंदे रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठो पर ला सकता !
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता ?"१

पटना ठहरने की आखिरी रात को मैं बडी रात तक बहुत से मित्रो और सहयोगियो से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तो से सहायता-कार्य में अपनी सेवायें देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त के काफी ज्यादा प्रतिनिधि आये थे और हमारे कई छँटेछटाये कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें बडा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीडितो की सहायता के काम मे लगावे ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपने को राजनैतिक कार्य से अलग हटाले। सहायता का काम बडा कठिन था और ऐसा हम कर नहीं सकते थे कि जब-जब हमे फुरसत मिले तब तो उसे करे और फुरसत न हो तो न करे। इसमें लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनो तक गैरहाज़िर रहने की संभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पडे बिना नही रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत-से लोग थे, फिर भी करने-धरनेवालो की सख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जासकती थी। इधर भूकम्प के तकाजे की भी अवहेलना नही की जासकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम में लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगों की कमी न होगी, अलबत्ता अधिक खतरे के कामो को करनेवाले लोग बहुत थोडे थे।

१. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ्तार कर लिये गए थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मजाक में उन लोगो से कहा कि मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मैं ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मादा, इलाहाबाद में अपने घर पहुँचा। कडी मेहनत के दस दिनो ने मेरी शारीरिक अवस्था बडी भयानक बनादी थी और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित होगये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ-कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की लेकिन नीद ने मुझे आ-घेरा। अगले २४ घटो में से मैंने कम-से-कम १२ घटे नीद मे बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोत्तमदास टडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खडे हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमें से उतरा। मैं फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आगया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनो से आपका इन्तजार था।" वह जरा माफी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नही है। वारन्ट कलकत्ता से आया था।

मैं पाँच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मैं फिर एकान्त और तनहाई में भेज दिया गया। लेकिन दु.ख का असली भार मुझ पर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतो पर ही था—मेरी बीमार माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

: ५६ :

# अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यो टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरो पर ?
किधर खींच ले जावेगे अब झोको के यह उलझे तार,
दिखता नही प्रदीप, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !"[१]

उसी रात को मै कलकत्ता लेजाया गया। हावडा स्टेशन से लाल-बाज़ार पुलिस-थाने तक मुझे एक बडी काली मोटर-लारी में बिठाकर लेगये। कलकत्ता-पुलिस के इस मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे मे मैने बहुत-कुछ पढ रक्खा था। अत मै उस जगह को बडे चाव से देखने लगा। वहाँ अग्रेज सार्जेण्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बडी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बडे पुलिस-थाने में नही है। वहाँ के सिपाही अक्सर सभी बिहार और सयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलो के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पडता था और हर दफा इनमे से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे जरूर ही कुछ दु खी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टत वे मेरे साथ बडी हमदर्दी सी रखते थे। मैने देखा कि कई बार उनकी आँखो मे आँसू छलक पडते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल मे रक्खा गया और वहींसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत में लेजाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद।

और इमारत साधारण अदालत के-से नही बल्कि एक घिरे हुए किले के जैसे थे। सिवा कुछ अखबारवालो और वहीके वकीलो के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास भी नही फटकने दिया जाता था। पुलिस वहाँ काफी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नही किया गया था, यह तो वहाँका हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे मे जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पडता था, जिसके ऊपर और दोनो तरफ जालियाँ पडी हुई थी, मानो किसी पिंजडे में से निकल रहे हो। मुलजिम का कटघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालो और काले कोट और चोगेवाले वकीलो से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमो से काफी काम पड चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर होचुके हैं, परन्तु उन सब मौको पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पडता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहाँ पिंजडे वगैरा नजर न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारो तरफ अजनबी और बिना जान-पहचान की शक्लें नजर आती थी, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसन्द भी नहीं आये। चोगाधारी वकीलो की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नही मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत में वकीलो का नजारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। आखिर उस काली जमात में एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी उस झुण्ड में मिलकर कही गायब होगया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मैं बाहर झरोखे में बैठा रहता था, तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पडता था। मेरी नब्ज जरूर तेज होती होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा

पहले के मुकदमो के समय में रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुकदमो और सजाओ का तजुर्बा होते हुए भी मुझ पर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानो पर परिस्थिति का कितना बडा भार पडता होगा?

कटघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफाई पेश नहीं की गई, और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढकर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सजा होगई, और यो मेरी सातवी सजा शुरू हुई।

मेरी साढे पांच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे संतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से मे मैं काम मे काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खालिया था और अब वह खतरे से बच निकली थी। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी होचुकी थी, मेरी लडकी की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलो को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलो में तो, मैं जानता था कि, उस समय किसीके लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैंने काँग्रेस की ताकत को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारो के मार्ग की ओर मोडने मे जरूर कुछ मदद की। गाँधीजी के साथ मेरी पूना का पत्र-व्यवहार और बाद में अखबारो में निकले मेरे लेखो ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखो ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा, मैं दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद गाँधीजी और दूसरे मित्रो और साथियो से भी मिल लिया और कुछ समय तक काम करने के लिए दिली व दिमागी शक्ति जुटाली थी।

पर मेरे मन को दु खी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाज़ा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड न लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बडी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल मे चले जाने पर तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायेगी। मेरे बाहर रहने पर यह कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोडने को सहमा तैयार नही होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दु ख रह गया था। वह यह था कि इलाहबाद जिले के गावो में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गावो की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर-लारी ने मुझे फिर जेल मे पहुँचा दिया। रास्ते में कई फौजी सिपाही मशीनगन और फौजी-गाडी (आरमर्ड-कार) के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखो में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में खयाल आया कि फौजी-गाडी (आरमर्ड-कार) और टैंक[1] कितने भद्दे होते हैं। उन्हे देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवो, अजगरो इत्यादि का स्मरण होआया।

मेरा तबादला प्रेसीडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल में होगया और वहाँ मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौडी छोटी-सी कोठरी

१ सब प्रकार के युद्ध-साधनों से सज्जित जबरदस्त फ़ौलादी मोटर दुश्मन की तरफ से ज़हरीली हवावाले बम गोलों से रक्षा करने के लिए जो मुँह पर एक तरह का बुरका डाल दिया जाता है उसे 'गैसमास्क' कहते हैं—

अनु०

दीगई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, करीब सात फुट की, थी और उसपर से झाककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखाई दिया। सब तरह की बेढगी इमारते, इकमञ्जिली, गोल, चौकोर और अजीब छतो-वाली खडी थी। कई तो एक के ऊपर दूसरी नजर आती थी। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना-कोना भरने के लिए बनाई गई थी। यह बनावट मुझे तो किसी घरोदे की भूल-भुलैयाँ या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारते बडे सिलसिले से बनी हुई है, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई कैदियो का गिर्जा है) और उसके चारो तरफ घरो की लाइने है। चूंकि यह जेल शहर में था, इस वजह से ज़मीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकडा भी काम मे लाये बिना छोडा नहीं जासकता था।

मैं अभी शुरुआत के इस भोडे नज़ारे को देखकर नजर हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा डरावना दृश्य दीख पडा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खडी दिखाई दी, जिनमें से हमेशा गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ आकर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानो की चिम-नियाँ थी। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियो पर 'गैसमास्क' लगा दे।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटो की इमारतो का दृश्य और वही बावर्चीखानो की चिमनियो का धुआँ रात-दिन साँस और मुहँ में जाना, सामने था। मेरे सहन में पेड या हरियाली कुछ न थे। वह यो तो पत्थरो का पक्का और साफ बना हुआ था, पर

रोज़-रोज़ धुआँ जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहीं से पड़ौसवाले सहनों के एक-दो दरख्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नजर आते थे। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख्त बिना पत्ते और फूलों के ठूँठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होना शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोंपलें निकलने लगीं। कोंपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखाओं को खुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी बड़ी खुशनुमा होगई।

इनमें से एक दरख्त में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी क़ैदी के हाथ या मुँह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

क़रीब-क़रीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे न कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर-से-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पाँच क़दम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक्त मुझे चिड़ियाघर के रीछ के अपने पिंजरे में इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आजाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफ़ी शान्त होता था, केवल शहर की मुख्तलिफ़ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफ़ोन या दूर से किसी के गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थी। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज़ खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई

मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नही गया है। हर रोज तीन बजे रात से बडा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व माँजने की आवाज आती। उस वक्त रसोई में काम शुरू होजाता था।

प्रेसिडेन्सी-जेल के माफिक अलीपुर-जेल में भी एक बडी तादाद वार्डरो व पहरेदारो, अफसरो और क्लर्को की थी। इन दोनो जेलो की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियो की तादाद इन हरेक जेल मे नैनी-जेल से दुगनी से भी ज्यादा थी। इनमे कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफसर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ जाहिर होती थी कि अंग्रेजी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और खर्चीला है। किसी बडे अफसर के पहुँचने पर जो नारा सब कैदियो को लगाना पडता था वह साम्राज्य की ताकत का एक चिन्ह और याद-दिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज मे और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पडता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से कैदियो के इस नारे की आवाज दिन में कई मर्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फुट ऊँची दीवार पर से मै उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मै हैरत मे आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की वह हरकत किसी पुराने जमाने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज अफसर की ईजाद है? मुझे पता तो नही, पर मेरा कयास है कि यह अंग्रेजो की ईजाद है। इसमें एक खास किस्म के एंग्लो-इंडियनपन की बू आती है। खुश-किस्मती से इस नारे का रिवाज सिवा बंगाल और आसाम के युक्तप्रान्त

या हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। सरकार की शान को क़ायम रखने के लिए जिस तरीक़े से इस सलामी पर ज़ोर दिया जाता है, वह मुझे हक़ीकत में ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल में एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाँ के साधारण कैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कहीं अच्छा था। जेल के खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, विमल वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आगई। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और चन्द दिनों के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत क़ुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई उन्नति न हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटों कोठरी बन्द रहने से मेरी तंदुरुस्ती कुछ गिर गई और मेरा वज़न तेज़ी से घटने लगा। मुझे तालों, चटखनियों, सींखचों और दीवारों से नफ़रत-सी होने लग गई।

अलीपुर में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दीगई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी होगया और रसोई-घर भी, मय उसके धुंए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई होगई। इस अर्से में मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नई-नई परेशानियाँ तंग करने लगीं। बाहर की खबरें भी अच्छी नहीं थीं।

: ६० :

# पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे यह मालूम हुआ कि सजा होने के बाद मुझे कोई रोजाना अखबार नही मिलेगा, तब मुझे बडा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुकदमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ते का रोजाना अखबार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीजन के कैदियो को सरकार की मर्जी का एक रोजाना अखबार हमेशा मिलता था। ज्यादातर बाकी के दूसरे सूबो मे भी यही बात है। और मै बिलकुल इसी खयाल मे था कि यही कानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ जाहिर है कि यह अखबार तो उन अंग्रेजो के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोजगार करने के बाद वापस इग्लैण्ड पहुँच जाते हैं। इसलिए इस अखबार मे हिन्दुस्तान की उन खबरो का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस साप्ताहिक में विलायतो की खबरे तो बिलकुल नही होती थी। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योंकि मै उनको सिलसिलेवार पढते रहना चाहता था। खुशकिस्मती से मुझे साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अखबार भी मिलने लगा था, जिससे मुझे यूरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो की जानकारी होजाती थी।

फरवरी में जब मै गिरफ्तार हुआ और जब मुझ पर मुकदमा चला तभी यूरप में बडी उथल-पुथल और झगडे हुए। फ्रान्स में भारी खलबली मची, जिसमें फेसिस्टो ने दगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय

सरकार क़ायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चान्सलर डॉलफ़स मज़दूरों पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल-भवन को ढारहा था। आस्ट्रिया में होने वाली खून-खराबी की खबर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और खूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाजत करने के लिए कैसा बर्बर बन जाता है? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम यूरप और अमेरिका में फ़ेसिज्म का जोर बढ़ता जाता है। जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया था। इसी तरह जब दूसरी जगह भी फ़ेसिज्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आखिरी मंज़िल है, इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह खयाल कहीं मेरी ख्वाहिश से ही तो नहीं पैदा हुआ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ़ दिखाई देती है कि फ़ेसिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी? यदि ऐसी हालत पैदा होगई, जो फ़ेसिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'हुकूमत की बागडोर को छोड़ देने के बदले' अपने देशों को सत्यानाशी लड़ाई में न जुटा देंगे? ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा?

इस बीच में फ़ेसिज्म कई किस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। स्पेन, वह 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' जिसे किसीने सरकारों का खास 'मैन्चेस्टर गार्जियन' कहा था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे में जापड़ा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति को न रोक सकीं। हर जगह मौजूदा हालतों का मुकाबिला करने में लिबरल-नीति

बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दों और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाजुक वक्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तसवीर।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखों को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी कद्र भी करता था। "और इस खूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर यूरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इंग्लैण्ड आजादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यों है? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफें की है वे हमने सुनी हैं, हमने उन्हें यह कहते हुए सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की आत्मा को ज़िन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताकत पैदा करती है।' लेकिन इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि ज़ाहिरा शरीर का नाश करते हैं, किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आज़ादी का ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आज़ादी को कुचला जाता है तब उसका मुँह बन्द होजाता है? हम लोगों को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफें उठानी पड़ी हैं बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी भोगने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोकतन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा करदी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आज़ादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"उस यूरप ने जो कि आजाद नहीं है, सास लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का आवागमन नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नजदीक आ-रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने-बायें हर तरफ धड़ाधड़ वार करने से ही बचाया जासकता है । राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक यूरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है ।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे ! मेरे दिल मे इनकी प्रतिध्वनि होती थी, लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है ? यह कैसे होसकता है कि 'मैन्चेस्टर गार्जियन' या इंग्लैण्ड में जो बहुत-से आजादी के दीवाने है वे हमारी हालत की बाबत इतने उदासीन रहते है ? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने जोरों से निन्दा करते है, जब वही बातें हिन्दुस्तान में होती हैं, तो उनकी तरफ वे क्यों नहीं देखते ? बीस बरस पहले, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो उन्नीस वीं सदी के परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूंक-फूंककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर सयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दु खदायी जीत को मैं चुपचाप देखूं, मैं यह देखना पसन्द करूंगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय ।" कितना बहादुराना खयाल है, और कैसे धारा-प्रवाह ढंग से कहा गया है ! इंग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये । लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एस्क्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा ?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है । हममें से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े इन्साफ़पसन्द और निष्पक्ष है । हमेशा ग़लती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है । हमारे दिमाग़ में

कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में जरूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि नफासत की वजह से हम बारबार उस बात को न कहें। अगर खुश-किस्मती से हम किसी ऐसी शाही कौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल होजाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोत्तम हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए आन्दोलन करते हैं वे केवल खुदगर्ज और भ्रम में पड़े हुए बेवकूफ ही नहीं हैं बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी कृतघ्नता करनेवाले हैं।

अंग्रेज टापू में रहनेवाली और संकुचित दृष्टि रखनेवाली जाति है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमंडी बना दिया है कि अंग्रेज करीब-करीब दूसरी सब कौमों को घृणा की नजर से देखते हैं। जैसा कि किसीने कहा है, 'उनकी राय में इंग्लैण्ड के समुद्र से आगे हबशी-ही-हबशी रहते हैं।' लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश कौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ सफेद चमड़ीवाले और अमेरिका (सिर्फ एंग्लो-सैक्शन अमेरिका—डागो, इटैलियन वगैरा नहीं), (३) पश्चिमी यूरप, (४) बाकी यूरप (५) दक्षिणी अमेरिका (लैटिन कौम), और फिर बहुत दूर तक कोई नहीं। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली भूरी कौमों के आदमी, जो कम-बढ़कर सब एक ही बोरे में भर दिये जासकने योग्य समझे जाते हैं।

इन दर्जों में आखिरी दर्जे के हम लोग उस ऊँचाई से कितनी दूर हैं, जिसपर हमारे शासक रहते हैं? ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज

की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ देखते है तब उनकी नजर धुँधली होजाती है, और जब हम लोकतन्त्र और आजादी की बाते करते है तब वे हमसे चिढते है ? ये शब्द हमारे इस्तैमाल के लिए थोडे ही घडे गये थे। क्या यह बात एक बडे लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी, कि वह बहुत दूर के धुँधले भविष्य में भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान में लोकतन्त्रीय सस्थायें कायम होगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतन्त्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरो का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ)। और इसके बाद उस मजदूर दल ने जो समाजवाद का झण्डा लिये फिरता था, सब पददलित लोगो का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी में हमें सन् १९२४ के बंगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल मे हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमें से कोई हमारा बुरा नही चेतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढंग से 'बहुत ही प्यारे विश्वबन्धु !' कहकर पुकारते है तब वे अपनी कर्तव्यपरायणता पर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन उनकी राय मे हम उतने ऊँचे नही हैं, जितने कि वे खुद हैं, अत उनके विचार में दूसरे पैमानों से ही हमारी जांच होनी चाहिए। भाषा और सास्कृतिक भेद-भावो के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचे। ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज मे तो और भी ज्यादा फर्क होगा।

हाल ही में, हाउस ऑफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले नाना-सुधारो के प्रश्न पर बहस होरही थी और अनेक सम्माननीय लॉर्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान में एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय

के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार सारे हिन्दुस्तान की कही अधिक प्रतिनिधि है बनिस्वत कांग्रेसी नेताओं के। वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रेजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की तरफ से बोल सकती है, जबकि कांग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी कौमों में से किसी एक कौम की तरफ से भी नहीं बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया—"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगों का खयाल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरों और वाइसरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[१]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बाते निकलती हैं—एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है, और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा प्रतिनिधि-स्वरूप और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतन्त्रीय सस्था है। इस दलील का इतनी सजीवगी से दिया जाना यह जाहिर करता है कि अग्रेजी के शब्द स्वेज नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते है। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय स्वरूप की होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुँच जासकते है। स्वेच्छाचार-शिरोमणि फ्रेञ्च-सम्राट् लुई

१. हाउस ऑफ लॉर्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

चौदहवे ने भी तो कहा था न कि 'राज्य—राज्य तो मैं ही हूँ मैं ?'

सच बात तो यह है कि हाल में विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए, कहा था कि देशी रियासतो में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी कोई जरूरत न थी, क्योकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छाचारिता को नही छोडेगी। इसी कोशिश में एक और दिलचस्प तरक्की यह हुई है कि, यूरप में लोकतत्र के नाकामयाब होने के आधार पर इस स्वेच्छाचारिता को कायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवान सर मिर्ज़ा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतत्र नाकामयाब होरहा है, दूसरी तरफ इनकलाबी सुधारो की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान क़रीब-करीब असली राजनैतिक कामो के लिए काफी लोकतत्रीय है।"[1] मेरे खयाल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहांके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनो जो लोकतत्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नही है।

अगर लोकतत्र हिन्दुस्तान के लिए मौज़ूँ नहीं है, तो ऐसा मालूम पडता है कि वह मिस्र के लिए भी उतना ही बेमौज़ूँ है। इन दिनो जेल में मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमें मैंने मिस्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ खरीता अभी हाल ही पढा है।[2] उस खरीते में कहा गया है कि वहां के प्रधान-मत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने

१ मैसूर . २१ जून १९३६। पृष्ठ ६४३ का भी नोट देखिए।
२. १९ दिसम्बर १९३४।

कि उन्हें 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, खासतौर पर वफ्द-पार्टी, एक होजायेंगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-विधायक असेम्बली का चुनाव करके उनके ज़रिये नया विधान तैयार करायेंगी', ज़िम्मेदार लोगों में कुछ कम भय पैदा नहीं किया है, क्योंकि आख़िर इसके मानी यही होते हैं कि लोकतंत्रीय सरकार फिर से कायम होजाय, जो, इतिहास ज़ाहिर करता है, मिस्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले ज़माने में हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही हैं। मिस्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात में कोई शक नहीं होसकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत होजाय। इसीलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आजायगा जो घोर उग्र लोकतंत्रीय, विदेशियों का विरोध और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव में "वफ्द-पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" शासकों को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान-मंत्री को कानून की पाबन्दी का बहुत खयाल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि अब सिर्फ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार बीच में पड़े और "यह बात सबको ज़ाहिर करदे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से कायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिस्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[1] लेकिन शायद आज़ादी के दीवाने एक

१. नवम्बर १९३४ में मिस्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के खिलाफ मुल्क-भर में दंगे हुए थे।

अंग्रेज द्वारा पेश की गई दलील से हमें मिस्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद जरूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि जिन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग़ के जिस रुख से लोकतंत्र का विकास होता है उससे साधारण मिस्री वोटर की जिन्दगी के तरीके और उसके दिमाग के रुख का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है "यूरप में अक्सर लोकतंत्र इसलिए नाकामयाब हुआ है, क्योंकि वहाँ बहुत-से दल कायम होगये हैं। लेकिन मिस्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ एक वफद-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतंत्र की तरक्की का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफी एका नहीं है। मिस्र में किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतंत्र और उसके स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सच-मुच लोकतन्त्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोक-तंत्र का सिर्फ एक ही अर्थ है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ में हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतंत्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

: ६१ :

# नैराश्य

"अब तो यही लालसा है माँ, जाऊँ आकुल लेट वहाँ,
ठंडी-ठंडी मधुर मनोरम हरियाली हो बिछी जहाँ,
माँ धरणी ! चरणो पर तेरे निपट निराश-अधीन,
थके हुए इस बालक के वे स्वप्न सभी होगये विलीन" ।[१]

अप्रैल आगया । अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओ की बाबत अफवाहे पहुँची—ऐसी अफवाहे जो दुःख और बेचैनी पैदा करनेवाली थी । एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस लेली है । मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नही होसका । मुझे यह खबर अच्छी नही लगी और जिस चीज को मै इतने बरसो से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर मुझे रंज हुआ । फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाज़िमी था । अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लड़ाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी । मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजो की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहे लेकिन राष्ट्रीय सस्थायें ऐसा नही करती । मुझे इस बात में कोई शक न था कि गांधीजी ने देश की स्थिति और अधिकांश कांग्रेसवादियो के मनोभावो को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैंने अपने-आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की ।

१. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौंसिलों में जाने की गरज से पुरानी स्वराज-पार्टी को फिर से जिन्दा करने की नई कोशिश की जारही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय थी कि कांग्रेस अगले चुनावों से अलग नहीं रह सकती। जब मैं पाँच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलों की तरफ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ सीधी लड़ाई से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक क्रान्ति के उन नये खयालों के विकास से भी बाधा पड़ती थी जो कांग्रेसवालों के दिलों में घर करते जारहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये खयाल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह ज़ाहिर होजायगी। जैसा कि लेनिन ने कहीं कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीज़ों को रोशनी में लेआता है, राजनीति की तह में जो वास्तविक शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें दिखा देता है, वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्दजाल का और गपोड़ों का भण्डाफोड़ कर देता है, वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालों का दिमाग साफ होजायगा और कांग्रेस में एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मजबूत जमात हो जायगी। शायद उसके कुछ कमजोर हिस्से उसे छोड़ जायेंगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसकी नीति उदार या मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीकों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनों से

काम लेने का वक्त आयगा, तब कांग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव मे क्रियाशील पक्ष के, लोग इन तरीको का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेगे।

जाहिर तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आगया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कांग्रेस के कारगर कामो के आधार-स्तम्भ रहे है वे पीछे को हट रहे है और दूसरे लोग जिन्होने ऐसा कोई काम नही किया अपनी हुकूमत जमाने लगे है।

इसके कुछ दिन बाद मेरे पास हफ्तेवार 'स्टेट्समैन' आया और उसमे मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बाते मेरे दिमाग से गायब होगई और उनकी जगह शक और संघर्ष ने मेरा दिमाग भर गया। गांधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियो से हुई, एक आपसी बातचीत का परिणाम है।" इसका मुख्य कारण वह आंखे खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध मे मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किनारे पड़ना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमो के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे कि मै बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओ की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओ का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा था कि 'मेरा ख्याल है कि आप मेरी दुर्बलता को जानते है, लेकिन मै अन्धा था। नेता मे अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फौरन यह भांप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मै अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूंगा।

अगर गांधीजी के मिज़ में यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अक्सर इन जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफ़सोस नहीं है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें बीसियों हज़ार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं, महज़ इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई ग़लती कर डाली अचानक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयकर और हर तरह अनीति-मय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है लेकिन अपने साधारण तरीक़े पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ हो गये। मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी आमतौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक काम करते हैं। गांधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पैदा करते हैं वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए ख़यालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर पुरुष क़रीब-क़रीब हमेशा किसी अज्ञात-प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूँढने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गांधीजी ने ठीक ही किया।

लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होने बताये है वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हे पूरा हक था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालो के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योकि उन लोगो ने सब तरह की प्रतिज्ञायें ले रखी थी और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रखा था। लेकिन कांग्रेस ने ऐसी कोई बात नही की थी। मैंने ऐसी कोई बात नही की थी। फिर हमें उन सब कारणो के लिए, जो हमे आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे, और जिनमें हमे कोई दिलचस्पी नही थी, कभी इधर कभी उधर क्यो फेंका जाता था? क्या कभी ऐसे आधारो पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जासकती है? मै यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मै यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नही है। लेकिन यह नई तरक्की या नई व्याख्या उससे कही ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नई बाते उठ खड़े होने की सम्भावना थी, जिन्होने मुझे विचलित कर दिया।

उस सारे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त में गाधीजी ने कांग्रेसवालो को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हे आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा, उन्हे राष्ट्र-निर्माण के काम मे लग जाना चाहिए, उन्हे स्वय हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष

समभाव स्थापित करने [illegible] सांस्कृतिक [illegible] पैदा होना चाहिए, मगर उनके [illegible] द्वारा [illegible] जीवन में निराडम्बर रहना चाहिए और [illegible] करके और अपने आचरण का [illegible] मादक चीजों के त्याग का प्रचार करना चाहिए। ये बातें हैं [illegible] गरीबों की [illegible] होजाना है। जो लोग गरीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे में पड़ जाना चाहिए, जिससे [illegible] मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षों से उनसे बांध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वन्द्व होरहा था। गांधीजी ने जो बातें कीं उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में ही आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं। सत्याग्रह की लड़ाई जारी रखते हुए, उसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मॅझधार में थे, उनके उपवास और दूसरी बातों में अपनी ताक़त लगाना, उनकी निजी और स्वयं-निर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में डालदिया कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई-नई निष्ठायें और नई प्रतिज्ञायें, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अब-तक पूरे न हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मैं चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात

इससे और भी आगे बढी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलो मे मेरे साफ और निश्चित विचार है और वे उनके विचारो से नही मिलते। और फिर भी अबतक मै इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आज़ादी के जिस ध्येय के लिए कॉंग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने, मै अपने खयालो को दबाये रखूं। अपने नेता और अपने साथियो के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की क्योकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियो के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊंचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लगर से दूर खीचा जारहा है, तब-तब मुझे अपने मन में बडे-बडे अन्तर्द्वन्द्व लडने पडे है, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने गलती की, क्योकि यह तो किसीके लिए ठीक नही होसकता कि वह अपने आध्यात्मिक लगर को छोड दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर मे मै अपने साथियो के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओ की रेल-पेल और हमारी लडाई का विकास उन सब मुश्किलो को दूर कर देगा जो मुझे दु ख दे रही है और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नज़दीक ले आयेगा।

और अब तो एकाएक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दूभर, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन मे मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये है, उनमे सबसे अधिक कठोर और दुखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयो पर किसी का भरोसा करना उचित नही है। हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा

रखना चाहिए, दूसरो पर भरोसा करना जबर्दस्त निराशा और आफतो को न्यौता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारो की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नही है? यह दृष्टिकोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजो से वह कितनी दूर है? हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानवस्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नही रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओ के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखें मूँद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है, फिर भी उसे सत्य को—सम्पूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास होजाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नही करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल में सत्य है या नही? वह तो दूसरो को उसके विषय में कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूंढने का सकल्प और विश्वास की भावना दोनो जुदी-जुदी चीजें है। धर्म बातें तो शाति की करता है लेकिन उन प्रणालियो और व्यवस्थाओ का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के जिन्दा नही रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शाति का लबादा ओढे चुप-चाप आती है और लोगो को भूखो तड़पाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बिना किसी प्रकार के जाहिरा शारीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है?

और इसके बाद में फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आखिर गांधीजी कैसे आश्चर्य-जनक आदमी है। उनकी मोहकता कितनी ताज्जुब मे डालनेवाली और एकदम अबाध्य है और लोगो पर उनका कैसा अद्भुत अधिकार है! उनकी बाते और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत-कम परिचय करा पाते है। इनमे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाये कितनी महान् है। उन्होने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूँक दी है, अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा करदी है। उन्होने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नीव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते है, फिर भी उन्होने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ मे ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही होसकती है, न कोई आशा ही पूरी होसकती है।" और बिना अनुशासन के बलिदान का कोई लाभ नही। शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हो। लेकिन इन शब्दो के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप मे वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीडित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक

प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें जो त्रुटियाँ थीं, वे भारत की त्रुटियाँ थीं। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे यह नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज़ कान्फ्रेंस से लौट रहे थे, तब पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया था यह जानकर मुझे कितना दुःख हुआ था मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान प्रतीत हुआ और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि इन्कार जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फ़िरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नहीं करते और क्योंकि प्रोटेस्टेन्ट-मत के कुछ लोगों ने गांधीजी को सच्चा ईसाई और बड़ा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी ज़रूरी हो गया कि वह इस कुफ़्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में करीब-करीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढ़े और 'ऑन दि रॉक्स्' ( शिला पर ) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमें ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत आकर्षक लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए बहुत मौज़ूँ मालूम हुई। इसमें ईसामसीह ने पाइलेट से कहा है—"मैं तुमसे कहता हूँ कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, ग़रीबों का डर, अमीरों का डर, उच्च-मठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों

का डर जो विद्वान् हैं, उन गॉल निवासियों, गॉथों और हूणों का डर जो जंगली हैं, उस कायरेज का, जिसके डर से अपने को बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही नीजर की उस मूर्ति का, जो तुम्हीने बनाई है और मुझ-सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़ कर बाकी सब चीजों का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नहीं। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत-जाहिर कायर हो और मैं जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूँ, प्राणपन की बाजी लगा चुका हूँ, अपना सब कुछ तक गवाँ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ।"

लेकिन गांधीजी की महानता का, भारत के प्रति उनकी महान् सेवाओं का या मेरे प्रति की गई उनकी महान् उदारताओं का, जिनके लिए मैं उनका ऋणी हूँ, कोई प्रश्न ही नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में, बुरी तरह गलती कर सकते हैं। आखिर उनका लक्ष्य क्या है? इतने वर्षों तक उनके नजदीक-से नजदीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग में यह बात साफ-साफ नहीं दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है। मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में खुद उनका दिमाग कहाँतक साफ है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते। वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिन्ता रक्खें तो साध्य अपने आप ठीक होजायगा। अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाकी सब बातें अपने आप ठीक हो जायँगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है।

यह तो संकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गांधीजी चरित्र पर ही सब जोर लगा देते हैं, और मानसिक-शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नहीं देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में क्या रह जाता है? सचमुच, आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गान्धीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते हैं उसका अधिकांश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से कतई मेल नहीं खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने धुंधले नहीं हैं जितने वह कभी-कभी मालूम होते हैं। वह किसी एक खास दिशा में जाने के लिए बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ जाना आजकल के ख्यालों और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल खिलाफ है और अबतक वह इन दोनों का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियां ही खोज पाते हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दें। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचीस बरस से, उस वक्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफरीका में अपने जीवन-सिद्धान्त

निश्चित करने शुरू किये तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ जाहिर है। मुझे पता नही कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारो के द्योतक है या नही। वे उनके विचारो को पूरी तरह व्यक्त करते है, मुझे तो इस बात मे शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमे उनके विचारो की तह मे जो भावनायें काम करती रही है उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ में उन्होने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसी मे है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजें मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जानेवाली जातियो को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानो का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है। और "जब-जब मैं रेल या मोटर में बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मै ठीक समझता हूँ उसीके साथ मे हिंसा कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेजी से चलनेवाली चीजो से दुनिया का सुधार करने की कोशिश बिल्कुल नामुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुँचानेवाली बाते मालूम होती है जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी-जीवन के प्रति गाधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातो का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात में नही है कि हम अपनी आवश्यकताओ को बढाते चले जायें और अपने रहन-सहन का ढँग ज्यादा खर्चीला करले, बल्कि इस बात में है कि 'हम अपनी जरूरतो को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कम करले, क्योकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढती है।" अगर हम एक बार इन उत्पत्तियो को मानले तो गाधीजी के बाकी

के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इनको नहीं जानते और जब हम यह देखते हैं कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते हैं।

व्यक्तिगत रूप में मुझे गरीबी की और तकलीफ झेलने की तारीफ़ करना पसन्द नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि वे किसी प्रकार वांछनीय हैं, बल्कि मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिए। न मैं समाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूं, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो। मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूं और उसकी कद्र भी करता हूं, लेकिन शरीर का दमन करने के पक्ष में नहीं हूं। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना ज़रूरी है वैसे ही इस बात की भी ज़रूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें। यह आशा करना तो बेहूदगी होगी कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन में फंसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-संयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उन्नत रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत में रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो तप ही है और न आत्मपीडन ही है।

'किसानों की-सी सादा ज़िन्दगी' का आदर्श मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो करीब-करीब उससे घबड़ाता-सा हूं और खुद उनकी-सी ज़िन्दगी बर्दाश्त करने के बदले में तो किसानों को भी उस ज़िन्दगी में से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूं—उन्हें शहरी बनाकर नहीं बल्कि देहातों में शहरों की सांस्कृतिक सुविधायें पहुंचा कर। किसानों की-सी यह

सादा ज़िन्दगी मुझे सुख तो कतई नही देती,वह तो मुझे करीब-करीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर "फावडेवाले' आदमियो" में ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय ? अनन्त युगो से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओ मे जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नही रह गया है।

"किसने यो कर दिया उसे है भूत-सा हर्ष-निराशा से ?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।
स्तब्ध, मूक, जडरूप खडा वह, करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दें जिससे।"[१]

मानव-बुद्धि से काम न लेकर पुराने जगलीपन की स्थिति मे, जहा बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नही था, पहुँचने की बात मेरी समझ में बिलकुल नही आती। स्वय उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग के लिए भाररूप है और उसकी तरक्की को रोकती है, वाञ्छनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयो से भरी हुई है, लेकिन उसमे अच्छाइयाँ भी भरी पडी है, और उसमें वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयो को दूर कर सके। उसको जड-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दु खमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वाञ्छनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नही सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते है, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममे से जिन लोगो ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जगलीपन की स्थिति में जाना पसन्द नही कर सकते।

१. अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

इस बात में तर्क करना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनो दृष्टिकोण बिल्कुल जुदे हैं। गाधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते है, जब कि हममें से अधिकांश लोगों के मन में समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसीलिए मैं गाधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नही समझ पाता हूं। वह समाज या सामाजिक ढाचे को बदलना नहीं चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नही डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्हीं नियमो से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये है।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नो में वह काफी आगे बढ जाते हैं। पर वह जो सुधार करना चाहते हैं वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी हैं इन्द्रियो पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फेसिज्म पर लिखने वाले एक योग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने आजादी की जो परिभाषा की है, शायद गाधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है— "आजादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नही है।" दो सौ वर्ष पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आजादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनो से और मनुष्य की बुरी कामनाओ, वासनाओ और असाधारण इच्छाओ के जाल से मुक्ति।"[१]

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गाधीजी का जो रुख है और जो कि आजकल के

१ यह उद्धरण जिस पत्र मे लिया गया है वह ६४९ पृष्ठ पर दिया जा चुका है।

औसत आदमी को गैरमामूली-मा मालूम होना है वह भी कुछ-कुछ समझ मे आसकता है। उनकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस मे सहवास करना पाप है।" और 'सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनो को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होना है।" "अपने कामो के परिणामो से बचने की कोशिश करना गलत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो जरूरत से ज्यादा पेट भर्ले और फिर कोई टॉनिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजो से बचने की कोशिश करे। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारो को तृप्त करे और फिर उसके परिणामो से बचे।"

व्यक्तिगत रूप से मैं गाधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गाधीजी की बात सही है तो मैं तो उन पापियो में से हूँ जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के किनारे पहुँच चुके है। रोमन कैथोलिको ने भी बडे जोरो से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है। लेकिन वे अपनी दलीलो को उस आखिरी दर्जे तक नही लेगये जिस दर्जे तक गाधीजी ले गये है। उसे वे इन्सानी फितरत समझते है, उसके साथ उन्होने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट देदी है।[1] लेकिन गाधीजी तो अपनी दलील की आखिरी हद तक

१ ईसाइयो के विवाह के बारे में ११ वे पायस पोप ने ३१ दिसम्बर १९३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हको का गम्भीर और प्राकृतिक कारणो से उपयोग करे तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ काम कर रहे है, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी खराबी के कारण उनके बच्चे पैदा हो या न हो।" समय की परिस्थिति से मतलब जाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

पहुँच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसग को जरूरी या न्याय्य नही समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषो मे परस्पर एक-दूसरे की तरफ कुदरती खिंचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुषो में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नही रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का सकेत किया गया वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जासकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई और बहन में, माँ और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते है—"नही, मुझे अपनी पूरी ताकत के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[1] और फ्रूड के विचारो और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में किसी विश्वास को इतने जोरदार शब्दो में

१. ऑडीपस थेबीज के राजा लेइस का लडका था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लडकों के हाथो मारा जायगा। इस पर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया, और उसने कॉरिन्थ के बादशाह पॉलिबस को देदिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बडा हुआ और जब उसे इस भविष्य-वाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा अपनी माँ से शादी कर लेगा, तो घर छोडकर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और माँ जोकेस्टा मिले। वह उन्हें पहचानता न था, अत. बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और

प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नहीं। इसे आप माने या न मानें। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ से तो मैं कह सकता हूँ कि इस मामले में गांधीजी बिलकुल गलती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक होसकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप में तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभंग मृगी वगैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जायँगे। विषयभोग में संयम जरूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात में शक है कि गांधीजी के उसूलों से यह संयम किसी बड़ी हद तक होसकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज्यादातर लोग यही समझते हैं कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नी में खटपट होजाती है। स्पष्टतः गांधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोक अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार, बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा

---

जोकेस्टा से शादी करली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मन शास्त्री फ्रूड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लड़के की अपनी माँ के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो। —अनु०

को पहुँच जाते हैं जो मुझे बहुत गैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती हैं। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ आरही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूँ कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके काबू में हुआ और न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। वह केवल गौण रूप में ही रही है।

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस तपस्वी साधु जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीकों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो ससारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए, इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बरदाश्त करना पडता है।

म विषय से बाहर वह पडा हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दु ख-दायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढकर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मैं ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना गुब्बार निकाल--कर अपने मन-माफिक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर

जेल के अन्दर ऐसा नही होसकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बडी बुरी तरह बीते। खुशकिस्मती से मै बडा खुशमिजाज हूँ और मायूसी के हमलो से बडी जल्दी सम्हल जाता हूँ। इसलिए मै अपने दुख को भूलने लगा। इसके बाद जेल मे कमला से मेरी मुलाकात हुई। उससे मुझे और भी खुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यो न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो है ही।

## : ६२ :

## विकट समस्यायें

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नही जानते और जिन्होने सिर्फ उनके लेखो को ही पढा है वे अक्सर यह सोच बैठते है कि गांधीजी कोई विरक्त साधू-से है—खुश्क जाहिद की तरह मनहूस और मुँह लट-काये हुए। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते है। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कही ज्यादा बडे है। इसलिए उन्होने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उसकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ नही किया जासकता। धर्मोपासको के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्करा-हट आल्हादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते है। उनमे भोले बच्चो की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताजी हवा का झोका लेते आते है जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनो के एक असाधारण नमूने है। मेरा खयाल है कि तमाम

मशहूर और खास शख्स कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना खयाल रखते हुए भी एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे के पक्ष में हैं जो सोलहों आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो क्रम-बद्ध एक दार्शनिक अराजक हैं, लेकिन क्योंकि अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका कयास भी नहीं कर सकते, इसलिए वह मौजूदा व्यवस्था को मंजूर करते हैं। मेरा खयाल है कि प्रणाली को बदलने में हिंसा के इस्तेमाल की बाबत उन्हें जो ऐतराज है वह महज साधन के लिहाज से ही नहीं है, क्योंकि मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए किन ज़रियों से काम लेना चाहिए इस सवाल से बिलकुल अलग हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आंखों के सामने रख सकते हैं, जिसको ज्यादा दूर के भविष्य में नहीं, नजदीक भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते हैं, लेकिन वह समाज-वाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकार नहीं है जो आमतौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी देखादेखी में पीछे-पीछे चलते हुए कुछ प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कांग्रेसी भी उन्हींके ढंग में समाजवाद शब्द का इस्तेमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाज-वाद से उनका मतलब [illegible] की एक किस्म की गोलमटोल ख़िद-

मन मे होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने में वह जो गलती करते हैं उनमें बड़े-बड़े नामी शख्स उनके साथ हैं, क्योंकि वह तो सिर्फ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे हैं।[१] मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी समाजवाद से नावाकिफ नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और इन विषयो पर दूसरो के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन मे यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलो मे अकेला दिमाग बजात खुद हमें ज्यादा दूर तक नहीं लेजाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नही करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते हैं और मन उनके काबू में रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल मे तो सहजज्ञान या मनोभावो पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का सकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का सकल्प करना चाहे उसका सकल्प नही कर सकता।"

दक्षिण अफरीका में अपने शुरू के दिनो में गांधीजी में बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे में

१. जनवरी, सन् ३५ मे एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टो के एसोसियेशन के सघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडोनेल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयां हरेक मुल्क के लोगो के लिए यह लाजिमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताकत से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होंने अपने तमाम खयालों के लिए एक बुनियाद बनाली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उनको कई बातें सुझाते हैं उनकी बातों को वह बड़े भारी धीरज और ध्यान से सुनते हैं, लेकिन उनसे बातें करनेवाले पर यह असर पड़ता है कि वह जो शराफत व दिलचस्पी दिखा रहे हैं उस सबके बावजूद उन बातों के लिए उनके मन का दरवाजा बन्द है। कुछ खयालात से उनका लंगर ऐसा बन्ध गया है कि और सब बातें उन्हें महत्त्व की नहीं मालूम होतीं। उनकी राय में दूसरी और अ-प्रधान बातों पर जोर देने से ज्यादा बड़ी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत होजायगा। अगर हम उस लंगर को पकड़े रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम जरूरीतौर पर अपने-आप वाजिब तरीके से ठीक होजायँगे। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी लाज़िमीतौर पर ठीक होजायगा।

मेरे खयाल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उसमें भी ज्यादा खासतौर पर मार्क्सवाद को सदेह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। 'वर्ग-युद्ध' शब्द में ही उन्हें लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते हैं। इसके अलावा वह यह भी नहीं चाहते कि आम लोगों के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढ़ाया जाय, क्योंकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फ़ुर्सत में रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास में लगे रहते हैं, अगर ऐसे लोगों की तादाद और भी बढ़ा दीगई तब तो बहुत ही बुरा होजायगा। १९२६ में उन्होंने जो एक खत लिखा था उससे हम ऐसे कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। इंग्लैण्ड

में उन दिनो कोयले की खानो में मजदूरो ने बहुत बडी हड़ताल करदी थी, और खानो के मालिको ने खाने बन्द करदी थी। इस कशमकश के दौरान में उनके पास जो खत आया था, उसके जवाब में उन्होने यह खत लिखा था। जिन साहब ने उन्हे खत भेजा था, उन्होने उसमे यह दलील पेश की थी कि इस लडाई में मजदूर हार जायेंगे, क्योकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हे चाहिए कि वह कृत्रिम साधनो से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द करदें और इस तरह अपनी तदाद घटाले। इस खत का जवाब देते हुए गाँधीजी ने लिखा था—

"आखिरी बात यह है कि अगर खानो के मालिक गलत रास्ते पर होनेपर भी जीत जायेंगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नही होगी कि मजदूर ज्यादा सन्तान पैदा करते हैं, बल्कि इसलिए होगी, कि मजदूरो ने जिन्दगी मे हर तरफ सयम से काम लेना नही सीखा। अगर खानो के मजदूरो के बच्चे न हो तो उन्हे अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नही रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेंगे कि उनकी मजदूरी बढाई जाने की जरूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की कोई जरूरत है? क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानो के मालिक भी तो यह सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते हैं? अगर मजदूर इस बात का दावा नही कर सकते कि वे कुछ बात में पूँजीपतियो से बेहतर हैं तो फिर उन्हे दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक है? क्या इसलिए कि वे पूँजीपतियो की तादाद बढाये और पूँजीवाद को मजबूत करे? हमसे कहा जाता है कि हम लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुकादें, क्योंकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर होजायगी। पूँजीवाद और पूँजीपतियो के सिर हम जिन बुराइयो को थोपते हैं, वे ही

खुद हमें और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिएँ।"[१]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज़ मजदूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखों के सामने आगये, जो मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे। वे गरीब मजदूर उस समय उन्हें कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड़ रहे थे। इस लड़ाई में वे बिलकुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गांधीजी ने जो बातें लिखी हैं, वे पूरी तरह सही नहीं हैं, क्योंकि खानों के मजदूर मजदूरी बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड़ रहे थे कि जो मजदूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय, और जो खानें बन्द करदी गई थीं वे खोल दीजायँ। लेकिन इस वक्त हमें इन बातों से कोई ताल्लुक़ नहीं। न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोकें, यद्यपि मालिकों और मजदूरों के लड़ाई-झगड़े को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गांधीजी के जवाब में से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लोगों को यह बात समझने में मदद मिले कि मजदूरों के रहन-सहन के ढँग को ऊँचा बनाने की आम माँग के मामले में और मजदूरों के दूसरे मामलों में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि पूँजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफी दूर है। गांधीजी को इस बात में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोड़े न बनें तो यह बात करके दिखाई जासकती है कि विज्ञान और धन्धों की कला के जरिये हम आज तमाम लोगों को

१ गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमें यह मत दिया गया है।

अबसे कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को देसकते हैं और उनके रहन-सहन के ढंग को बहुत ज्यादा ऊँचा कर सकते है। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातो के लिए बहुत उत्सुक नहीं है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नहीं है और पूँजीवाद भी महज कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जासकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूँजीवाद और समाजवाद दोनो ही को नापसन्द करते हैं, लेकिन पूँजीवाद को फिलहाल की बुराई समझकर उसे बरदाश्त कर लेते है। इसके अलावा वह पूँजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते हैं, क्योंकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उससे आँखें नहीं मूँदी जासकती।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने मे मैं गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह खयाल जरूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते है, और उनके कथनो में हमें जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम व फुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगो को दिन-पर-दिन कम करते जायें और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें, और जो लोग आम लोगो की खिदमत करना चाहते हैं उनका काम यह नहीं है कि वे उन लोगो की माली हालत को ऊँचा उठायें, बल्कि उन्हें चाहिए कि खुद उनकी तह पर नीचे चले जायें और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाज़िमीतौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४

को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत से लोग मेरा विरोध करने में निराश है। मेरे लिए यह बात जलील करने जैसी है क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। गरीब-से-गरीब इन्सान के साथ बिलकुल उन्हीका-सा हो जाना जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की ख्वाहिश छोड़ देना, और अपनी पूरी ताकत के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बातें हैं कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपने को आम लोगों से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगों के रहन-सहन के ढँग से कहीं ज्यादा ऊँचे ढँगों की नुमाइश उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास जरूरी से-जरूरी चीजों की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की बाकी दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूँजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं होसकता। अगर जिन लोगों का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातों से कुछ हदतक सहमत होसकते हैं, क्योंकि इन लोगों की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई है। और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्यकालिक मनोवृत्तियों में जमीन और आसमान का फर्क है। पुराने जमाने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगों की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनों गरीब हमारे समाज के अभिन्न अंग बने हुए थे। उस वक्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचों के मुख्य अंग थे। वे उत्पादन प्रणाली के जरूरी हिस्से थे, इसी-

लिए सदाचारी सुधारक और परदु:खकातर सभी लोगो ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अपने गरीब भाइयो के प्रति अपने कर्तव्य को न भूलें। वे लोग गरीबों के ट्रस्टी होकर रहे, दानी बने, यह उनका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अग होगया। राजा-महाराजाओ, बडे-बडे जमीदारो और पूँजीपतियो के लिए गाधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा ज़ोर देते रहते है। वे इस विषय मे उन अनेक धार्मिक पुरुषो की परम्परा पर चल रहे है, जो समय-समय पर यही कह गये है। पोप ने ऐलान किया है कि "अमीरो को यही खयाल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे सरक्षक और बाँटनेवाले है, जिनके हाथ मे गरीबो का भाग्य ईसामसीह ने खुद सौंप रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम में भी यही खयाल मौजूद है। वे हमेशा पैसेवालो से यह कहते रहते है कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालायें बनवाकर या अपनी धन-दौलत में से गरीबो को कुछ तांबे-चाँदी के गोल-गोल टुकडे देकर उनका हुक्म बजा लाते है और यह सोचने लगते है कि हम लोग बडे धर्मात्मा है।

तेरहवें पोप लियो ने मई १८९१ मे जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उसमें पुरानी दुनिया का इस मजहबी रुख को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। पोप ने कहा था —

"इसीलिए इन्सान के भाग्य में यही बदा है कि वह धीरज के साथ दुखो को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी जिन्दगी को जो बीमारियाँ और तकलीफें रात-दिन परेशान किये रहती है, उन्हे हटाने में कोई भी ताकत या तदबीर कारगर नही होसकती। अगर कोई शख्स ऐसे है जो कहते है कि यह बात नही है, और जो बुरो

तरह दुःखी लोगों को दुःख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते हैं, तो वे लोगों को सरासर धोखा देते हैं। और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयों को दुगुना कर देनेवाले हैं। इससे ज्यादा फायदे की बात और कुछ नहीं है कि हम दुनिया को वैसी ही शकल में देखें, जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफों में फँसी हुई है उनके इलाज के लिए जगह तलाश करें।"

इसके आगे हमें यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है —

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान में लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते हैं न उसकी कीमत ही आँक सकते हैं॰ प्रकृति से हम जिस बड़ी सचाई का सबक सीखते हैं वह ईसाई-धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव में हमारे जीवन का आरम्भ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य और क्षणभंगुर चीजों के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि उन चीजों के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य हैं। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश निकाले की जगह की तौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीजें जिन्हें लोग अच्छी और चाहने लायक कहते हैं उनकी बहुतायत भी होसकती है और अभाव भी होसकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है ...... ।"

यह नसीहत हमें उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतों से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि सबके लोगों की आर्थिक अवस्था में कल्पनातीत उन्नति होचुकी है, फिर भी उस गुजरे हुए जमाने की फाँसी हमारे गले में पड़ी हुई है

और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातो पर जोर दिया जाता है जो गोल-मोल है और ऊटपटांग-सी है और जिनकी नाप-जोख नही हो सकती। कैथलिक लोगो की निगाह बारहवी और तेरहवी सदी की तरफ दौडती है। दूसरे लोग जिसे अधकार-युग कहते है उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते है। जब साधुओ की भरमार थी, जब ईसाई राजा धर्मयुद्धो के लिए कूच करते थे और गौथिक ढंगो पर गिरजाघरो का निर्माण होता था, उनकी राय मे वह जमाना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का जमाना था। उन दिनो मध्यकालीन सघो के शासन में उसकी इतनी उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद में। मुसलमानो की हसरत की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफाशाही की ओर दौडती है। उनकी दृष्टि में इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योकि उन खलीफाओ ने दूर-दूर देशो मे अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बाते सोचते है। और रामराज्य के सपने देखते है। फिर भी तमाम तवारिखे हमसे यह कहती है कि उन दिनो की अधिकाश जनता बडी मुसीबत में रहती थी। उनके लिए तो अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनो चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हो, क्योकि उनके पास उसके लिए फुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरो के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज पेट पालने में दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होगे। जो शख्स भूखो मर रहा है, वह सास्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फिक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तजाम कैसे हो?

उद्योग धन्धो का जमाना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी नजरों के सामने घूमती रहती है। लेकिन

हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और खासकर उन हिस्सों में, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से छागये हैं, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डालदी है, जो बहुजनसमाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनिवेशिक देशों में साफ जाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत माली निगाह से भी पहले से भी बदतर होगई है—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बुरी होगई है। इस मामले में कुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज़ पश्चिमीकरण के नाम से पुकारी जाती है उसने कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल में, माण्डलिकशाही को और भी मजबूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदकिस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से हमें आज की दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालत में तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो जरूरी हो रहे हैं, न वाञ्छनीय ही। अब वे फजूल होगये हैं और हर वक्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। और धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और गरीब जिस हालत में हैं उसीमें संतुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें, और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम

फे व॒ पर जीवन व्यतीत करते है, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियो के मार्ग मे बाधा है वरन् उनका अपव्यय करनेवाला भी है। यह समाज और जो प्रणाली इस जमात को पैदा करती है वे वास्तव मे उद्यम और पैदावार को रोकते है और समाज के दोनो भागो के बेकारो को प्रोत्साहन देती है, यानी उन लोगो को भी जो दूसरो की मेहनत पर चैन करते है और उनको भी जिनको कोई काम ही नही मिलता और जो इसीलिए भूखो मरते है। खुद गाधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखो मरनेवाले लोगो के लिए तो मजदूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन ही ईश्वर होसकता है। ईश्वर ने अपने बन्दो को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावे और उसने कह दिया था कि जो विना कमाये खाते है वे चोर है।"

वर्तमान युग की पेचीदा समस्याओ को प्राचीन पद्धतियो और सूत्रो का प्रयोग कर समझने का प्रयत्न करना और उनके बारे में गये-गुजरे जमाने की भाषा का प्रयोग करना उलझन पैदा करने और असफलता को निमन्त्रित करने का मार्ग है, क्योकि, उस जमाने मे ये समस्याये पैदा ही नही हुई थी। कुछ लोगो की यह धारणा है कि निजी मिल्कियत पर मालिकाना हक की कल्पना ससार के आदि काल से चली आने वाली कल्पनाओ में की एक कल्पना है, किन्तु वास्तव में यह सदा बदलती रही है। एक जमाना था जबकि गुलाम मिल्कियत समझे जाते थे। इसी तरह स्त्रियाँ और बालको, पति का नववधू की पहली रात पर अधिकार, और सडको, मन्दिरो, नावो, पुलो, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओ एवम् वायु और भूमि—इन सब पर मालिकाना अधिकार का प्रयोग किया जासकता था। पशु अब भी मिल्कियत समझे जाते है, हालाँकि अनेक देशो में उन पर के मालिको के अधिकार को बहुत मर्यादित

कर दिया है। युद्ध के समय में तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक में जमा की हुई और कर्ज के रूप में दी गई पूंजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की मांगों के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारों को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की जब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नहीं है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले जमाने में भी ज्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे, वे खुद भी दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। सिर्फ इन बदलती रहनेवाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नहीं होजाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक होगया है, और मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त होगया था वह फिर सारे समाज के हाथों में वापस ले लिया जाता है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं।

वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड दे, इन्द्रियो के भोगो को तिलाञ्जलि देदें और पवित्र बन जायँ। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहे, नशा न करे, न सिगरेट वगैरा पीवे। इस मामले में लोगो मे मतभेद होसकता है कि इन भोगो में से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात में किसी को शक होसकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम हानिकारक है—बनिस्वत लालच, खुदगर्ज़ी, परिग्रह, ज़ाती फायदे के लिए व्यक्तियो के भयानक लडाई-झगडे, जमातो और फिरको के क्रूर सघर्प, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुपिक शोपण और दमन व राष्ट्रो की आपस की भयानक लडाईयो के ? यह सच है कि गाधीजी इस तमाम हिंसा और पतनकारी सघर्प से नफरत करते हैं। लेकिन क्या ये सब बाते आजकल के स्वार्थी पूँजीपति समाज मे स्वाभाविक रूप मे मौजूद नही हैं, जिसका कानून यह है कि बलवान लोगो को कमज़ोरो का खून चूसना चाहिए, और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाजुओ में ताकत है वे जो चाहे सो लेलें और जो रख सकते हैं वे जो चाहे अपने पास रखें ?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाज़िमी परिणाम सघर्प होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियो का पोपण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमें सन्देह नही कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओ को भी शह मिलती है, लेकिन इनकी अपेक्षा उसकी हीन वृत्तियो को कही अधिक पोपण मिलता है। इस प्रणाली में कामयाबी के मानी हैं दूसरो को नीचे गिरा देना और गिरे हुओ पर चढ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यो और महत्वाकाक्षाओ को प्रोत्साहित करता है और इन्हींकी तरफ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते है, तो क्या गाँधीजी यह समझते है कि ऐसे वातावरण में

वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेंगे ? वह जनता को सेवा-भावमय बनाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्तियों को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय, लेकिन जबतक समाज स्वार्थी शोषक-समाज के सूरमाओं को लोगों के सामने आदर्श के रूप में अपने सामने रक्खेगा और जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उनकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन-समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज सदाचार या नीति के वादविवाद का नहीं है। यह तो आजकल का एक बहुत जरूरी मसला है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नहीं, उसे उससे निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूँढना ही होगा। मिकावर[1] की तरह हम इस बात का इन्तजार नहीं कर सकते कि कुछ-न-कुछ अपने आप होजायगा। न तो पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयेगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियों में की चुनी हुई अच्छी से अच्छी बातों को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नहीं चलेगा। बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिल्कुल निश्चित है कि हम जहाँ हैं वहाँ-के-वहाँ खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्त-

१. मिकावर विल्किन्स, श्री चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफील्ड' नामक नाटक का एक मशहूर पात्र है, जिसकी उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-दूसरी का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है।

-राष्ट्रीय से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते होसकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे वढें। लेकिन शायद इस बात में विकल्प ही नही है, क्योकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नही की जासकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयो से कोई भी यह सोच मकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से लेआना है। न केवल राष्ट्र बल्कि गाँव तक को स्वाश्रयी वना देना है। प्राचीनकाल के प्रारम्भिक समाजो में गाँव कम या अधिक स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपडे और अपनी जरूरतो के दूसरे सामान गाँव में पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी ये है कि लोग बहुत ही गरीबी के ढँग से रहते होगे। मै यह नही समझता कि गाँधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य वनाये रखना चाहते है, क्योकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन मुल्को की आबादियां बहुत बढी हुई है, वे तो जिन्दा ही नही रह सकते। इसलिए वे इस वात को वरदाश्त नही करेंगे कि इस कष्टमय और भूखो मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहाँ कि रहन-सहन का स्टैण्डर्ड वहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगो को तरक्की देकर वहाँ की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते है। लेकिन हम लोग वाकी दुनिया से उसी तरह बँधे हुए है जैसे दूसरे मुल्क बँधे हुए है, और मुझे यह बात बिलकुल अनहोनी मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सके। इसलिए हमें सब बातो को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर सकुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना ही नही होसकती। जातीतौर पर मै तो उसे सब दृष्टियो मे अवाञ्छनीय समझता हूँ।

लाजिमीतौर पर हमारे पास सिर्फ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले

राष्ट्रीय सीमाओ के अन्दर कायम होगी, फिर कालान्तर मे तमाम दुनिया मे। इस व्यवस्था में उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथो से होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ है कि महज इस खयाल से कि जिन थोड़े से लोगो को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुँचता है वे उसे बदलने में ऐतराज करते है, हमें अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नही रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक सस्थाये ऐसी तबदीली के रास्ते मे अड़चन डालती है, तो उन सस्थाओं को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलाञ्जलि देकर इन सस्थाओ से समझौता करना बहुत बुरा विश्वास-घात होगा। दुनिया की हालते इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती है। लेकिन पूरे तौर पर तो वह तबतक मुश्किल से ही होसकती है जबतक जिन लोगो का उससे फायदा है उनमें से बहुत बडी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मजूर करे। इसीलिए इस बात की जरूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष मे कर लिया जाय। मुट्ठीभर लोगो का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नही चलेगा। कुदरतन् कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगो को मौजूदा व्यवस्था मे फायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ होजायें, लेकिन यह बात मुमकिन नही मालूम होती कि उनमें का अधिकाश कभी हमारी तरफ होसकेगा।

खादी-आन्दोलन में, जो गाधीजी को विशेष रूप से प्रिय है, उत्पत्ति के मामले में व्यक्तिवाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमें औद्योगिक जमाने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बडे मसले को हल करने के लिहाज से तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही

नही सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ बढने देने मे अडचन साबित होसकती है। फिर भी, मै मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फायदा पहुँचाया और भविष्य में भी कुछ समय के लिए और लाभदायक होसकता है, उस वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धो से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नो को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ में नही लेलेती। हिन्दुस्तान मे इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कही कोई हिसाब ही नही है, और देहाती क्षेत्रो में तो आंशिक बेकारी इससे भी कही ज्यादा है। सरकार की तरफ से इस बेकारी का मुकाबिला करने के लिए कोई कोशिश ही नही की गई है, न उसने बेकारो को किसी किस्म की मदद देने की कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगो को कुछ थोडी-सी मदद जरूर दी है, जो बिलकुल या कुछ हद तक बेकार थे, और क्योकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालो और गाँववालो के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढे-लिखे लोगो और किसानो को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपडो के पहननेवालो और देखनेवालो दोनो के ही मन पर बहुत असर पडता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगो ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढी, पोशाक की दिखावट और उसका गँवारूपन कम होगया, और आम लोगो के साथ एकता का भाव बढा। इसके बाद जो लोग मध्यमवर्ग मे भी नीची श्रेणी के थे, उन्होंने कपडो

के मामलो में अमीर लोगो की नकल करना छोड दिया और खुद सादी पोशाक पहनने में किसी किस्म की बेइज्जती समझना भी छोड दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपने को ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। गरीब-से-गरीब आदमी भी खादी पहनकर आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा होजाते थे वहाँ यह पहचानना मुश्किल होजाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन गरीब और इन लोगो मे साथीपन का भाव पैदा होजाता था। इसमें कोई शक नही कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुँचने में मदद दी। वह कौमी आजादी की वर्दी होगई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के पुतलीघरो के मालिको में अपनी मिलो के कपडो की कीमतें बढाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने में तो हिन्दुस्तान की इन मिलो के मालिको को सिर्फ एक ही डर कीमते बढाने से रोकता था, और वह था, विलायती खासतौर पर लकाशायर, के कपडो की कीमतो का मुकाबिला। जब कभी यह मुकाबिला बन्द होगया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपडो की कीमत बेहद चढ गई और हिन्दुस्तान की मिलो ने मुनाफे में भारी रकमें कमाई। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपडो के बहिष्कार के पक्ष में जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलो को बहुत बडी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुकाबिले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात होगई और मिलो के कपडों की कीमते उतनी न बढ सकी जितनी वे खादी के न होने पर बढती। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलो ने (साथ ही जापान ने भी) लोगों की खादी की भावना से नाजायज फायदा उठाया—उन्होंने ऐसा मोटा कपडा तैयार किया, जिसका हाथ

के कते और हाथ के बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल होगया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी गैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमें विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान मे आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलो के मालिकों के लिए कपड़ो की खरीदार पब्लिक से अब उतना फायदा उठा सकना मुमकिन नही है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हे ऐसा करने से रोकेगा और खादी के सगठन में इतनी ताकत है कि वह थोड़े ही दिनो में अपना काम बढ़ा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान मे खादी के धन्धे के इन सब फायदो के होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह सक्रमण-काल की ही वस्तु होसकती है। मुमकिन है कि इस काल के गुजर जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने में मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके औद्योगिक धन्धो के प्रसार में लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओ के साथ खिलवाड करने से और उन अगणित सरकारी कमीशनो से, जो लाखो रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ ऊपरी ढाँचो मे चुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीजे करते हैं, जरा भी लाभ नही होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है, वह हमारी आँखो के सामने ढहती जारही है और वह पैदावार के लिए, बटवारे के लिए, और माकूल व बड़े पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगो के लिए एक अड़चन साबित होरही है। इस प्रथा में आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खेतो की जगह सगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोड़े परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुकाबिला कर सकते हैं। यह ठीक है कि, जैसा गांधीजी को डर है, बड़े पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालो की तादाद कम

होजायगी, लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमें हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेंगे। बाकी के दूसरे लोगों को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धों में जुटना पड़े, लेकिन ज्यादतर लोगों को तो खासतौर पर बड़े पैमाने पर किये जानेवाले समाज-कृत काम-धन्धों और समाजहित के कामों में लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलकों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-प्रथा को पोषण देरही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने में देर लगा रही है। यह जरूर है कि खादी का यह असर इतना काफी ज्यादा नहीं है कि उससे कोई खास फर्क पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति जरूर मौजूद है। किसान या छोटे किसान-जमींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफी भी नहीं रहा कि जिसमें वह उसके जरिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत में से भी अपना गुजारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आमतौर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा कर्ज में फँसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वगैरा से जो जायद आमदनी होती है उससे सरकार या जमींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है, जो उसके अभाव में नहीं मिलती। और अगर यह जायद आमदनी बहुत काफी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनों बाद लगान इतना बढ़ जाय कि वह इसे भी हड़प जाता। मौजूदा प्रथा में काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर

में जमींदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुँचेगा। जहाँ तक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की और गरीबी' ( Progress and Poverty ) नाम की किताब में इस मामले को, खासतौर पर आयर्लैण्ड की मिसालें दे देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गावों के धन्धों या पुनरुद्धार करने की गाधीजी जो कोशिश कर रहे हैं वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अश में तो स्थायी, और शेष अधिकाश थोड़े दिनों के लिए। वह गाववालों की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ ऐसे सास्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणों को, जिनके नष्ट होजाने की आशका थी, पुनर्जीवित कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनों के और उद्योगवाद के खिलाफ एक बगावत है, वहातक उसे कामयाबी नहीं मिलेगी। हाल ही में 'हरिजन' में गाव के धन्धों के बारे में गाधीजी ने लिखा है—"मशीनों से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हों तो, मशीनों से काम लेना बुरा है।.. हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गाव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुरसत किस तरह दिलावें। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी की घड़ियों का किस तरह इस्तैमाल करें जिनकी तादाद साल में काम के छ महीनों के बराबर है।" लेकिन यह ऐतराज तो थोड़ी-बहुत मात्रा में उन सब मुल्कों के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए हैं। लेकिन सचमुच खराबी यह नहीं है कि लोगों के करने के लिए काम नहीं है, वह तो यह है कि मौजूदा पूँजीपति-प्रणाली में अब अधिक लोगों को काम

में लगाना लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तज़ाम करना, सफ़ाई और दवादारू की सहूलियतों को फैलाना, धन्धों का, बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और तालीम का प्रसार करना और लोगों के पास जिन बीसियों ज़रूरी चीज़ों की कमी है उनके जुटाने का इन्तज़ाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें ख़त्म न कर पायेंगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी होसकता है जबकि प्रेरक-शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफ़े की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातों का संगठन आम लोगों की भलाई के लिए करे। रूस की सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी ख़ामियाँ हों, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं, कि उनके लिए कोई काम नहीं है, बल्कि इसलिए बेकार हैं, कि उनके लिए काम के और सांस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी क़िस्म की सहूलियतें नहीं हैं। अगर बच्चों से मज़दूरी कराना क़ानूनन रोक दिया जाय, एक माकूल उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाज़िमी कर दिया जाय, तो मज़दूरों और बेकारों की तादाद में से इन लड़के और लड़कियों की कमी होजायगी और मज़दूरों के बाज़ार में से करोड़ों भावी मज़दूरों का बोझ हलका होजायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में और उनके चलाने की ताकत को बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औज़ार और मशीन में तरक्की करने की कोशिश है, और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की बात तो यह है कि यह बात भी ख़याल से बाहर नहीं है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगें), तो मुनाफ़े की भावना फिर आघुसेगी और उससे वे लक्षण, जो

बहुत पैदावार और बेकारी के नाम से पुकारे जाते है, पैदा होजायँगे। जबतक हम गाँव के धन्धो को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नही मिलायँगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सास्कृतिक चीजो की लाजिमी तौर पर हमे जरूरत है उन्हे भी पैदा नही कर सकेंगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुकाबिला नही कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेंगे, कि हम अपने मुल्क में बड़े पैमाने पर काम करनेवाली मशीनो को अपना काम करने से रोकदे ? गांधीजी ने बराबर यह कहा है कि वह मशीन के रूप में मशीन के खिलाफ नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते है कि आज हिन्दुस्तान मे उनके लिए कोई जगह नही है। लेकिन क्या हम बुनियादी धन्धो को—जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धो को भी जो पहले से मौजूद है—समेटकर बन्द कर सकते है ?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नही कर सकते। अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियतें वगैरा रहें, तो या तो हमे खुद ये चीजें बनानी पड़ेंगी या दूसरो पर निर्भर रहना होगा। अगर हमें अपने मुल्क की हिफाजत के जरिये अपने पास रखने है, तब तो हमे न सिर्फ बुनियादी धन्धे ही जारी रखने पड़ेगे बल्कि बहुत ज्यादा बढी हुई औद्योगिक प्रणाली भी कायम रखनी पड़ेगी। इन दिनो तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल में आजाद नही है और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुकाबिला ही कर सकता है, जबतक कि औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक बुनियादी धन्धे को इस बात की जरूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे, अन्त मे हमें खुद मशीने बनाने का धन्धा भी जारी करना पड़ेगा। जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेंगे, तब यह लाजिमी होजायगा कि छोटे धन्धे भी फैले। इस प्रक्रिया

को कोई रोक नही सकता, क्योंकि उससे न सिर्फ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक तरक्की ही बंधी हुई है बल्कि हमारी आजादी भी उसीपर निर्भर है और बडे धन्धे जितने ज्यादा फैलेंगे, छोटे पैमानो पर किये जानेवाले गाँवो के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेंगे। समाजवादी प्रणाली में उनके बचने की थोडी-बहुत गुंजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली में तो उन्हे कोई मौका नही मिल सकता, और समाजवाद में भी वे घरेलू धन्धो के रूप में उसी हालत में रह सकते है, जब वे खासतौर पर ऐसा माल तैयार करे, जो बहुत बडे पैमाने पर तैयार नही किया जाता।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है। उनका खयाल है कि उद्योग-प्रधान मुल्को की आजकल की मुश्किले बहुत बडे पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है। लेकिन यह तो स्थिति का बहुत ही गलत अध्ययन है।[१] अगर आम लोगो के पास किसी चीज की कमी है, तो उस चीज को उनके लिए काफी तादाद में तैयार करना क्या कोई बुरी बात है? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज के बिना ही वे अपना काम चलायें? साफ जाहिर है कि कुसूर इस तरह माल तैयार करने का नहीं है, बल्कि तैयार हुए माल का बँटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है।

गाँवों के धन्धो की तरक्की करनेवालों को जिस दूसरी मुश्किल का

१ ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बडे पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्कों में जो खराबियाँ पैदा होगई हैं उन्हें हम अपने यहाँ भी बुलावें।"

सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के बाजार पर निर्भर है। उसकी वजह से मजबूर होकर किसानो को ऐसी फसल बोनी पडती है जिसके दाम अच्छे मिले और दामो के लिए उन्हे दुनिया के प्रचलित भावो पर निर्भर रहना पडता है। लेकिन जबकि ये भाव बदलते रहते है तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या मालगुजारी नगदनारायण के रूप मे देनी पडती है। किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पडता है, या हर हालत मे वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फसल बोता है जिसको वह समझता है कि मुझे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी। वह तो इतना भी नही कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने बाल-बच्चो को खिलाने के लिए जितने अनाज की उसे जरूरत है उतना तो खुद अपने खेत मे पैदा करले।

इन सालो मे खाद्यपदार्थो मे से ज्यादातर अनाजो और दूसरी चीजो की कीमत एकदम गिर गई। नतीजा यह हुआ कि लाखो किसान, खासतौर पर युक्तप्रान्त और बिहार के, ईख की खेती करने लगे। सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुंगी लगादी है उसकी बदौलत बरसाती मेंढको की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की माँग बहुत बढ गई। लेकिन इस माँग को पूरा करने के लिए लोगो ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही माँग से बहुत ज्यादा बढ गया। नतीजा यह हुआ कि कारखानो के मालिको ने बेरहमी के साथ किसानो से अनुचित फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई।

इन चन्द वजूहात और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातो से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओ को किसी तग स्वार्थमयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते है और न करना ठीक ही होगा। निस्सन्देह, हमारी जिन्दगी के हर पहलू पर इनका असर है। हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यो के

पीछे छिपकर अपनी जान नही बचा सकते । हमें तो इन तथ्यों का सामना करना होगा और अपने को उनके माफिक बनाना पड़ेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायँ ।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गांधीजी—का खयाल आता है ।[१] समझ में नही आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पददलित और पीड़ितो की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यो समर्थन करते है, जो इस तमाम पीड़ा और बरबादी को पैदा कर रही है और स्पष्टत जो अपने-आप गिर रही है । यह सच है कि वह लोगो को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूंढ रहे है । लेकिन क्या पुराने जमाने का वह रास्ता अब बन्द नहीं होगया है ? वह पुरानी व्यवस्था की स्मारक उन सब चीजो को आशीर्वाद देते जाते है जो तरक्की के रास्ते में रोड़े बनकर अटकी हुई है—जैसे माण्डलिक रियासते, बड़ी-बड़ी जमीदारियाँ व ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली ।

१ सन् १९३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कांग्रेस उन करोड़ो मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गांवो में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए है—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हो या देशी रियासतों में, जिन्हें 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है । इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों मूक प्राणियो के हित का साधक होना चाहिए । आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते है, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ से यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ो मूक प्राणियो के हितो के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी ।"

क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में विश्वास करना माकूल बात है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन-सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहो आने पब्लिक की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण है कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जासके? इस बोझ को तो प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नही उठा सकते। क्या दूसरो के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषो का प्रभुत्व स्वीकार करले? फिर ऐसे देवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह है कहाँ? यहाँ तो सिर्फ मामूली इन्सान भर है, जो हमेशा यह सोचा करते है कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारो का प्रसार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी होजाती है और उसका परिणाम कई तरह घातक ही सा होता है।

मै इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मै यह नही सोच रहा कि यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय, हमारे रास्ते मे जो रोडे है उन्हें किस तरह हटाया जाय? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव से या जबरदस्ती से, अहिंसा से या हिंसा से? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूँगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ करदी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफतौर पर अनुभव न करें और न कहे, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते है कि वे किसीको अपने खयाल का बना लेगे या लोगो में वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेगे? इसमे कोई शक नही कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओ से मिलती है, लेकिन घटनाओ का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह जरूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझें और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करे।

मेरे जो दोस्त और साथी प्राय मेरे भाषणो मे चिढे है, उन्होंने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है, कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, जमीदार और शुभ-चिन्तक, भलामानुस पूंजीपति कभी नहीं मिला ? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले है। मै खुद उस श्रेणी के लोगो में से हूँ, जो इन जमीदारो और पूंजीपतियो में मिलते-जुलते रहते है। मै तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओ-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलोदिमाग में जो भले-बुरे सस्कार भर दिये वे सब मुझमे मौजूद है। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते है और उनका यह कहना सोलहो आने सही है। शायद अब वे मुझे अनुतप्त बुर्जुआ कहेगे। लेकिन मै क्या हूँ और क्या नही, यह सवाल ही नही है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और समाजिक मसलो को कुछ इने-गिने व्यक्तियो की निगाह से देखना बेहूदगी है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवालात करते है, यह कहते कभी नही थकते कि हमारी लडाई पाप से है, पापी से नही। मै तो इस हदतक भी नही जाता। मै तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियो से मेरा कोई झगडा नही, मेरा झगडा तो प्रणालियो से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्तियो और समूहो में ही मूर्तिमान होती है, और इन व्यक्तियो और समूहो को हमें या तो अपने खयाल का कर लेना पडेगा या उनसे लडना पडेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की न रही हो और भारस्वरूप होगई हो तो उसे मिट जाना पडेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए है उन्हे भी बदलना पडेगा। परिवर्त्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिए, लेकिन बदकिस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गडबडी का होना तो लाजिमी भी है। किसी दूसरी कम बुराई के डर की वजह से ही बहुत बडी बुराई को बरदाश्त नही किया जासकता, खासकर उस वक्त, जबकि कुछ थोडी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताकत से

बाहर है। हर तरह के मानव-सगठन—राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक—की अपनी-अपनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन सगठनो में कोई हेरफेर हो तो उस विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आमतौर पर घटनायें इतनी तेजी से बढती है कि विचारादर्श पिछड जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतो की जड है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनो ही उन्नीसवी सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नही थे। उन दोनो में बुनियादी भेद था। क्योकि लोकतन्त्र तो ज्यादा लोगो की ताकत पर जोर देता था, जबकि पूँजीवाद से असली ताकत थोडे-से लोगो के हाथ में रहती थी। यह बेमेल जोडा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त सकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीयकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई खास हस्तक्षेप नहीं किया।

फिर भी ज्यो-ज्यो लोकतन्त्र की भावना बढती गई, इन दोनो का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य होगया और अब उसका वक्त आगया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम होगई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब किस्म के नये-नये नारे सुनाई पड रहे है। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी होगई है, और इसने राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बाते तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरकुशता को उचित ठहराते है और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का जोरो से ऐलान करते है जो कि दुनिया में अब और कही नही पाई जाती।[1] लेकिन

१. २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर

पार्लमेण्टरी शासनतन्त्र में जो त्रुटि या खामी है वह यह नहीं है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीके ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज रफ्तार से जानेवाले जमाने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के आधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज ब्रिटिश स्वार्थों

---

महाराजा पटियाला ने, मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का जिक्र किया था, जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियाँ देशी नरेशों को अपने यहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"जबकि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामों को करने के लिए राजी रहे हैं जो अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम हैं, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपने-को और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे, तब हमें यह भी साफ-साफ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश-भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रंगी हुई कमीज पहन लेंगे तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" ( इसी सिलसिले में पृष्ठ ८६० पर मैसूर-दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम जो सैकड़ों साल की वंश परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते हैं कि हमने राज करने का सहज-ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अंशों में राज-दक्षता भी विरासत में पाई है,

की हिफाजत के लिए या उनकी तरक्की के लिए ही दस्तन्दाजी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने जमाने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ किस प्रकार इस बीसवी सदी के ठीक मध्य मे इतनी थोडी तबदीली के साथ टिके हुए है। वहाँ का वातावरण दम घोटनेवाला और स्थिर है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्त्तन और सघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागतुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा जादू उसपर गालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होजाता है, जहाँ समय स्तब्ध खडा रहता है और अपरिवर्त्तनीय दृश्य आँखो के सामने दिखाई देते है। सर्वथा अज्ञात-भाव से वह भूतकाल और अपने बचपन के स्वप्नो की ओर बह जाता है, और कटिबद्ध शस्त्र-सज्जित सूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियो के और बुर्जदार किले और बहादुर सैनिको के सम्मान और गौरव तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्‌भुत-अद्‌भुत दृश्य उसकी आँखो के सामने घूमने लगते है। खासकर तब, जब वह सयोग से अद्‌भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना में पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन होजाते है और विषाद की भावना

---

उन्हें इस बात का पूरा-पूरा खयाल रखना चाहिए कि हम इस बात की हिफाजत करले कि हम जल्दबाजी से अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायें। और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपने को किसीके हाथो बरबाद होजाने देने के लिए तैयार नहीं है, और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट देशी राज्यो की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तर-दायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायं, तो नरेश और देशी-राज्य अपने अधिकारो की रक्षा के लिए आखिरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायेंगे।"

आ-घेरती है। वहां का वातावरण दम घोंटनेवाला है और उनमें सांस लेना मुश्किल होजाता है। स्थिर और मन्द-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहां पर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानो वह चारों ओर कांटों की बाड़ से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। उसे वहां के राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त पिछड़ी हुई और मुसीबत की दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतों और ऐय्याशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है! हमारे राजाओं को बढ़ाना और उन्हें कायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अखबारों को वहां पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अखबारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर—जहां साक्षरता ब्रिटिश-भारत से भी कहीं ज्यादा है—दूसरी जगह साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो खास खबरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ में दिये गये व्याख्यानों का जिक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा वर्ष-गाठ की, जिसमें बेहद रुपया खर्च किया जाता है, या किसानों के विद्रोह सम्बन्धी। ब्रिटिश-भारत तक में खास कानून राजाओं को आलोचना से बचाते हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दीजाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहां कोई

जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए की जानेवाली सभायें तक रोक दी जाती है।[1] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के करीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने कश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहाँ किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जारहे थे। वह कश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाजत नहीं दी गई।

जब कि रियासतों में यह हाल होरहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी होजाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गांधीजी ने कांग्रेस में रियासतों के सम्बन्ध

१. हैदराबाद दक्खिन का ३ अक्तूबर १९३४ का प्रेस-समाचार कहता है—"स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस सार्वजनिक-सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का सगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक संघ ने किया था। संघ के मंत्री ने अखबारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक्त से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाजत तभी मिल सकती है जबकि दो हजार की नकद जमानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफसरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

में एक नई नीति को जन्म दिया। वह नीति थी "रियासतों के भीतरी इन्तजाम में दखल न देने की।" रियासतों में असाधारण और दु:खदायी घटनाओं के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहनेपर भी वह अभीतक अपनी उसी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। जाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज हो जायेंगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' ज्यादा मुश्किल होजायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल न देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतों की कानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होंने जाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासतें स्वतन्त्र हस्ती रखती हैं। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की पॉलिसी को शकल देने का उतना भी अख्तियार नहीं है जितना उसे, मसलन, अफगानिस्तान या सीलोन की नीति को शकल देने का है।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज किया तो आश्चर्य ही क्या है?

लेकिन रियासतों के राजाओं ने इन विचारों का काफी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा, कि "जिम्मेदार नेताओं ने खुद यह सलाह दी है।" जाहिर है कि यह इशारा गांधीजी

के बयान की तरफ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश-भारत में सत्याग्रह की लडाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लडाई कभी नही हुई थी)। जिस वक्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात पर ध्यान देना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त ट्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामास्वामी ऐय्यर थे (और अब भी हैं), जो एक वक्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मदरास सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर रहे।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम लेरही थी उसके मुताबिक, मामूली वक्त में भी, ट्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालो की तरफ से पब्लिक में एक शब्द तक नही कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलो तक ने इसके खिलाफ जोरो से आवाज उठाई। सचमुच रियासतो के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कही ज्यादा नरम और सयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषो में शायद मालवीयजी ही—बहुतसे राजाओ के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही सयत और इस बात में सावधान है कि उन्हें किसी तरह चिढाया न जाय।

१. ६ जनवरी १९३५ को बडौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होने यह कहा, कि "देशी राज्यो के कार्यकर्त्ताओ को उन सीमाओ में रहते हुए काम करना चाहिए, जो रियासतें बाँध लें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितो में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहे।"

भारतीय नरेशों के बारे में गांधीजी हमेशा ऐसा कड़ा-कड़ा रुख नहीं रखते थे। फरवरी १९१६ का वह प्रसिद्ध अवसर था—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैगम्बर के से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौकत और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहाँ से चले जरूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा-भवन से चले गये। यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा-भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गईं।

श्री एन० सी० केलकर को गांधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमें आगे उन्होंने यह भी कहा, कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दें और वे अपनेको वास्तव में उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिनपर कि वे हुकूमत करती हैं।" अगर ट्रस्टीशिप के इस खयाल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे से क्यों ऐतराज करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं? मैं इसमें कोई फर्क नहीं देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन जहाँतक चमड़े के रंग से, जातीय उत्पत्ति और संस्कृति से, सम्बन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगों में आपस में भी करीब-करीब उतने ही भेद हैं, जितने कि उनमें और अंग्रेजों में।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफसर बड़ी तेज़ी से घुस रहे हैं। अक्सर वे बेबस राजाओं की मर्जी के खिलाफ उनके मत्थे मढ़ दिये गये हैं। वैसे तो सदा से भारत सरकार का देशी राज्यों पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ खास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं, तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा ज़रूर उठाती है।

मैं यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूबों में भी किसानों-सम्बन्धी, उद्योग-धन्धों-सम्बन्धी, सम्प्रदायों-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी काफी फर्क है, और हम हमेशा सब सूबों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। लेकिन हालाँकि हम कहाँ क्या काम करें यह तो वहाँ के हालात के ऊपर निर्भर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी आम पालिसी अलग-अलग नहीं होनी चाहिए, और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए, नहीं तो हमारे ऊपर यह इलज़ाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मकसद सिर्फ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ में आजाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ काफी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम चुननेवालों को अलग-अलग बन्द कमरों में बाँट दें तो लोकतन्त्र कायम करना

था जिसे जिम्मेदार सरकार के मार्ग में रुकावट डालना है, उसका समर्थन किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन पं० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और कड़े आलोचक हैं, रियासतों में जान-बूझकर जो कुछ चल रहा है उसके बारे में अजीब तौर से चुप हैं और जाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि रियासतों की स्वेच्छाचारिता और बाकी के हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज आपस में मिलकर संघ-राज्य कायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौजू और बेहूदा एकता की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती बनते हैं वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल जाते है। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेरणायें अभीतक भावुकतामय ही बनी हुई हैं।

इस तरह से लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता हूं। मेरा दिमाग थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढ़सौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो पंखों पर तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते। लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुकेदारी और जमींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नहीं मालूम पड़ती है कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो बढ़नेवाले पूंजीवाद के भी खिलाफ जाती है और क़रीब-करीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां धीरे-धीरे गायब हो गई हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने लेली है। मेरी तो हमेशा

यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवत उठ सकता है वह मुआवजे का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गाधीजी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते है और चाहते है कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ मे उन्होंने कहा था—"किसानो और जमीदारो, दोनो में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये जासकते है। अगर यह होजाय तो दोनों आपस में मेल के साथ सुख और शान्ति से रह सकते है। मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या जमीदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नही रहा, और जो लोग यह समझते है कि वह रद्द होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नही समझते।" गाधीजी का यह आखिरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते है कि उन्होने आगे यह कहा—"बिना उचित कारणों के जायदादवाली श्रेणियो से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम में मै कभी साथ नहीं देसकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलो पर घर करके मैं आपको अपनी राय का बनालूं, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तैमाल खासतौर पर उनकी भलाई के लिए करे।... लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वचित करने के लिए अन्याय-पूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ लडता हुआ पायँगे . . पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन खास विचारो पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारो से मूलरूप से भिन्न है। जिन धारणाओं पर समाजवाद वगैरा टिके हुए है, उनमें से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलत. स्वार्थी है... इस-लिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मजदूर और मालिको, किसानो और जमीदारों के आपसी मेल पर

होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने जमींदारों के एक डेपूटेशन से कही थी।

मैं नहीं मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी खयालात में ऐसे कोई फर्क है। शायद कुछ है। लेकिन हाल ही के पिछले दिनों में तो एक जाहिरा फर्क यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिकों और जमींदारों ने अपने मजदूरों और किसानों के हितों की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के बिरादरीवालों ने नहीं की। हिन्दुस्तान के जमींदारों की तरफ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम में दिलचस्पी लेने का कार्य करने की कोई कोशिश नहीं की गई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और जमींदार ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी है, कि आज के मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[1] शायद इसमें हिन्दुस्तान के जमींदारों का कोई कुसूर नहीं है। परिस्थितियाँ उनके इतनी खिलाफ थी कि वे उनका मुकाबिला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फँस गये है, जिसमें से अपने को मुश्किल से निकाल सकते है। बहुत-से जमींदारों से तो उनकी जमींदारियाँ बोहरों ने लेली है, और छोटे-छोटे जमींदार जिस जमीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुँच गये। शहरों में रहनेवाले इन बोहरों ने पहले तो जमीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हड़पकर अब वे खुद जमींदार बन बैठे है और गांधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी है जिनको उन्होंने खुद उनकी जमीन से वञ्चित किया है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते है कि वे अपनी आमदनी खास तौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायँगे।

१ एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

अगर ताल्लुकेदारी की प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान-भर में क्यो नही जारी की जाती ? हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सो में रैयतवारी प्रथा चलती है । क्या गाधीजी गुजरात में बडी-बडी जमीदारियाँ और ताल्लुकेदारियाँ कायम होजाना पसन्द करेगे ? तो फिर क्या बात है कि जमीन सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पजाब के लिए ? जहाँतक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व दक्षिण, पूरब और पश्चिम के रहनेवाले लोगो में ऐसा कोई खास फर्क तो नही है, और उनके बुनियादी खयालात भी एकसे है । इसके मानी तो यह हुए कि जो-कुछ है वह जारी रहना चाहिए । इस बात की आर्थिक जाँच नही की जानी चाहिए कि लोगो के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए । बस, सिर्फ एक ही बात की जरूरत है, और वह यह कि लोगो का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय । जिन्दगी और उसके मसलो की तरफ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख है । राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज शास्त्र से उसका कोई सरोकार नही । फिर भी गाधीजी इससे आगे बढ जाते है और राजनैतिक और राष्ट्रीय-क्षेत्र में अपने धार्मिक रुख को ले आते है।

ये है कुछ विकट समस्याये जो आज हिन्दुस्तान के सामने है । हमने अपने को कुछ गुत्थियो में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियो को सुलझा न लेगे, तबतक आगे बढना दुश्वार है । यह छुटकारा भावुकता से नही होगा । बहुत दिन हुए, स्पिनोज़ा ने एक सवाल पूछा था—"ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने, और भावुकता की गुलामी मे रहने, इन दो मे से आप कौनसी चीज को पसन्द करेगे ?" उन्होंने पहली बात पसन्द की थी ।

: ६३ :

# हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के सिद्धान्त की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज में इसी उसूल का बोलबाला रहा है। बहुत-से लोगो ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगो ने अपने में काफी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगो ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मजाक भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में उसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया में भी लोगो का काफी ध्यान उसने अपनी तरफ खींचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति है जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिकरूप में उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलत धर्म से सम्बन्धित चीज थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सांसारिक प्रपंचो से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति लाभ करने का साधन थी। उसके जरिये बड़े-बड़े सामाजिक मसलो को हल करने और सामाजिक परिस्थितियो में परिवर्तन करने का कोई खयाल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्षरूप में। उस वक्त लोगो की करीब-करीब यही भावना थी कि मौजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओ और अन्यायों सहित, ऐसा ही रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह व्यक्तिगत आदर्श-समाज

का भी आदर्श होजाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी गरज से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओं में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीके हैं, एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पड़ता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वयं कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीके से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[1]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे स्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में अनगिनती प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जासकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त

१. ४ दिसम्बर १९३२ को अपने अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उससे।

से था। राजनैतिक अर्थों मे तो अभीतक अहिंसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नही, क्योंकि हिन्दुस्तान अभीतक साम्राज्यवाद के अनीतिपाश मे जकडा हुआ है, और सामाजिक अर्थ में तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नही की। लेकिन फिर भी जो आदमी ज़रा भी गहराई से देख सकता है, वह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोडो लोगों ने उसमें एक जबरदस्त तब्दीली करदी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोडो हिन्दुस्तानियो को चरित्रबल, शक्ति और आत्म-विश्वास का पाठ पढाया है, और ये ऐसे अमूल्य गुण है जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसी भी क़िस्म की तरक्क़ी करना या उसे कायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए है या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौको पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फायदे हिंसात्मक लडाई के जरिये भी हासिल किये है, फिर भी, मेरा खयाल है, कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जासकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीका हमारे लिए बेशकीमत साबित हुआ है। गाधीजी ने समाज में जिस खलबली का ज़िक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चितरूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी वजूहात और हालतो की बदौलत हुई। उसने आम लोगो में वह तेजी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो इनक़िलाबी हेर-फेर मे पहले पैदा होती है।

स्पष्टरूप मे यह बात उनके हक में है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नही लेजाती। असली सवाल तो ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। बदकिस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गाधीजी हमें ज्यादा मदद नही देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है और व्याख्यान भी दिये है। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होंने सार्वजनिक रूप मे उससे निकलनेवाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं

किया। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्त्व-पूर्ण है।[1] ज़ोर-ज़बरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है, और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते हैं मानो वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हो उनको उच्चात्माओं की कोटि का न मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है बल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानो वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं। और गांधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाज़िमी तौर पर अपने-आपको बड़ा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन हममें से जो इतने खुशकिस्मत नहीं कि इस चीज़ में इतनी श्रद्धा रखते हों, उन्हें बहुत-से सन्देहों में परेशान होना पड़ता है। तात्कालिक आवश्यकताओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसंगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूँ कि मुझमें भी यह सन्देह मौजूद है और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को कतई नापसन्द करता हूँ, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान में या अन-जान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दबाव से अधिक दबाव भला और क्या होसकता है, जिसके कारण गांधीजी के अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग कुण्ठित हो जाते हैं और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहते?

१. The Power of Non-violence (अहिंसा की शक्ति) नामक किताब में रिचार्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है।

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफी तौर पर अपना सकते है ? क्योकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊँचा चढा हुआ है। यह सच है कि दर-असल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय अन्त में जाकर ऐसा हो भी सकेगा या नही, यह एक विवादास्पद विषय होसकता है, लेकिन उसके विना जीवन उस निरे बुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस होजायगा, जिसमें कम्पन और तड़प है लेकिन जिसका मतलब कुछ नही है। इस मकसद पर पहुँचने के लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इन गुणो को अपनाने के लिए लोगो में प्रचार करे और उन अड़चनो की कुछ भी परवाह न करें, जो इस मकसद पर पहुँचना नामुमकिन कर रही है और जो इस ध्येय के खिलाफ पड़नेवाली हरेक प्रवृत्ति को बढावा देरही है ? अथवा, क्या हम पहले इन अड़चनो को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करले ? अथवा, क्या हम इन दोनो उपायो को साथ-साथ काम में लायें ?

और फिर क्या हिंसा और अहिंसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है ? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कही अधिक दबाने या मजबूर करनेवाला भयकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द है ? सत्य क्या है ? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारो जवाब दिये जाचुके है, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नही जासकता।

हिंसा स्वत बुरी है, लेकिन आप उसको महज उसके हिंसा होने की वजह से ही पापमय नही कह सकते। उसके कई आकार और प्रकार हैं, और अक्सर यह होसकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबिले में हमें हिंसा पसन्द करनी पडे। गाधीजी ने यह खुद कहा है कि कायरता, डर और गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस फेहरिस्त मे और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोडी जासक्ती हैं, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी हैं। यह सच है कि आमतौर पर हिंसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नही है। यह बात होसकती है कि हिंसा का आधार सद्भावना पर हो (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज, जिसका आधार यह हो, कभी भी सिद्धान्तत पापमय नही हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नही ठहराई जासकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जासकता है, लेकिन यह जरूरी नही है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही सघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नही है। लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की कसम खालेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख इख्त्यार कर लेना, जिसका स्वय जीवन से कतई कोई सम्पर्क नही होता। हिंसा तो आजकल के राष्ट्रो और सामाजिक प्रणालियो का जीवन-तत्त्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जासकते है, न जमीदारो को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही कायम रह सकती है। अपने शस्त्र-बल से कानून दूसरो को दूसरो की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्र-

मणात्मक और रक्षणात्मक हिंसा के बल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गाधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नाकारात्मक और अप्रतिरोधक नही है। वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगो के लिए नही है, जो परिस्थितियो के सामने चुपचाप सिर झुका देते है। उसका तो उद्देश ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्तन के भाव के पीछे उद्देश कुछ भी रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगो को विवश करने या दवाने का भी एक जबरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दवाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखो में गाधीजी ने खुद "मजबूर करना" शब्द का इस्तैमाल किया है। पजाब के फौजी कानून के जमाने के अत्याचारो के सम्बन्ध में दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होने लिखा था —

"कौंसिल के उद्घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्म-सम्मान रखनेवाले के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव होजाता है।

"पजाब के बारे में उन्होंने जो-कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं है। वह चाहते है कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओ पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पजाब के मामले में हम सरकार को पश्चाताप करने के लिए मजबूर करदें, जिसका कोई लक्षण नहीं दिखाई नही देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलो-

चनों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्जत से ताल्लुक रखनेवाले बहुत-से जरूरी मामलों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है, वह इतने ही से सतुष्ट है कि इन विषयों को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक उन अफसरों के जूतों के नीचे दबे हुए हैं, जो अपने-आपको किसी विश्वास और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर चुके हैं, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके किस काम आयेगा? पजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मौजूद रहते हुए सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न किया जाय तो, कम-से-कम निरा पाखण्ड तो है ही।"

यह बात जग-जाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिंसा पर आश्रित है—न केवल शस्त्र-बल की हिंसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से लगाये जासूसों, मुखबिरों, लोगों को भडकानेवाले एजेण्टों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार के भयों की कहीं अधिक भयकर हिंसा पर। उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं और षड्यत्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियों-उपभेदियों, अपराधियों के गुप्त अड्डों के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय व गुप्त हत्याओं के अपने सब साधनों सहित खुफिया-पुलिस का बहुत बडा जाल काम करता है। शान्तिकाल तक में सरकारों के बीच सब प्रकार का झूठा और दगाफरेब जायज है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज्यादा जायज हो जाता है। खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन-सौ बरस

पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वे ईमानदार प्राणी है जो अपने मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्को मे भेजे जाते है।" आजकल तो राजदूतो के साथ उनका फौजी, जहाजी और व्यापारिक कबीला भी जाता है, जिसका खास काम होता है, उस मुल्क का भेद लेना जिस मुल्क मे वे भेजे जाते है। उनके पीछे खुफिया-पुलिस का बहुत बडा जाल, जो षड्यत्रो और धोखेबाजी के ताने-बानो से भरा-पूरा रहता है, काम करता है। भेदियो और उपभेदियो से उनका ताल्लुक, उनकी रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्यायें सब बातें उस जाल में शामिल होती है। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजें खराब है ही, युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढकर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशो के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गई थी, और इन बातो के फैलाने और खुफिया-पुलिस का जाल बिछाने में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वय दो युद्धो के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लडाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रो में सघर्ष जारी रखना ही है। विजयी और पराजितो में, सत्ताओं और उनके मातहत उपनिवेशो में, शोषकवर्ग और शोषितवर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमें भी कुछ हदतक लडाई का वातावरण अपने हिंसा और झूठ के सब अस्त्रो-सहित जारी रहता है और दोनों इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते हैं। लार्ड वोलसली ने 'सोल्जर्स पॉकेटबुक फॉर फील्ड-सर्विस' नामकी एक पुस्तक में लिखा

है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेंगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर मे जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चो की नोटबुको के लिए ही ठीक है, और अगर लोग युद्ध के दिनो में इनपर अमल करने लगे तो यही बेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारे मियानो में बन्द करले।"

वर्तमान स्थिति में, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ है, हिंसा और असत्य का यह पाया करीब-करीब लाज़िमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारो को बनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीड़ितो को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रो और समूहो को तो लाज़िमीतौर पर हिंसा, दवाव और झूठ का आश्रय लेना ही पडता है। सभव है कि ज्यो-ज्यो लोकमत जागृत होता जायगा और इन सघर्षों तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होती जायगी, त्यो-त्यो इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल बात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ इशारा कर रहे हैं और जैसे-जैसे मौजूदा सस्थाओ के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगो की हिंसा भी बढती जाती है। कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कही अधिक सूक्ष्म और अधिक भयकर रूप इख्त्यार कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही जरा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये हैं और अगर सबसे ऊँचे नमूनो को छोड दिया जाय, तो गालिबन दुनिया मे आजकल इस किस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति है, उतने इतिहास के और किसी जमाने में नही थे। कुल मिलाकर तो

समाज ने तरक्की ही की है, और वह कुछ हद तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियो पर अकुश रखने के लिए भी प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहो या समुदायो ने कोई खास तरक्की नही की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जारहा है, और क्योंकि हिंसा हमेशा पहली नही किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगो को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायो के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुष या स्त्री होते हो।

लेकिन अगर हम यह भी मानले कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के सबसे बुरे रूप मिट जायेंगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनो ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना जरूरी है, और इस कारण जिन लोगो को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाजिमी है कि वे व्यक्तियों और समूहो की उन सब प्रवृत्तियो पर, जो स्वभावत स्वार्थ परायण है और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अन्देशा है, अकुश रक्खें और उन्हे रोके। आमतौर पर ये अधिकारी लोग जरूरत से ज्यादा आगे बढ जाते है, क्योंकि ताक़त जिसके हाथ मे पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासको को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यो न हो, फिर भी उन्हें उस वक्त तक अपने यहाँके झगडालू व्यक्तियो का दमन करना ही पड़ेगा, जबतक कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा नि स्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासकों को भी उन बाहरी समूहो का मुकाबिला करना पडेगा, जो लूट-मार के लिए उनके राज्य पर हमला करे। अर्थात् उन्हे ताकत का

मुकाबिला ताकत से करके अपनी रक्षा करनी पडेगी। इस बात की जरूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक एकता और बाहरी आक्रमणो से अपनी रक्षा इन दोनो के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिंसात्मक है या हिंसात्मक? रिन्होल्ड नीबूर[1] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुकाबिले में इतनी भयावह छूट देते है और सामाजिक अविच्छिन्नता को कायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते है, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में अथवा सरकार और क्रान्तिकारियो द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नही कर सकते।

मै ठीक-ठीक नही जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गाधीजी यह बात मान लेगे कि इस अपूर्ण ससार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणो से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पडेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पडोसी और अन्य दूसरे राज्यो के साथ सर्वथा शान्तिमय और मित्रतापूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की सभावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे कानून भी बनाने पडेंगे, जो इस अर्थ में दबाव डालनेवाले होगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायो या समूहो के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जाती है और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता सीमित होजाती है। कुछ हद तक तो सभी कानून दबाव डालनेवाले होते है। कराची-कांग्रेस का प्रोग्राम यह बताता है कि—'जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता में, करोडो, भूखो मरनेवालो की वास्तविक आर्थिक

१ 'Moral Man and Immoral Society' पुस्तक में से।

स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य मे परिणत करने के लिए जिन लोगो के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हें अपने बहुत-से अधिकार उन लोगो के लिए छोड़ देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार हैं।" आगे उसमें यह भी बताया गया है कि मजदूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधायें भी जरूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतो पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "खास उद्योग-विभागो, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्गों, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनो पर राज्य अपना अधिकार और नियत्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" शायद बहुत-से लोग इन सब बातो का विरोध करेंगे। यह होसकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुकालें, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतन्त्र का अर्थ ही बहुसख्यक लोगों का अल्पसख्यक लोगो पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हदतक उन्हें रद करने लिए कोई कानून बहुमत से पास होजाय, तो क्या इस-लिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नहीं है, क्योंकि सभी लोकतन्त्रात्मक कानूनो को बनाने में यही तरीका काम में लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिना पर ऐतराज नहीं किया जासकता। यह कहा जासकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि कसरत राय से जो कानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियो और समूहो को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार कर्त्तव्यशास्त्र की व्याख्या करले, तो लोक-

तन्त्रात्मक प्रणाली का तो खात्मा ही होजाता है। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही सकुचित अर्थों मे छोडकर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियो को सारे समाज पर भयकर अधिकार दे देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मै व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूँ, क्योकि शराब समाज को उतना नुकसान नही पहुँचाती जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते है उनमें-से कुछ लोगो ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बडे बडे जमीदारो ने, जो जबरदस्ती लगान वसूल करने मे सरकार की मदद लेने मे नही हिचकिचाते, और कई फैक्टरियो के मालिक उन पूँजीपतियो ने, जो अपने हलको मे स्वतन्त्र मजदूर-सघ भी कायम नही होने देना चाहते, जोर दिया है। यह बात काफी नही मानी जाती कि जिन लोगो का उस बात से ताल्लुक है उनका अधिकाश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगो को नुकसान है उन्हींका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोडे-से स्वार्थी दल स्पष्टत आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहो और वर्गो के दृष्टिकोण के निर्माता होते है। इन हितो के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारो की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जायें और अपने विशेषाधिकार छोड दे, यद्यपि ऐसा बहुत बिरले ही लोग करते है, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नही करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त

वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए रजामन्द करने की जितनी कोशिशें अबतक की गईं वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जायेंगी। रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[1] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि "व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मिक स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और यह भी कि समस्त मानव-समाजों और समूहों में सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य के सामूहिक व्यवहार में उन मूल बातों को, जो प्रकृति का अंग है और जो कभी भी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अंकुश में नहीं लाई जा सकतीं, पहचानकर मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसमें राजनैतिक आवश्यकताओं की अवहेलना कर देते हैं। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप में, कमजोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्त तक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ ताकत खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योंकि किसी भी सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और

१ Moral Man and Immoral Society पुस्तक में से।

विवेकयुक्त दलीले देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हद तक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासक-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च-पद और विशेषाधिकारो को छोड देगा सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गाधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते है, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नही पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वय कष्ट-सहन का तरीका है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमे कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते है और न किसी भौतिक तरीके से उसकी जाँच ही कर सकते है। इसमे कोई शक नही कि विरोधी पर भी इस तरीके का काफी असर पडता है। यह तरीका विरोधियो की नैतिक दलीलो का परदाफोश कर देता है, उन्हे घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नही हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वय कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शको पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पडता है। बहुत-से शिकारी यह जानते है कि हम जगली जानवरो के पास जिस दृष्टि से जाते है वैसा ही उन पर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उस पर हमला करना चाहते है और उसीके मुताबिक वह अपना रवैया इख्तियार करता है। इतना ही नही, आदमी अगर खुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस भी न हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरो को पालनेवाला जरा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जाने का खतरा फौरन पैदा हो जाता

है। एक बिलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही किसी हिंसक पशु के खतरे का शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड सकता है। वर्ग के रूप में वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क मे नही आता। इतना ही नहीं, उसके सम्बन्ध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकागी और तोडी-मरोडी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते है। वह वर्ग तो बहुत दिनो से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए है, वे समाज-हित के लिए जरूरी है। इसलिए उसके खिलाफ जो राय जाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र-जैसी मालूम होती है। कानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को कायम रखना खास गुण हो जाते है और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सब से महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी-पक्ष से ताल्लुक है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नही ले जाता। निस्सन्देह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नर्मी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित बना देती है। क्योंकि वह समझता है कि उसने इससे उसे गलत स्थिति में डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शका होने लगती है कि शायद वह गलती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियो पर जरूर प्रभाव पडता है और इस प्रकार विरोध की दृढता में कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह

तटस्थ लोगो की सहानुभूत प्राप्त कर लेता है और ससार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा जबरदस्त जरिया है। लेकिन इस दशा में यह सम्भव हो सकता है कि शासक-वर्ग खबर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड-मरोड कर जाने दे। क्योंकि प्रकाशन की एजेन्सियों पर उसका नियन्त्रण रहता है और इस तरह वह असली वाकयात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश मे यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके न्यूनाधिक उदासीन लोगो पर होता है। निस्सदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके जोरदार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगो का हृदय-परिवर्तन कोई बडी बात नही, क्योंकि ये लोग आमतौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नही देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक हलचल बहुसख्यक लोगो पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-मति लोगो को किस तरह अपनी ओर खीच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हद तक नही बदले। मगर जो लोग शुरु से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी उल्लेखनीय सस्था को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आजादी की रक्षा करने के खातिर हिंसा का प्रयोग जायज है, तब यह समझना मुश्किल है कि उस आजादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल प्रयोग के तरीको को इख्तियार करना उतना ही जायज क्यो नहीं है? कोई अहिंसात्मक तरीका प्रभावोत्पादक और

अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक नहीं मिल जाता। उस हालत में जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर काबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तेमाल करने का वह हक फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नहीं था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ बगावत हो, तो वह उसका मुकाबिला कैसे करे? स्वभावत वह यह नहीं चाहेगा कि हिंसात्मक तरीके से काम ले और स्थिति का मुकाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीके से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ होंगे और वे इस बात की कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाबिला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे शायद और भी ज्यादा हिंसा को काम में लायेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाजक-रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है, लेकिन तब खास विशेषाधिकार-प्राप्त और शोषितवर्गों के सम्बन्ध में यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है, और बिना झुके और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ सहने में एक ऐसी उच्चता और ऐसी भव्यता है जिसे मानना ही पड़ता है। फिर भी इसके और कष्ट-सहन के लिए कष्ट उठाने के

बीच में भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओं में अहिंसा सम्भवत दूसरी तरफ अति पर पहुँच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को कायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसो में, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकडा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन में हिंसा आवश्यक रूप से काम में लानी पडती है, इसलिए इन परिवर्तनो के लिए जोर नही दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का जिक्र तक नही किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यो न मौजूद हो), क्योकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना मे, जो हमें अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौके पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योकि यह तो निश्चय ही मालूम पडता है कि जिन वर्गो को विशेष अधिकार प्राप्त है वे अपने प्राप्त अधिकारो को कायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नही हिचकेगें। लेकिन सिद्धान्तत अगर अहिंसात्मक तरीके से कोई बडा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीके से क्रान्तिकारी, सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यो नही होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के जरिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते है और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते हैं, तो हम उसी तरीके से माण्डलिक राजाओ, जमीदारो और दूसरे सामाजिक मसलो को हल करके

समाजवादी सरकार क्यों नहीं कायम कर सकते ? प्रश्न इतना अधिक यह नहीं है कि यह सब कुछ अहिंसा के जरिये हो सकता है या नहीं। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश्य अहिंसा के जरिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासकों के ही खिलाफ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश में उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायों और अड़गानीति ग्रहण करनेवालों के खिलाफ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि उनपर उसका मनो-वैज्ञानिक असर बाहरवालों की बनिस्बत ज्यादा पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों जो यह प्रवृत्ति चल गई है कि उद्देश्यों और नीतियों को महज इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योंकि वे अहिंसा से टकराती हैं, मुझे ऐसी मालूम होती है मानो इन समस्याओं को समझने का जो सही तरीका है उसे छोड़कर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय को इसलिए इख्तियार किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सबसे अधिक वाञ्छित और कारगर तरीके से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से अलग था। वह न तो केवल अहिंसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमें आजादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक तरीकों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फैसला अहिंसा की शर्तों से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक ठीक नहीं बैठता तो नामंजूर कर दिया जाता है। इस-लिए अहिंसा का ख़याल एक ऐसा जड़वाद बनता जा रहा है जिसके ख़िलाफ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप में अब वह हमारी बुद्धि को अपील नहीं करता और श्रद्धा और धर्म के

घोसले मे अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नही, वह तो स्वार्थी समुदायो के लिए पक्का लगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को ज्यो-का-त्यो बनाये रखने के लिए उससे नाजायज फायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध के विचार और लडाई की अहिंसात्मक विधि, हिन्दुस्तान और बाकी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गाधीजी ने वर्त्तमान विचार-जगत् को इनपर गौर करने के लिए विवश करके बडी जबरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव समुदाय अभी इतना आगे नही बढ पाया है कि वह उन्हे पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धो को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते है, लेकिन उससे उन्हे क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है ?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारो की तरह उसका प्रभाव बढता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते है। अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही जबरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्चकोटि के मुट्ठी-भर लोग भी उसपर अमल करे तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढता चला जाता है। सख्या की वृद्धि से उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत मे प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बाते नैतिक सवाल को दबा लेती है। ऐसा मालूम पडता है कि उसके विस्तार से उनकी गहराई पर उसका असर पडता है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो जोर दिया जाता, है उसमे वह एक

दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मजूर करलें या उसे बिलकुल नामजूर कर दें। उसका बौद्धिक अश पीछे जा छिपा है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतकवादियो पर उसका बहुत असर पड़ा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस मे पड़ गये और अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द करदिया, लेकिन अब उन पर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नही रहा है। कांग्रेसवादियो में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय भग के आन्दोलनो में महत्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसा का उसके सब व्यापक अर्थों में ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब वे काफिर समझे जाते है और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नही है, क्योंकि वे अहिंसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्म के रूप में मानने को तैयार है और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोड़ने को तैयार है, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते है। अर्थात् समाजवादी राज्य, जिसमें सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधायें होंगी। व्यवस्थित समाज तो तभी कायम हो सकता है, जबकि आजकल जो विशेष सुविधायें और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त है वे अधिकार समाप्त कर दिये जायें। निस्सन्देह गांधीजी आज भी वही जिन्दा हस्ती बने हुए हैं, जिनकी अहिंसा सजीव और उग्ररूप की है और कोई नही कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे हैं। जैसे हम दूसरो को नापते तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तोल नहीं हो सकता। लेकिन बहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टाय

टाइप के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित सम्प्रदाय के सदस्य बन जाते हैं, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नही होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुत से लोगो को इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमें है कि वर्त्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते है। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पडती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय परिवर्त्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन मे हम स्वय परिवर्त्तित होजाते हैं, और विरोधी की लाइन में आ जाते हैं जब जोश ठडा हो जाता है और हम कमजोर पड जाते हैं। तब हमेशा थोडी सी पीछे की तरफ हट-जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे बडे फख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता है। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियो तक को खो देते हैं। हम उनकी आदतो की, उनके भाषणो की, जो हमारे नये दोस्तो को चिढाते हैं, निन्दा करते हैं और उनपर हमारी एकता भग करने का इलजाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था मे वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर जोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज में दया और उदारता पर जोर देते हैं और स्वार्थी समुदाय वैसे-के-वैसे ही बने रहते हैं।

मेरा विश्वास है कि साधनो की महत्ता पर जोर देकर गांधीजी ने हमारी बडी सेवा की है। फिर भी मैं इस बात का विश्वास के साथ महसूस करता हूँ कि अन्तिम जोर तो लाजिमी और जरूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नही करते तबतक हम इधर-उधर घूमने में और इधर-उधर के मामूली सवालो पर अपनी ताकत बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नही कर सकते। लेकिन साधनो की भी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन

और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल करदेते हैं, ज़बर्दस्त नई-नई समस्यायें खड़ी कर देते हैं। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते, बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें कि वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों को अपनाने से, जिनमें कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नज़दीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अतः निश्चय रूप से साधन ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जायँ या सीमित हो जायँ, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। वस्तुतः प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नहीं होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर ज़ोर दिया है और अगर वह मानव स्वभाव को किसी उल्लेख-योग्य सीमा तक बदलने में कामयाब नहीं हुए हैं तो उनको एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमें लाखों ने हिस्सा लिया, इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक कामयाबी हुई है। कड़े नैतिक अनुशासन पर उन्होंने जो ज़ोर दिया वह भी बहुत ज़रूरी था, हालांकि उन्होंने उस वैयक्तिक अनुशासन के जो स्टैण्डर्ड कायम किये हैं वे शायद बहस-तलब हैं। वह वैयक्तिक पापों और कमज़ोरियों को तो बहुत ज़्यादा महत्त्व देते हैं और सामाजिक पापों को बहुत कम। इस अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुँचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। क्योंकि किसी भी नामी कांग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के द्वार तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों से ग्रस्त है। लेकिन इनमें सबसे बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में खासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए हैं और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी कष्ट-प्रद है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पागई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज है। हालाँकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मामलों में लगें, उसका सतोष-प्रद हल होजाना जरूरी है। पिछले बहुत-से युगों से हम लोग एक अपरिवर्त्तनीय मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी होगये हैं। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन भूतकाल से वर्त्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार होजाती हैं, जोकि अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त में आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करता है।" आजकल की जरूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक सदाचार की एक नई व्याख्या बनावें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट में से निकल भागने का कोई रास्ता ढूंढना चाहते हैं और चाहते हैं कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओं को महसूस कर लें तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो-कुछ कहता है वह भला भी होसकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीके से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करलें, उससे किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझ लेने में हमें कतई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रूड ने कहा है कि धर्म के

आदेश—"विश्वास किये जाने योग्य हैं इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे, दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद है, जो हमें उसी पुराने जमाने से विरासत में मिलते आये है, और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[1]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावो सहित निभ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करे तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नही रहती है। उस हालत में तो वह एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय होजाता है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतो के सिलसिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नो में बहुत मदद दे सकता है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति की कमजोरियो और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। विस्तृत प्रमाण में सामूहिक रूप से और खासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनो के लिए किये जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नही पडता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, बल्कि मौजूदा अवस्थाओ का और इससे भी अधिक मानवप्राणी उसके साथ काम करते है वे उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, इसका भी प्रभाव पडता है।

दुनिया के इतिहास में हिंसा का बहुत बडा हिस्सा रहा है। आज भी यह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और गालिबन आगे भी बहुत वक्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले जमाने में जो परिवर्तन हुए, उनमें से ज्यादातर हिंसा और बलप्रयोग से ही हुए। एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था कि—"मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि

[1] The Future of an Illusion

अगर राजनैतिक सकट के समय इस मुल्क के लोगो को हिंसा से नफरत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतो के अलावा और हिदायतें न जारी की गई होती, तो इस मुल्क मे लोगो को जो आज़ादियाँ है वे उन्हें कभी प्राप्त न हो पाती।"

पिछले ज़माने की, और आजकल भी, हिंसा की महत्ता की उपेक्षा करना नामुमकिन है। उसकी उपेक्षा करना ज़िन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी अवश्य ही हिंसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामो की एक लम्बी लीक छोड जाती है। और हिंसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सज़ा की वे प्रवृत्तियाँ है जो अक्सर हिंसा के साथ चलती है। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वत बुरी नही बल्कि वह इन्ही प्रवृत्तियो की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ चलती है। इन प्रवृत्तियो के बिना भी हिंसा होसकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी होसकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियो से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वाछनीय है कि जहा तक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख इख्तियार नही कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कही ज्यादा बडी बुराइयो के सामने सर झुकादें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नीव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मजूर कर लेना अहिंसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ है। अहिंसा का तरीका तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वे सजीव हो और इतनी सामर्थ्य रखता हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा खयाल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात मे मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर

हालत में किसी-न-किसी किस्म का बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताकत और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा करदी जायें जिनमें उनके लिए इन खास हकों का रखना उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुकसानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बगैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमारे हमखयाल न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी, अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा, तलाश में रहते हैं। किसी भी अन्याय-युक्त पद्धति का मुकाबिला करने के लिए यह लाजिमी है कि जिन गलत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन गलत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका भण्डाफोड़ कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधा युक्त एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ऊंचा उठाने

और उनमे सहयोग, निस्वार्थपरायण सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणो की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त में एक ऐसी ससारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोडा बनकर आवेश उसे हटाना होगा। हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक, और इस बात में बहुत-कम शक है कि अक्सर बलप्रयोग की जरूरत पडेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता की भावना से नही, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की शुद्ध इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नही है, कोई सीधा रास्ता भी नही है और गड्ढो की कोई गिनती नही। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कते और गड्ढे दूर नही हो जायेंगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हे हटाना होगा। यह सब बाते काल्पनिक और सुखस्वप्न सी मालूम होती है और अधिकतर यह सम्भव नही है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओ से प्रेरित होगे। लेकिन हम उन्हे अपनी नजर के सामने रख सकते है और उनपर जोर दे सकते है और यह हो सकता है कि इसके फलस्वरूप हममें से बहुतो में जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए है वे कम हो जायं।

साधन हमें इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले और इन भावनाओ पर अवलम्बित होने चाहिएँ। लेकिन हमें यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलो पर और दलीलो पर हमेशा ध्यान नही देंगे और न ऊँचे नैतिक उसूलो के मुताबिक काम ही करेगे। हृदय-परिवर्त्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर जरूरत पडती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते है वह यही है कि उसको सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावे कि उसकी बुराई कम हो जाय।

: ६४ :

# फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नही रहती थी। मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाहे थी, कि मुझे किसी अच्छी आबोहवा वाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मै देहरादून-जेल में भेजा जा रहा था। कुछ महीनो की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा मे कलकत्ता के बीच होकर गुज़रना बड़ा अच्छा मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगो की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मै उम्मीद-भरी नज़रों से देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ो की तरफ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि, नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नही रही है। मै अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ क़रीब पचास फीट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थी। घेरे की दीवार, जो दस फ़ीट ऊँची थी, खासकर मेरी गरज से उसी वक्त चार या पाँच फीट और

बढा दी गई थी। इसने पहाडियो के जिस नजारे की मैं इतनी उम्मीद कर रहा था, वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ कुछ दरख्तो के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल मे लगभग तीन महीने से ज्यादा रहा, लेकिन मुझे कभी पहाडो की झलक तक दिखाई नही दी। पहली वार की तरह, इस वार मुझे वाहर जेल के दरवाजे के सामने घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा आँगन ही कसरत के लिए काफी बडा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई वन्दिशे नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थी, जिससे कि मैं खिझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने आँगन में जो थोडी-वहुत वर्जिश कर सकता था, उसतक के करने को तवीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। तनहाई कैद का मेरी तवीयत पर खराव असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमागी हालत गिर गई। मैं जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ कुछ फीट की दूरी पर वायुमण्डल में ताजगी और खुशवू भरी है, घास और मिट्टी मे मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षो के वीच मे दूर-दूर तक रास्ते वने हुए है। लेकिन ये सव मेरी पहुँच के वाहर थे और वारवार उन्ही दीवारो को देखते-देखते मेरी आँखें पथरा जाती थी। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सवसे अलग और अकेला रखा गया था।

छ हफ्ते वाद मूसलाधार वारिश हुई, पहले हफ्ते में वारह इञ्च पानी वरसा। हवा वदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ, गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखो या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जव कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाजा खुलता था, तो एक क्षण के लिए वाहरी दुनिया की झलक लहराते हुए हरे-भरे खेत

और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिन पर मेह की बूंदें मोती की तरह चमकती थी, बिजली के कौंध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थी। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियो को साफ तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नजदीक होऊँ तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस जरा-ही हरियाली और ताजगी की ये थोडी-थोडी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नही लगती थी, इन्हे देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था, इसीलिए जब कभी दरवाजा खुलता तो मैं बाहर की तरफ नही देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नही थी। यह तो बाहरी घटनाओ का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है और ऐसी दशा में मैं उसकी कोई भी सेवा न कर सकने में मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत-कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो यह बात न थी, पर देहरादून जेल में मुझे रोजाना अखबार मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। पटना में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की करीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दरमियान में तो वह करीब-करीब गैर-कानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढकर तबीयत मुर्झा-सी गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया में इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे में से निकलने की कुछ कोशिश नही की गई। दूर से ऐसा जान पडा, मानो गाँधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खडे होकर कह रहे हैं, "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना हो, तो मेरी शर्तें

कबूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक थी। क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रखा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासो के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा जरूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि एक तरफ तो गांधीजी लोगो के दिल और दिमाग पर कब्ज़ा कर लेते हैं और फिर उन्हींकी लाचारी की शिकायत करते हैं। मैं समझता हूँ, जनता ने जितनी वफादारी और भक्ति के सामूहिक रूप मे उनका साथ दिया है, उतना बहुत कम लोगो का दिया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नहीं मालूम होता कि उससे जो बडी-बडी आशायें बांध ली गई थी वे पूरी नही हुई। पटना की बैठक मे गांधीजी अन्त तक ठहरे तक नही, क्योंकि उन्हें हरिजन-यात्रा जारी रखनी थी। उन्होने आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी से फालतू बातो मे न पडकर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रखे हुए प्रस्तावो को जल्दी-से निपटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यो के विचारो में इतनी गडबडी और स्पष्टता की कमी थी कि नुक्ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसीने दिया हो। उस वक्त की परि-स्थिति मे यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लडाई का भार अलग-अलग प्रान्तो से आये हुए इन्ही नेताओ पर आ पडा था, और वे ज़रा थके हुए और परेशान से थे। उन्हे कुछ ऐसा तो लगा कि अब लडाई बन्द करनी पडेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमें से एक तो कौंसिलो द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारो

के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं इस नई चीज़ से आपस में फूट पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एक मात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ देखा और जैसा उन्होंने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमिटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जन्म हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की बातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार-धारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज्य-पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें हैं भी नहीं, इसमें बहुत-से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठाली और वह कानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थायें फिर भी गैर-कानूनी बनी रहीं—जैसे, कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान सभायें, शिक्षण-संस्थायें, और नौजवान-सभायें। जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खास तौर पर 'खुदाई ख़िदमतगार' या सरहदी लाल कुर्तीवाले फिर भी गैरकानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१

में कांग्रेस की बाकायदा शाखा बनकर सरहद्दी सूबे में उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने अपनी हलचल का सीधी-लड़ाई वाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढंग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास कानून बनाये थे, वह सब-के-सब कायम रखे और कांग्रेस संस्था के जरूरी हिस्सों पर पाबन्दियाँ जारी रखी। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफसर घूम घूमकर जमींदारों और ताल्लुकेदारों को संगठित करने लगे। जमींदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गईं। युक्तप्रान्त की इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ कभी रिआयत नहीं की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामख्वाह लाल कुर्तीवालों पर लगाई गई बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारों का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त में जब कोई लड़ाई नहीं थी, ऐसी कार्रवाई के समर्थन से मैं दंग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहद्दी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता खान अब्दुलगफ्फारखाँ, जो देश में ऊँचे दरजे के बहादुर और ईमानदार आदमी हैं, और जो बगैर मुकदमा चलायें नजरबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल में थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है। मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू-महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने

साथी की फौरन तरदीद करदेंगे। लेकिन जहांतक मुझे मालूम है, उनमें से किसी ने एक शब्द भी न कहा। हिन्दू-महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी अशान्ति हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश में एक नई स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक्त। मेरी आँखें झपक गईं। याद पड़ता है कि एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फारखाँ पर चारों तरफ से हमले होरहे हैं और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूँ। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आँसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि जागृत अवस्था में तो कभी मुझपर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नहीं आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा जोर का हो गया। जब मैं चौंककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़ा पाया। उन्हें मेरे शोर से चिन्ता हो गई थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर तकलीफदेह असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध के सम्बन्ध में होनेवाली गैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नजर रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर इसके जरिये कांग्रेसवालों को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में "न तो किसी माकूल वजह या मुआवजे के बिना निजी सम्पत्ति की जब्ती का खयाल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता

है।" "वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह जाहिर होता था कि इसके बनानेवाले यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज़ है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल में, इस दल के किसी भी ज़िम्मेदार शख्स की तरफ से ज़ब्ती की कभी कोई बात नही कही गई थी, हाँ, मौजूदा परिस्थितियो में जो वर्गयुद्ध-मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमिटी के इस प्रस्ताव में यह इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध को इस अस्तित्व में यकीन रखता हो कांग्रेस का मामूली मेम्बर तक नही बन सकता। किसीने कांग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नही की थी। कुछ मेम्बर यह राय रखते थे, लेकिन अब यह ज़ाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय सस्था में जहाँ सबके लिए जगह है, समाजवादियो के लिए कोई जगह नही।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रक तक सभी किस्म के लोग इसमें शामिल है। राष्ट्रीय आन्दोलनो का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी किस्म के लोगो की भलाई की होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह दावा तो किया ही नही जा सकता। कोई राजनैतिक सस्था विरोधी-हितो की प्रतिनिधि नही हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी सस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगी। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक

(या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने
ष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी
एक खास विचारधारा है, या वह एक ऐसी परोपकारिणी और
 प्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं है, बल्कि
का भला चाहती है। यह तो उन्ही लोगो की नुमाइन्दा बन सकती
उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आमतौर पर सहमत हो और
के विरोधी हैं उन्हे राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रति-
समझकर उनके असर को रोके या मिटाये ताकि कांग्रेस अपने
तो पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय-
लन में अधिक लोगो के सहमत होने की गुजाइश रहती है, क्योंकि
 सामाजिक सघर्ष से कोई सम्बन्ध नही होता। इस तरह कांग्रेस
-न-किसी मात्रा में भारतवासियो के भारी बहुमत की प्रतिनिधि
बहुत रूप में जरूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग
समें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ इस बात पर रहे कि
ाज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर जोर
का जुदा-जुदा लोगो का जुदा-जुदा ढग था। साम्राज्यवाद के विरोध
स मूल प्रश्न पर जिन लोगो की राय बिलकुल खिलाफ रही, वे
 कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शकल में ब्रिटिश सरकार
ाथ मिल गये। स तरह कांग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल
सि बन गई, जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक
ाम और गांधीजी की जबरदस्त हस्ती से बधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मजमून में उतना न था, जितना कि इससे कि उससे कांग्रेस की बदली हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि

यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव में जायदादवाले लोगो की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगो के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने खयाल के लोगो को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगो ने पहले कांग्रेस की हलचलो का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी कांग्रेस का साथ दिया था, उन लोगो के प्रति भी चापलूसी-भरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुकताचीनी करनेवाला विरोधी-पक्ष (कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणो से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालो के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोडने को तैयार नही थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरमदल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायेगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल मे कांग्रेस ने कभी इख्तियार नही किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओ मे कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बडी बेशकीमती सेवायें रही है और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में बडी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नही, चोटी के नेताओ में भी बहुत-से ऐसे थे जिन्हे आदर्शवादी नही कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओ मे अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान-लोलुपो और समय-

साधकों के लिए दरवाजा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गांधीजी के रहस्य पूर्ण और भ्रमात्मक व्यक्तित्व के सिवा, जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रखा था, कांग्रेस के ये दो रुख थे—एक तो वह जो बिलकुल राजनैतिक था और संगठित दल का रूप इख्तयार कर रहा था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उसके आन्दोलन की शाखाओं को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगी कि मरीज जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक्त कांग्रेस किसी हद तक दबादी गई थी, फिर भी सरकार अपनी दमन नीति को, कुछ मामूली-सी तबदीलियों के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते हैं, और इसलिए अपनी नीति में जरा भी ढिलाई करने से आन्दोलन की गति कहीं उल्टी अधिक तेज रफ्तार न पकड़ले। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मजदूर या किसान-वर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराजी की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हदतक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटना-क्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में

मुझे सरकार की पसन्द के अखबार के जरिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफा खबरें मिलने लगी थी। अपने बाहर के साथियो के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारो में किसी हद-तक परिवर्त्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्त्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मै भूतकाल की बातो का, जब से मैंने सार्वजनिक कार्यो में कुछ भाग लेना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में गुजरी हुई राजनैतिक घटनाओ का खयाल करने लगा। हमने जो-कुछ किया, उसमे हम किसी हदतक सही रास्ते पर थे? किस हद-तक गलती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मै अपने विचारो को अगर कागज पर लिखता जाऊँ तो वह अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम में लगाये रखने मे उसे और इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने मे भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ मे देहरादून-जेल मे मैने अपनी यह 'कहानी' लिखना शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौके आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मै न लिख सका। लेकिन मैने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मै इस व्यक्तिगत यात्रा की समाप्ति के निकट पहुँच चुका हूँ। इसका अधिकाश एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जबकि मै उदासी और मानसिक चिन्ताओ मे दबा हुआ था। शायद इसकी थोडी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमे आगई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओ को भुलाने, अपना गम कम करने में बडी सहायता दी। जब मै इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठको या श्रोताओ का बिल्कुल खयाल न था, मै अपने-आपको सम्बोधन करता था, और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उनके उत्तर देता था। कभी-कभी तो इससे

मेरा कुछ मनोरञ्जन भी होजाता था। यथा-सम्भव मैं बिना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल था कि शायद भूत-काल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के करीब कमला की हालत बडी तेजी से बिगडने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक होगई। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून-जेल छोडने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझसे जिला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं अस्थायी तौर पर रिहा किया जारहा हूँ कि जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन कम छठा महीना था।

## : ६५ :

## ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को दूर फेंक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[१]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जबतक डॉक्टर बिलकुल जरूरी समझें तब तक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना सम्भव न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने-आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

१ बायरन के मूल अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

परिवर्तन आकस्मिक था और मै उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मै एकदम डॉक्टरो, नर्सों और रिश्तेदारो से भरे हुए घर पर पहुँचाया गया। मेरी लडकी इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आगई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे, और अच्छा खाना था। यह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैने उसे बहुत दुबली और निहायत कमजोर हालत में पडे देखा। उसका छाया के समान ढाँचा-भर बडी कमजोरी से बीमारी से लोहा ले रहा था। और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढे अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग़ उस दिन और उसके बाद के इन सब पिछले बरसो में जो-कुछ गुजरा उसके तरफ घूमने लगा। शादी के वक्त मै छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की, दुनियावी तौर-तरीको से सर्वथा अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र मे काफी अन्तर था, और उससे भी अधिक अन्तर हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कही ज्यादा थी। सजीदगी के इन सब लक्षणो के होते हुए मुझमें बडा लडकपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लडकी का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशि-यारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनो एक-दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में सघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चो जैसे छोटे-मोटे

झगड़े भी हो जाया करते थे,जो ज्यादा देरतक न टिकते थे,और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनो का स्वभाव तेज था, दोनो ही तुनकमिजाज थे, और दोनो में ही अपनी शान रखने की बच्चो की-सी ज़िद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सतान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति मे अनेक नई घटनायें हुई और उनकी ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का ज़माना आया और मै सार्वजनिक कामो के आँधी तूफान में अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैने अनजान में उसे बिलकुल नज़रअन्दाज़ कर, उसे अपने खुद के भरोसे पर छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ा भी और यह जानकर बड़ी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद प्रभाव के साथ इसमें मेरी सहायक है। उसने मुझे बल दिया। लेकिन साथ-ही उसकी तन्दुरस्ती पर भी असर पड़ा होगा और उसने अपने प्रति कुछ लापरवाही को भी महसूस किया होगा। इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास ही उसकी सुध लेने के बजाय उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो भी किसी कदर अच्छा ही था।

उसके बाद उसको बीमारी का दौरा शुरू हुआ और जेल-निवास के कारण मेरी लम्बी गैरहाज़िरी रहने लगी, जिससे हम केवल जेल की मुलाकात के समय ही मिल सकते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे हमारे प्रथम श्रेणी के योद्धाओं के बीच ला खड़ा किया, और जब वह खुद जेल गई तो उससे हमें बड़ी खुशी हुई। हम सदा एक-दूसरे के और भी

निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाकातें अनमोल होती गईं, हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं क्योंकि हमारी मुलाकातों और अल्पकालिक सम्मिलनों में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों में से हरेक बराबर एक दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालाँकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत पर कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित सजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुलहन बनकर हमारे घर में आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था, और हालाँकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफतें मौजूद हैं, फिर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाकी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखों के चारों तरफ काली झाईं पड़ गई थीं। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियाँ मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थीं। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते, तो मैं यह जानकर हैरान हो जाता था, कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहनें-सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक-जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनिटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सजा भुगतता हुआ कुछ

ही दिनों के लिए बाहर आ गया था। और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट-सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि उसकी तेज तबीयत अपनी अक्रिय-शीलता और राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अपनी लाचारी के कारण उसे छटपटाती रहती थी। शरीर ऐसा करने में समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।

"सचमुच ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यों, इसलिए कि हम दोनों ने एक दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना अभी-अभी शुरू ही किया है। हम दोनों ने एक दूसरे पर बहुत भरोसा किया था, हम दोनों को एक-साथ रहकर बहुत काम करना था।"

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के खयाल उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो-कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाकिफ नहीं था, उसके बारे में उन्होंने बहुत कुछ कहा। उन्होंने वर्त्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खयाल दिमाग से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब ठोस प्रश्नों का जवाब एकाएक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह

सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी था, उसके बगैर राय जाहिर करना सर्वथा नाटकीय-सा और असलियत से दूर होता। इसके साथ ही मुझे गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय जाहिर करना, उनके प्रति अन्याय करना मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था, उसपर मेरे दिमाग में काफी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कोई निश्चित सूचना देने के लिए तैयार न था। उस समय जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के कारण उस दशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि, सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौके का मैं राजनैतिक बातों के लिए उपयोग करूँ। हालाँकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस खयाल का मुझ पर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफवाहों के खण्डन के मैंने किसी भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टलाया। प्राइवेट बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से गहरे साथी उसमें शरीक थे। जहाँतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब और खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आजाद होता, तो भी एकाएक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से

जहरीला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये बिलकुल कुछ व्यक्तियो के अपने खानगी प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगडो को निवटाने में मैं मदद करूँ।

इन झगडो में पडने की मेरी जरा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके होते हुए भी कुछ घटनायें मेरे सामने आई और उनसे मुझे वडा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कॉंग्रेस के चुनाव पर लोग-वाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें। इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणो से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के वन्द हो जाने के साथ ही वे कारण प्रभावहीन हो गये, और ये लोग एकाएक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के खिलाफ भयकर और अक्सर कमीना तक प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण वात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। खासकर मुझे इस वात का वहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावो के खातिर दुरुपयोग किया गया।

जिन व्यापक प्रश्नो पर चर्चा हुई, उनमें कॉंग्रेस का असेम्वली के आनेवाले चुनाव में अपनी ओर से उम्मेदवार खडेकर चुनाव लडने का निर्णय भी था। नौजवान-दल में से वहुतो ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके खयाल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होने इसके वदले और कोई कारगर रास्ता नही सुझाया। यह एक अजीव सी वात थी कि इनमें से कुछ विरोधी ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तो के आधार पर कॉंग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लडने के खिलाफ न थे। उनका

मकसद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक सस्थाओ के लिए मैदान साफ छोड दिया जाय।

इन स्थानीय झगडो और तेजी से बढते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफरत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नही बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मै अपने को अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसे में अपने को उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मै हैरान था। ऐसे वातावरण मे जब इन जैसे मामलो पर ध्यान देने का समय आता तो मै क्या कर सकता था।

मैंने कमला की हालत के बारे मे गांधीजी को लिखा। क्योकि मेरा खयाल था कि मै जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा, और सम्भव है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौका न मिले, इसलिए मेरे दिमाग मे जो बाते घूम रही थी उनकी भी कुछ कुछ झलक उन्हे देदी। हाल की घटनाओ ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नही की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नही। मैंने जो-कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओ से मेरे दिल पर जो-कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दु ख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मै जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तजार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसो हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरो को यह हिदायत हो गई थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोजाना सूचना देते रहे। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

: ६६ :

# फिर जेल में

छाया निरङ्कुशगतिःस्वयमातपस्तु छायान्वित शतश एव निजप्रसगम् ।
दुःख सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख पीडानुवेधविधुरा तु सुखस्य वृत्तिः ॥[1]

राजतरंगिणी, ८–१९१३

मैं फिर नैनी-जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर, मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था। जीवन में इस प्रकार के अस्थिर परिवर्तन भावना-तन्त्रों को हिला डालते हैं, और अपने आपको नये परिवर्तनों के अनुकूल कर लेना इतना सहज काम नहीं होता। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रखा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सजा काट चुका था। वहाँ थोड़े से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में एक नजरबन्द को, जिस पर न तो कोई मुकदमा चलाया गया था, न कोई सजा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, जो और भी अधिक अन्दर की तरफ था, और जिसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थे।

१. छाया स्वतन्त्र गति है, फिर भी प्रकाश—
छाया-मिला विविध रूप किये स्वतः है।
है दुःख तो पृथक् ही सुख से परन्तु,
पीड़ा अनन्त दुख की सुख को सताती।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी, मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हररोज डाक्टर का एक मुख्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरो और जेल के कर्मचारियों मे सीधा सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित, और कभी-कभी अनियमित, रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही जा रही थी।

बुरे समाचारो और समाचारो की प्रतीक्षा ने दिनो को असह्नीय लम्बा और रातों को उनसे भी भीषण बना दिया। समय की गति मानो बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो, हरेक घण्टा भार और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैंने कभी महसूस नहीं किया था। उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी, लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप्त होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझ से कहा गया था कि मुझे इस तरह पखवारे में दो बार उससे मिलने दिया जाता रहेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन प्रतीक्षा की—कोई मुझे लेने नहीं आया, इसी तरह पाँचवाँ,

छठा और सातवाँ दिन बीता, मैं इन्तजार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुँचा कि उसकी हालत फिर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मजाक था।

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खतम हुआ। मेरी जिन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे खराब थे।

कई व्यक्तियो के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचाई गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाकी दिनो के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—देदूँ तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोडा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारो से दूर की चीज थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनो में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नही की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओ, कार्यो, साथियो और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व की जडो पर मर्माघात, और उन सब चीजो को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थी, अपने हाथो कुचल डालना! मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगडती जा रही है, और उसके निकट मेरी उपस्थिति से जीवन और मरण का अन्तर पड़ सकता है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहकार क्या कमला के जीवन से बडी चीज थी? मेरे लिए यह एक भयकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप मे, वह मेरे सामने उपस्थित नही हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले गये। वह करीब-करीब गाफिल-सी पड़ी हुई थी, बुखार बहुत तेज था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला, तो उसने सहासपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नजदीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है ? ऐसा हरगिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की इन्तजारी कर रहे थे, पर, उसके बजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छ हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ दिखने लगी थी। इन्तजार करते रहना इसलिए अब बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले आया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं ? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी, और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिये नहीं।

करीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नजदीक रह सकूं। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस की 'गारद' के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ा अच्छा लगा और उससे विदा लेकर मैं खुशी-खुशी, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा

पूरी कर सका । सच तो यह है कि कमला तक पहुंचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुँच जाने की बड़ी खुशी थी। ज्यो-ज्यो हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेजी से आगे बढ़ती जा रही थी, सवेरे की ठंडी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थी—पर्वत की चोटियाँ बादलो में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रग बदलती गई, और चारो ओर की पहाड़िया देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगी। कभी सड़क की किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियो का एक नया विस्तार और कही घाटियो की गहराई में एक छोटी नदी कल-कल करती हुई दिखाई देती। उस दृश्य को देखते-देखते मेरा जी नही अघाता था, उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि अच्छा दृश्य देखना मुझे नसीब नही होता, उसीको मैं अपने मन में जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाड़ियो की तलहटी में छोटी-छोटी झोपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारो ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कही थोड़ा-सी ढाल मिल गया, वही कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखो या छज्जो के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानो बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ हो जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी कतार-बन्द चली गई हो। इस बिखरी हुई जनसख्या के लिए प्रकृति से थोड़े से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरतें पूरी हो पाती हैं। इन छज्जेनुमा खेतो के कारण पहाड़ियो में

एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जंगलों से लदी ढालू जमीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊँचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबी-पन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अंक में भर लेती है, और उन्मुक्त प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते हैं। चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियां रहस्य-मयी, भयकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती हैं, और घाटियों के बीच से वायु की कराह सुनाई पड़ती है। गरीब मुसाफिर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मजाक-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज भी नहीं होती, और चारों ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, [illegible] लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक करीब दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियां गम्भीरता से एक ओर देखती रहती हैं और ऐसा [illegible] कोई भयानक रहस्य उस ओर

रहता है, और कई किस्म के जानवरों और कीड़ों की आवाजें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सदेसा लिये हमसे—अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जगलों से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थी। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सतरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और सघर्ष, मैदान और शहरों की वासनायें और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गों से बहुत दूर की चीज लगते।

अलमोड़ा की छोटी-सी जेल एक ढालू जमीन बनी हुई है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें ५१×१७ फीट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊँचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाजा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सीखचों से जड़े हुए खुले स्थान थे, क्योंकि अमल में तो दरवाजा या खिड़की एक भी नहीं थी। ताजी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि सरदी बढ़ गई थी। कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया था। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकाकी वैभव में रहता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में

अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी अनेक बाहों द्वारा, कई खिडकियों में से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और सारी जगह को कुहरे से भरकर नमी फैला देता।

यहाँ रोज शाम के साढे चार बजें मेरे आखिरी भोजन, या यों कहना चाहिए कि भारी चाय ले लेने, के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सबेरे ७ बजे मेरा सीखचोवाला दरवाजा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-दिवारी से एक-डेढ मील दूर के एक पहाड की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलों की बडी आश्चर्यजनक शकलें बन जाती, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। खयाल करता था कि मैं उन्हें सब तरह के जानवरों का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बड़े बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेडों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की-सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बडे साहस के साथ हमारी ओर बढता नजर आता। दिखने में तो बडा ठोस और घना लगता, पर हमारे नजदीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसमें ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढती गई, उसका सूनापन बढता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ गई, तब मेरा ताजी हवा और खुले में रहने का प्रेम भी कम पड गया। मुझे उस समय बडी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही

खूब बर्फ पड़ा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पड़ता और मैं फिर गहरी नींद में सोने की आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खड़े होकर मैं कभी-कभी सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों? मैं बिलकुल ही न जागूं तो?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खाँ की गिरफ्तारी और सजा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वतः मनुष्यता से खाली और अविचारपूर्ण थी, और एक ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्यु-शैया पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफतौर पर जाहिर भी हो गई थी।

[illegible] के बाद कमला को [illegible] के लिए [illegible] ले जाया गया। [illegible] उसके [illegible] मिलता [illegible]। [illegible] जेल से [illegible] था। [illegible] थी कि [illegible] में मिलने की इजाजत दी जाती है। लेकिन [illegible] तकलीफ होती, अगर [illegible] कि महीने में एक या दो बार मुझे यह इजाजत मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनों में जब से कि मैं अल्मोड़ा आया, मैं पांच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नहीं लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरा खयाल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधायें दे रखी हैं वे असाधारण हैं। मैं इसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये [illegible]-सी मुलाकातें मेरे लिए और मैं समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई हैं। मेरी मुलाकात के दिन डॉक्टरों ने किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बातें करने की इजाजत दी है। इन मुलाकातों के फलस्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नजदीक आते गये, और उसे छोड़कर लौटने में सदा ही एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मैं बड़े वेदना-भरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह बिदा आखिरी बिदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पाई थी, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थी। वहाँ उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी खबर मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी, ताकि जरूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूँ। लेकिन

उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझ वहाँ भेजा नही गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है, और वायु-मण्डल में वसन्त के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखाई और सुनाई देने लगी है और जमीन मे जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नजर डाल रहे है। सदा बहार के फूल पहाड़ियो मे स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे है, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झाँक रहे है। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यो-ज्यो वे समाप्त होते जाते है, मै उन्हे गिनता रहता हूँ और अपनी अगली भुवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत मे कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारो का मूल्य ठीक-ठीक न आँका जा सके। शायद विचारो की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन जरूरी है, परन्तु उसकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्त-र्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मै अन्तर्मुखी नही था, पर जेल का जीवन तेज कॉफी या कुचले के सत की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरंजन के लिए, मै प्रोफेसर मैक-डूगल[1] के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहि-र्मुखी वृत्तियो के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेजी के साथ।

१. इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध आधुनिक मानस शास्त्री। —अनु०

: ६७ :

## कुछ ताजी घटनायें

बीते निशा उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नही दिवस हन्त ! पुन गये जो ॥
आशा भरी नयन मध्य अपार किन्तु—
बीतीं वसन्त-स्मृतियां दिल को दुखाती ॥[1]

मुझे जो अखबार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई का हाल मालूम हुआ। उसकी राजनीति और व्यक्तियो में स्वभाव से ही मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसके बांध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व करीब-करीब उसमें लीन होगया था और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनो से भी कही ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् सस्था व अपने हजारो पुराने साथी कार्यकर्त्ताओ के साथ बांध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मुझे कुछ स्फूर्ति मिलना कठिन दिखाई दिया। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयो के होते हुए भी मुझे तो सारा अधिवेशन लाचार-सा मालूम हुआ। जिन विषयो में मेरी दिलचस्पी थी, उन पर शायद ही विचार हुआ हो। मैं इसी चक्कर में था कि अगर मै वहा मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मैं कुछ नही जानता था। मै कह नही सकता था कि नई परिस्थियो और अपने आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय पर पहुँचने के लिए मैं जेल में अपने दिमाग पर क्यों जोर दूँ, जबकि उस

1. चीनी कवि ली तई-पो के पद्य का भावानुवाद।

वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयगा, जब मुझे आजकल की समस्यायो का मुकाबिला करना पडेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। ऐसी हालत में इन गहरे विचारो में पडकर इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योकि ऐसा करने का भार मुझ पर पडने से पहले ही परिस्थितियाँ बदल जायँगी।

अपने सुदूर और पहाड पर के एकान्त निवास स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेपतायें मैं जान सका, वे थी—गाँधीजी का जबरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे द्वारा प्रदर्शित साम्प्रदायिक निर्णय का बिलकुल नगण्य विरोध प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते है, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नही हुआ कि किस तरह गाँधीजी एक छोर से दूसरे छोर तक भारत के एकमात्र सर्व-सर्वा बने हुए है। सरकारी अफसर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर अक्सर यह सोचने लगते है कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गाँधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण होगया है। और जब गाँधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते है, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस प्रत्यक्ष परिवर्त्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते है। काँग्रेस और देश पर गाधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारो के कारण, जो कि आमतौर पर स्वीकार किये जाचुके है, उतनी नही है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्त्व के कारण। व्यक्तित्त्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह प्रमुखरूप से और भी अधिक काम करता है।

कांग्रेस से उनकी अलहदगी इस अधिवेशन का एक अजीब वाक़ाया था और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त होगया। लेकिन असल में इसका महत्व कुछ अधिक नही था क्योंकि वह चाहें तो भी अपने व्यापक नेतृत्व-पद से पीछा नही छुडा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नही थी। कांग्रेस में आज भी गांधीजी का दृष्टिकोण करीब-करीब पहले जैसा ही झलकता है, और यदि वह उनके मार्ग से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस भार और जवाबदेही से वह अपने को जुदा कर नही सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का खयाल करते हुए उनका व्यक्तित्व खुद ही दूसरो का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और इस तरह उसकी अपेक्षा की नही जा सकती।

वह इस वक्त, कांग्रेस से शायद इसलिए अलग होगये है, कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नही बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली का विचार मंजूर कर लिया। मेरे खयाल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नही, और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी असेम्बली बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बगैर ऐसा हो नहीं सकेगा, हां, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह तो साफ है कि वर्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति

मिलने की कोई उम्मीद नही है। देश में जबतक इतनी ताकत पैदा नही होजाती कि वह इस तरह का कोई कदम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ सके, तब तक ऐसी असेम्बली बन नही सकती। इसका लाजिमी नतीजा यही है जबतक राजनैतिक समस्या भी नही सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओ ने विधानकारिणी असेम्बली के विचार को मजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके करीब-करीब पुराने ढग के एक बडे सर्वदल सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादातर अपने आपही चुने जाकर सम्मिलत हो जायेंगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली की असली मन्शा तो यह है कि इस असेम्बली का चुनाव विस्तृतरूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताकत और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नो पर विचार करने में सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगडो से, जिनमे हम लोग कभी कभी बार उलझ जाते है, बरी रहेगा।

कांग्रेस के चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम में मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस बात में बडी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दो में कहा जाय तो यो कहना चाहिए कि मै उनके विरोधियो की हार मनाता था। इन विरोधियों में पद-लोलुप सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगो का अजीब-सा सम्मिश्रण था, जिन्होने सरकार की दमन-नीति का जोरो से समर्थन किया था। इस बात में कोई शक नही था कि इनमें से अधिकांश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदकिस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमे से बहुतो ने साम्प्रदायिक सगठनो की व्यापक रूप में फैली हुई भुजाओ की शरण ली। लेकिन इतने पर भी कांग्रेस को बडी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगो में से बहुत से खदेड दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक सगठनों के साथ सहयोग किया, यहाँ तक कि सनातनियो के सगठनो तक का जिनसे बढकर कि आज भारत में, राजनैतिक और सामाजिक, दोनों ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नही है। साथ ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रतिगामियो तक का सहारा लिया। बगाल को छोडकर, जहाँ कारण विशेष से एक जबरदस्त कांग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमें से अधिकतर सब तरह से कांग्रेस के विरुद्ध थे। इसमें शक नही कि कांग्रेस के सबसे जबर्दस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी भारी तरह की विरोधी शक्तियो के मुकाबिले में, जिनमे कि जमींदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफसर तक शामिल थे, कांग्रेस उम्मीदवारो ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कांग्रेस का रुख विचित्र था, लेकिन इस परिस्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी पिछली तटस्थता की नीति का या यों कहो कि कमज़ोर नीति का लाज़िमी परिणाम था। शुरू से ही दृढ़ नीति अख़्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीक़ा होता। लेकिन क्योंकि कांग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख़्तियार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक ख़ास बेहूदगी की चीज़ थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आज़ादी हासिल करना नामुमकिन था। यह इसलिए नहीं कि इसने मुसलमानों को बहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि कि वे जो-कुछ भी मांगते सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को आपस में एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सों में बांट दिया था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार कर देता था, जिससे कि विदेशी अंग्रेज़ी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य बना दिया।

ख़ासकर बंगाल में, जहां कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्रधानता दी गई है, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, ( इसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है ) का तीव्र विरोध होना ज़रूरी था। और चाहे यह हम पर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी यह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना ख़याल है कि इसके

पक्ष मे एक ही बात कही जासकती है कि खुद इसकी बुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत मे वह किसी बात का स्थायी आधार बन नही सकता।

नैशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू-महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक सगठनो ने स्वभावत ही इस जबरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना उसके समर्थको की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारधारा के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई और अब भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकार अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयो के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू-महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ गई है। उसको यह सूझता नहीं मालूम पड़ता कि इस नीति का अख्तियार करना सिर्फ अपमान-जनक ही नही है बल्कि उससे निर्णय का बदला जाना बहुत ज्यादा कठिन हो जाता है, क्योकि यह मुसलमानो को खिझाता ही है और उन्हे और भी अधिक दूर खीच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर बहुत बड़ा है और स्वार्थो का संघर्ष बहुत ही साफ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थो के सकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनो साम्प्रदायिको को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियो का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह सिर्फ मुट्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और और लाभदायक नीति पलट देगी मुसलमानो को नाखुश करेगी?

खुद यह बात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से बहुत आगे बढे हुए है और राष्ट्रीय आज़ादी के लिए बहुत ज़ोर देते है, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतो के कारण (और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नही सकती) उनके राजनैतिक विरोध मे कुछ अन्तर नही पड जायगा, लेकिन ऐसी रिआयते मुसलमानो के रुख में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी।

असेम्बली के चुनावो ने दोनो अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओ, हिन्दू महासभा और मुस्लिम-कान्फ्रेंस, के हिमायतियो की अत्यन्त स्पष्ट रूप से कलई खोल दी। इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े ज़मीदारो या साहूकारो से लिये गये थे। महासभा ने हाल ही मे कर्ज़-बिल का ज़ोरो में विरोध करके भी साहूकार-वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायो से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हीके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशे वाले लोगो से लिबरल-दल बना है। हिन्दुओ पर उनका कोई खास प्रभाव नही है, क्योकि निम्न मध्यम वर्ग में राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है। औद्योगिक नेता भी इन लोगो से अलग ही रहते है, क्योकि नये-नये धन्धो और अर्द्धमाण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओ में परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धेवाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे मे पडने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियो और सरकार दोनो ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते है। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलो पर कोई खास ध्यान नही देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानो के निम्न मध्यम-वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछडे हुए है। इस तरह हम देखते है कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियो में रहे

हुए अधिकारी लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक सस्थाओ पर ही कब्जा किये हुए है बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम में ला रहे है। सरकारी उपाधिधारियो, भूतपूर्व मिनिस्टरो और बड़े-बड़े जमीदारो के मजमे का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेंस है। और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयो में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू-जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताकतवर है। और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेजी से समाजवाद की ओर बढ जायेंगे। इस समय तो मुस्लिम शिक्षित-वर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही तरह से चेतना-हीन सा हो गया है और उसमें कोई स्फूर्ति नही रह गई है। अपने पुराने रहनुमाओ के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नही सकता।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढी हुई महान् सस्था कांग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन कर रहे है, वह वर्त्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कही अधिक फूक-फूककर कदम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो माँग करते है, लेकिन उसकी राय जानने या दु ख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हो। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम गैर-कांग्रेसियो को अपनी ओर खीचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामो तक के सम्बन्ध में उन्होने अपना रुख बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियो तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपेट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कही अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कही अधिक मदद मिली होती। अब क्योंकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ

नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दकिया-नूसो के लिए और भी ज्यादा गुजाईश हो जायगी, और कांग्रेस के नेताओ और जनता के बीच खाई और भी चौडी हो जायगी। असेम्बली मे जोरदार भाषणो की झडी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले मे करती आई है।

पिछले कुछ बरसो में, जबकि कांग्रेस कौसिलो का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिले जनता की असली प्रतिनिधि है और लोकमत को प्रकट करती है। लेकिन यह दिल्लगी की बात है, कि अब जब कि असेम्बली मे अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव मे मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओ की संख्या बहुत ही थोडी, तीस करोड या उसके लगभग जनता में से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोडो लोगो को वोट देने का हक नही मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अंग्रेजी सरकार के हामी है। इसका जवाब साफ है। हरेक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगो का खयाल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारो पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारो ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनायें हुई, उनमें अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उसमे भारतवासियो के प्रति 'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओ पर विचार करने का मुझे यह तरीका बडा विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश

साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितो में कोई महत्वपूर्ण विरोध नही है ? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे। स्वतन्त्रता क्या हम महज साम्राज्यवादी नीति को कायम रखने के लिए ही चाहते है ? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश-नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेगे और जैसा वह चाहती है, ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते हैं, तबतक 'सरक्षणो' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने खुद के हाथो में शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यो मचाया जा रहा है ?

यह साफ जाहिर है कि ओटावा-पैक्ट, आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए, बहुत लाभकारी नही हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है,और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञो और व्यवसायियो की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितो के बलिदान पर। उपनिवेशो, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में स्थिति इससे उलटी है।[2] उन्होने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापा-

१ सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाजी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से लाभप्रद रहा है।"

२. जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अखबार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जबकि यह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में यह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट-

रिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकांश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और मान्य देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे आटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[1] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथों में जल्दी ही शासन सूत्र आजाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[2] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के लागू की

ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५,००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०.९ फ़ी सदी घटा था, जबकि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ ३२.९ फ़ी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात की कमी कहीं अधिक कभी नहीं हुई, किन्तु इन देशों से हमारे आयात की कमी कहीं अधिक थी।"

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी ग़लती मानते जा रहे हैं।" (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मेञ्चेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से से उद्धृत।)

२. कनाडा के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बेनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजना' (New Deals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तबदीली हो रही है। श्री लिटवीनोव, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इससे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विस वालों को

खींचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ो और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई, जिसपर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियो की ओर से सख्त नाराजगी जाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट का भंग कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नही हुआ, बल्कि इसके खिलाफ वहाँ भी कड़ा रुख इख्तियार किया गया।'

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगो में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नही है, हाँ, आयर्लैण्ड वालो में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। संघर्ष स्वार्थों के परस्पर विरोध के कारण होता है, और जहाँ कहीं इस किस्म के हित-विरोध हो, हिन्दुस्तान में 'संरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित प्रधान रहे। 'संरक्षण' के क्या नतीजे होगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल में की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से लग जायगा, जिसकी ब्रिटिश-धन्धेवालो की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यव-

---

इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालो का साथ छोड़ दें, नहीं तो वे खुद ही उन भयंकर सिद्धान्तो के समर्थक बन जायगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में भी किंग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आगये है।)

२ मेल्बोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लंकाशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लंकाशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लंकाशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' से उद्धृत।)

साथियो और उद्योग-धन्धेवालो से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी ज़िद्द से उसे कायम रक्खा। ऐसे सरक्षणो की तो बड़ी ज़बरदस्त कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफरीका में है, जिससे कि इन उपनिवेशो के लोग न केवल व्यापारिक मामले मे ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छन्नता के महत्त्वपूर्ण विपयो में भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करले।[१]

कहा गया है कि साम्राज्य का अर्थ है 'कर्ज़', और सरक्षणो का निर्माण इसीलिए किया गया है कि शाही लेनदार अपने सब विशिष्ट स्वार्थों और शक्तियो को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने अभागे कर्ज़दार पर अपना ज़बरदस्त काबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहराई जाती है, यह है कि गाँधीजी और कांग्रेस ने ऐसे सरक्षणो के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गाधी-अर्विन समझौते मे भारत के हित में 'सरंक्षण' की वात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सरक्षण फिर भी छोटी

१. दक्षिण अफरीका-सघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि सघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम य जना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यो न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफरीका को दूसरे वाहरी युद्धो में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है कि गृह-युद्ध छिड जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फरवरी १९३५ को भेजा हुआ रूटर का सवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट्ज़ोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को ज़ाहिर करता है।

बातें हैं।[1] जो कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियों सुविधायें, जिनका उद्देश हिन्दुस्तानियों पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान में उन्हें इस देश के शोषण में सहायता दी है, स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधायें और 'सरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना गैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए, किसी किस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'सरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायगा' और यह दिन-दिन साफ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय संघ एक वाहियात चीज है, और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत-कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही) सौंप दी गई है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कोई शक्तियाँ—कुछ कर-धर सकने के साधन नहीं दिये गये हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैण्ड अपने हाथों में रक्खे हुए हैं। निरकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तियुक्त हो जिससे कि वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली

१. लन्दन का 'इकनॉमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों में बसनेवाले मूल निवासियों को हम महँगी दर पर लंकाशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ में उन निर्णयो को अमल में लाने की शक्ति, भी होनी चाहिए। इतने पर भी, इसमें शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र, भी जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशो में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-सचालन के लिए अवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा या नही, लेकिन वह प्रश्न हमारे यहाँ नही उठता, क्योकि हमारी गति हथकडियो और बेडियो से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाजे बन्द करके ताले लगा दिये गये है। हमे ऐसी मोटर देदी गई है, जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी लगे हुए है, लेकिन उसे चलानेवाला एजिन नदारद है। मार्शल-लॉ—फौजी कानून ही जिनका आधार है, ऐसे लोगो का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल में विश्वास रखने वाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी कानून—ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोडने का अर्थ है अपना सर्वनाश।

इग्लैण्ड के इस तोहफे से हिन्दुस्तान को किस हदतक आजादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछडे हुए दलो तक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियो को भी इसकी आलोचना करनी पडी है, लेकिन उन्होने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढग के साथ। दूसरे लोगो ने उग्ररूप से विरोध किया है।

नरम दलवालो का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अग्रेजो के मातहत करने में अपार बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओ ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होने तीव्र आलोचना की, लेकिन असलियत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दो और लुभावने हाव-भावो से, उसमें इसी बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि रिपोर्ट और बिल,

दोना में, 'डोमीनियन स्टेट्स' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द गायब है। इस सम्बन्ध मे, उनकी तरफ से, बडा वावैला मचा था और अब क्योकि सर सैमुअल होर ने इस विषय मे एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नही सकेगे। हाँ, उसके सपने देख सकते है और उसकी अनेक सुन्दरताओ का ओजमय वर्णन कर सकते है। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहो से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट् की शरण ली है। क्योकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल कानूनदा है उन्होने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते है—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनो के ऊपर सम्राट है जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकाक्षा किया करते है।"[१] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमें शासन-विधान, कानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियो की झंझटो में पडने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नही होगा कि नरम दलवालो ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमें से अधिकाश ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतो को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते है, बनिस्बत उस बिन-मागे तोहफे के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हे आगे बढकर कुछ करने से रोकते है, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातो पर जोर देते रहेंगे। एक पुरानी

१ लखनऊ की, २९ जनवरी १९३५ को एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

कहावत, वर्त्तमान समय के अनुकूल तबदील कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक वार कामयाबी न मिले, तो फिर चिल्लाओ !"[१]

लिवरल नेताओ और कितने ही दूसरे लोगो ने, जिनमे कि कुछ कॉंग्रेसवाले भी शामिल है, इग्लैण्ड मे मजदूर-दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा वॉध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नही है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलो के सहयोग से आगे वढने का प्रयत्न क्यो न करें, अथवा मजदूर सरकार के आगमन से लाभ क्यो न उठावे। लेकिन इग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्त्तन पर ही विलकुल निर्भर रहना न तो सम्मान की वात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी वुद्धिमानी की वात भी नही है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यो रक्खें ? हम अभी दो वार मजदूर दल की सरकार देख चुके है, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफे मिले है, उन्हे हम भूल नही सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर-दल से अलग हो गये हो, लेकिन उनके पुराने साथियो में भी कोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नही देता। सन् १९३० के अक्तूवर में साउथपोर्ट मे होनेवाली मजदूर दल-कान्फ्रेन्स में में श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ्रेन्स का यह विश्वास है कि यह वहुत-ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त कार्य में परिणत किया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस

१. "Try again" (ट्राई अगेन) अर्थात् फिर प्रयत्न करो, यह अंग्रेजी की कहावत है, किन्तु लेखक का व्यंग है कि इनके लिए ट्राई के वदले क्राई करके "Cry again" अर्थात् "फिर चिल्लाओ" की कहावत अधिक मौजूं है। —अनु०

ले लेने के लिए बड़ा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से अपनी स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग में लाने का आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर से बता चुके हैं कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब सम्प्रदायों से सलाह करेंगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगों का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलों में इंग्लैण्ड के अनुदार और मजदूर-दल में बहुत कम फर्क है। यह सच है कि सर्व-साधारण मजदूर-वर्ग कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओं पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मजदूर के उग्र विचारवाले शक्तिसम्पन्न हो जायँ, क्योंकि आजकल परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से बदल रही हैं, लेकिन क्या विलायत के नीति-परिवर्तन के इन्तजार में हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दें और सो जायँ?

हमारे देश के लिबरल दल वाले ब्रिटिश मजदूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे हैं, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, किसी फरक से, यह मजदूर दल उग्र विचार का बन जाय और इंग्लैण्ड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्य में परिणत करने लगे, तो हिन्दुस्तान में और यहां के लिबरल और दूसरे नरम दलों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? इनमें से अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से बहुत पुराण-पन्थी हैं। वे मजदूर दल के समाजवाद और आर्थिक परिवर्तनों को पसन्द न करेंगे और

भारत में उनके प्रचलित किये जाने से डरेंगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति समाप्त ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझे जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी हैं, अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगें। निस्सन्देह हममें किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है, यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके कि हम विरोधी हैं, साम्राज्यवाद को एक बारगी उन्होंने धता बताई नहीं कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे!

गोलमेज-कान्फ्रेन्स की कार्रवाई और नये शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशों को मैदान में बहुत आगे ला देना। उनकी और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति प्रदर्शित बहुत अनुरागभक्तियों की पुन-[illegible] ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेजिडेन्ट के [illegible], और अनेक देशी नरेशों के प्रति भारत-सरकार का व्यवहार भी [illegible]-पूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में [illegible] [illegible]
[illegible]

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का खयाल मुझे परेशान कर रहा है। असलियत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सब जगह घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जारही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े या अपना यौवन नष्ट कर रहे हैं और बरसों से अपने जिगर का खून पी रहे हैं।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी और हजारों दूसरे लोगों में कटुता बढ़ती जारही है और नग्न-पाशविकता के सामने अपनी

१ होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा-सभा में जेलों और स्पेशल कैम्पों में बन्द नजरबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलाई थी —बंगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नजरबन्दों की है, जिन पर न तो मुकदमा चलाया गया न सजा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक क़ैदी शामिल नहीं हैं। जिन लोगों को सजा दी गई है, आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के १७ दिसम्बर (१९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेन्स हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी क़ैद की सजा दी थी। अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पखवाड़े में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले कई कानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस कानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज कर दिया। दूसरे प्रांतों में भी ऐसे ही कानून बनाये गये हैं।

जलालत और बेबसी की कुत्सित-भावना ने उन्हे घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक सस्थाये गैरकानूनी करार दे दी गई है और 'सकट काल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्ति रक्षा-विधान' (ट्रैंक्विलिटी एक्ट्स) सरकारी शस्त्रागार में करीब-करीब स्थायीरूप से शामिल कर लिये गये है। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जारहे हैं। बहुसख्यक पुस्तके और पत्रिकायें या तो जब्त की जारही है या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेशबदी की जा रही है और 'भयकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सजाये दी जाती है। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्त्तमान सामाजिक या सास्कृतिक स्थिति की प्रशसात्मक रिपोर्टे सेसर की प्रबल नापसन्दी का शिकार होती है। 'माडर्न रिव्यू' को बगाल सरकार की ओर से महज इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होने स्वय रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमत्री इस पर पार्लमेंट में फरमाते है कि—"उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतो का विकृतरूप दिखाया गया था" इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गई थी।[1] इन नियमतो के निर्णायक सेन्सर महोदय होते हैं, और हम उनके विरुद्ध मन नही रख सकते या जाहिर नही कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेन्डस् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सास्कृतिक विषयो में रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त ससार मे सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे अस-

१. १२ नवम्बर १९३४

हाथ जन-साधारण का तो कहना ही क्या ? सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रखा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनों से भी कहीं ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति में असम्भव है, [1] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरुआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक समझदार आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार क्रान्ति के मध्य में है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से अनुभूत घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बड़े महत्त्व के परिवर्तन हो रहे हैं, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ ही हो, बहुत दूर नहीं है--वह कोई ऐसी दूर की चीज नहीं है, जो मस्तिष्क में निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें वह समझे और अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जारही है और एक नये संसार का निर्माण होरहा है। किसी समस्या का जवाब ढूँढने के लिए यह जरूरी

१. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस-एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर जमानत और जब्ती आदि का प्रयोग हुआ था। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रकम की व्यवस्था न कर सके; बाकी के १६६ पत्रों ने जमानत देदीं, जो २,५२,८५३ रुपये की रकम थी।

है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या को समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओ से आश्चर्य-जनक रूप से नावाकिफ है, या उनके प्रति उदासीन है। सम्भवत यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफसरो तक बढा हुआ है, क्योकि सिविल-सर्विस वाले बडे मजे से और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से सकुचित दायरे में रहना पसन्द करते है। केवल सर्वोच्च अधिकारियो को ही इन समस्याओ पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओ का ध्यान रखना पडता है और उन्हीके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी पडती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बडा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते है कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-सघ की बढती हुई ताकत, या स्यागकियाग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य-एशिया या अफगानिस्तान या फारस की घटनाओ का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य-एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पडता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण-नीति का आधारस्तम्भ बन गई है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के है वे आर्थिक परिवर्त्तन, जो आज सारे ससार में हो रहे है। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवी सदी का तौर-तरीका गुजर चुका है और वर्तमान आवश्यकतायें इसके जरिये पूरी नहीं की जा सकती। वकीलो का नजीरें दे-देकर बहस करने का तरीका, हिन्दुस्तान में इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि यहां नजीरें नहीं रही है कुछ काम का नहीं रहा। [illegible] को [illegible]

की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको नाअसली समझकर छोड़ देना होगा, और इसका स्थान दूसरे को देना होगा। रूस के सिवा भी 'नवीन-योजनाओं' और महान् परिवर्तनों की चर्चा हो रही है। सब प्रकार से पूँजीवादी प्रणाली को कायम रखने और मजबूत करने की दिली इच्छा से प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक ऐसी योजनायें प्रचलित की हैं, जिसमे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने "अत्यधिक विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्ग को उखाड़ फेंकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्त्वकाक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता। इंग्लैण्ड मे श्री लॉयड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नई योजना) लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी अनेक नई योजनायें चाहते हैं। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने योग्य है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक भयंकर बेवकूफी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और वह हमें बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को जिन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था को अधिकतर उन्नत करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राज-नैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दुःख-दरिद्रता की कीमत पर उनको कायम रखने का

प्रयत्न किया जाय ? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थो को आघात पहुँचाना नही है, वरन उनको दूसरे लोगो पर आघार करने से रोकना है। यदि इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता मे बहुत कम सन्देह होगा। साफ है कि यह समझौता इस प्रकार नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ कायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और जरूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवजा दिया जा सकता है, क्योकि झगडे मे अधिक हानि होने की सम्भावना है। मगर, अफसोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे समझौते स्वीकार नही करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अग नही रह गये है, काफी विवेकशून्य होते है। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा देते है और इस तरह अपना अन्त कर लेते है।

जब्ती आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी 'असम्बद्ध चर्चा' (जैसाकि कांग्रेस कार्य-समिति ने अपने एक प्रस्ताव मे कहा था) हो रही है। लेकिन जब्ती—मुस्तकिल और निरन्तर जब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज मजदूरो के गाढे पसीने की कमाई जब्त की जा रही है, और इस हदतक लगान और मालगुजारी बढाकर कि किसान उसके अदा करने में असमर्थ हो जायें, उसकी जोत जब्त करली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियो ने सार्वजनिक भूमि पर कब्जा कर लिया और उससे बडी-बडी जमींदारियाँ बनाली, इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड फेंके गये। सारांश यह कि जब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम में लाता है, जो स्वयं ही जब्ती के रूपक हैं, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, कर्ज से छुटकारा दिलाने का कानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को अपरिमित कर्ज की अदायगी से इन्कार करते देखा है, केवल रूस का सोवियट संघ ही नहीं, वरन अग्रणी पूँजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये हैं। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्जा अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रक्खा गया एक भयंकर उदाहरण! लेकिन इन सब जब्तियों से और कर्जों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणों से छुटकारा नहीं मिलता। नये निर्माण के लिए तो जड़ पर कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत बदलने का उपाय निश्चित करते समय हमें भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाजा करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नहीं सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर, हमारे निराशामय और कुत्सित भुख-मरी और गरीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक-पतन के गहन भार सहित उसे ज्यों-का-त्यों चलने रहने देने के लिए, हमें कितनी जबरदस्त कीमत चुकानी पड़ती है। हमेशा बढ़नेवाली प्रलय की बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियों लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या इसमें से कुछ लोग बाल्टी से पानी उलीच-उलीचकर इस

प्राणियो को बचा नही सकते। बाँध बनवाने होगे, नहरे निकालनी होगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह साफ है कि समाजवाद जो महान् परिवर्तन लाना चाहता है, वह कुछ कानूनो के सहसा पास कर लेने मात्र से नही हो सकता। लेकिन और आगे बढने और इमारत की नीव रखने के लिए कानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ मे होना जरूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है, तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटो को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसी को वञ्चित करना नही, वरन सम्पन्न करना है, वर्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते मे से सब रुकावटों और स्वार्थों को, जोकि समाज को पीछे रखना चाहते है, जरूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख्तियार कर रहे है, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नही है कि हम क्या पसन्द करते है या क्या पसन्द नही करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, वरन इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितो अथवा स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नही है। इसमे से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावु-कतामय शोर से काम नही चलेगा। इसके साथ-साथ प्राणो और हृदय से युक्त आराधना मिश्रित और सुनियुक्त तर्कपूर्ण चिंतन भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस प्रकार का साहित्य बहुतायत से मौजूद

है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशों की पुस्तकों का पढ़ना ही काफी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद का निर्माण होना है, तो वह भारतीय अवस्थाओं के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की जरूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदकिस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध सरकारी यूनीवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफी नहीं है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूँ कि बिना उस आधार के किसी हालत में भी हम विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते हैं। इस क्षण तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र? अवश्य ही, मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूँ, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं, वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूँजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने निर्धन हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मजदूरी की वृद्धि और काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी माँग का वे जबरदस्त विरोध करते हैं। इन्हीं दिनों कपड़े की

मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल मालिकों ने मजदूरों की—फुटकरिये मजदूरों तक की मजदूरी घटा दी है। इसतरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मजदूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टेण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइजेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण)[1] मजदूर की उचित मजदूरी बढ़ाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढ़ाता हुआ, तेजी से बढ़ता जा रहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौका आता है, वे अनाप-शनाप लाभ उठाते हैं, और मजदूर वैसे-का-वैसा बना रहता है; लेकिन अगर कोई आफत आजाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मजदूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम-श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हीं की ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मजदूरों की अवस्था कहीं अधिक अच्छी है बनिस्बत बम्बई या दूसरी जगह के। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरों की हालत बंगाल के जूट मिलों के और कोयले की खानों के मजदूरों से अच्छी है। छोटे-छोटे, असंगठित उद्योग-धन्धों के मजदूर औद्योगिक परिमाण में सबसे नीचे दर्जे के हैं। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिकों के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी-जीवन और शान-शौकत की अगर अध-नंगे मजदूरों के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उनसे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम उस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसकी उपेक्षा कर देते हैं।

१. उत्पादकों, मजदूरों आदि के सहयोग से उद्योग की वह व्यवस्था जिसमें उत्पत्ति और वितरण का अनुपात कायम रहता है। —अनु०

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत इतनी खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डल वाले गाँव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। उसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही उसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरएक आदमी उस पर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है? किस तरह वह अपनी जिन्दगी बिता रहा है, यही अत्यन्त आश्चर्य की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८-२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०-३१ में वह गिर कर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई। पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल माने जाते हैं। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलों (गोरखपुर आदि) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनों में मजदूरी दो आना रोज थी। [illegible] या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा [illegible] करने की [illegible] बेचारे किसान और [illegible]।

सा मालूम होता है। आगामी वर्षों में भारत क्या रुख अख्तियार करेगा ? समाजवाद और फेसिज्म इस युग की प्रधान वृत्तियाँ मालूम होती हैं, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय लुप्त होते जारहे हैं। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फेसिज्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज़ से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियों में फेसिस्ट भावना साफ प्रकट है—खासकर बगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तो में भी, और कांग्रेस मे भी उसकी झलक आने लगी है। फेसिज्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कांग्रेस के बडेबूढे, जिन्होने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावत ही उससे डरते हैं। लेकिन फेसिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत सम्पत्ति कायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हे पसन्द आजायगा। शुरू में ही देखने पर यह तो बडा सुन्दर ढग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीका बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रखो, ये दोनो बातें एकसाथ मुमकिन भी है या नही, यह बात दूसरी है।

फेसिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम-श्रेणी के नवयुवको से। वस्तुत इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी हैं वह मध्यम-श्रेणी का ही भाग हैं, मजदूर या किसान-वर्ग का उतना नहीं, हालांकि कल-कारखानो के मजदूर-वर्ग में इसकी गणना अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम-श्रेणी फेसिस्ट विचारो के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, यूरप के ढंग का फेसिज्म यहां नही चल सकेगा। भारतीय फेसिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और कल्पित ब्रिटिश साम्राज्य-

वादिता से वह अपने को भिन्न न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पड़ेगी। यदि ब्रिटिश-सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फैसिज्म बड़ी तेजी से बढ़ेगा, क्योंकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के शीघ्र उठ जाने की सम्भावना नहीं है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारों का भी जोरों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) गैर कानूनी करार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखने वाले और बढ़े-चढ़े प्रोग्रामवाले मजदूर संघों तक को शामिल कर लिया जाता है।

फ़ैसिज्म और साम्यवाद, इन दोनों में से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्हीं पृष्ठों से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद[1] की उदार-परम्परा का मुझ पर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्रों की खिजलाहट के कारण बने हुए हैं। कट्टरता को मैं नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिसको कि

१. मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें अधिक दैवी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानवहित को अपना अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस इस मत के अनुसार मनुष्य प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए। —अनु०

चेलेन्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियो के खिलाफ जिहाद, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये है, मुझे पसन्द नही है।

मूल्यो के सिद्धान्त ( Theory of Value ) या दूसरी किन्ही बातो में मार्क्स का विवेचन गलत हो सकता है, मैं उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नही हूं, फिर भी मैं समझता हूं कि समाज-विज्ञान मे उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओ का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्त्तनो का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखको की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यम-वर्ग में होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओ की जागृति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरे प्रवृत्तियो की उपेक्षा की अथवा उनका महत्व आंका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने का तरीका और बाधाओ से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का यह तरीका भी स्थायी अथवा न बदला जा सकने वाला नहीं है, बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। यह

हमसे कहता है कि "किसी खास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना किसी संघर्ष के निश्चित साधनों के प्रश्न पर 'हाँ', या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अँधेरे में टटोलने की चीज नहीं रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते हैं। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्य-जाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ कदम-ब-कदम चलने' की उसमें बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्यूनिस्ट इन सब बातों को नहीं समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नों को इतना कारगर बनाया फिर भी, कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ गया है, इन बातों को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टों के साथ सब्र के साथ पेश आसकना बहुत मुश्किल है, उन्होंने दूसरों को चिढ़ाने देने का अजीब ढंग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी हैं, और रूस के सोवियट-संघ के बाहर, उन्हें अनगिनती कठिनाइयों का मुक़ाबिला करना पड़ता है। मैंने उनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा

सराहा है। करोड़ो अभागो की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्वशक्तिसम्पन्न भाग्य में अन्ध-श्रद्धा रखकर नही। मर्दों की तरह वे मुसीबतो का सामना करते है, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगो की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तो पर कोई ज़ाहिरा असर नही पड़ता। यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि प्रतिकूल परिस्थितियो या राष्ट्र-शक्तियो का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगो को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा। वहाँ अधिकतर जो-कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मैं यह समझता हूँ कि वह ससार के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आशा का सदेश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नही है, और न मैं अपने आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ। मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कही ऐसी भयंकर लीक न छोड जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल होजाय। लेकिन सबसे बड़ी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओ के पक्ष में कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलो से शिक्षा ग्रहण करने मे नही हिचकते। वे अपना कदम पीछे ले सकते है, और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते है। अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सघ—द्वारा दूसरे देशो में उठाई गई उनकी प्रगतियाँ नितान्त असफल रही है, और अब तो वैसी प्रगतियाँ घटते-घटते [illegible] हो गई है।

उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातों, साज़िशों और हथकण्डों के फैलाने में यहां अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और इनमें एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे हैं। उनमें से विरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊंचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हों। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्जुआ-जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम-श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसीकी आवाज़ बुलन्द है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नहीं है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियों से दबाई जा रही है। इस समय वह अपने अस्तित्व के खतरे में से गुज़र रही है, भविष्य में उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्रीय आज़ादी, की प्राप्ति को पूरा नहीं कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियों की ओर जा नहीं सकती। लेकिन इसके पहले कि वह इसमें सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियां ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खिंचने के लिए प्रभावित कर लें। या धीरे-धीरे उसकी जगह लें। लेकिन, यह सम्भव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय [illegible] अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की वरवादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणो के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयाँ मे डालने के सिवा, जिससे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कही नही ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में एक सूत्र में वँध जाना चाहिए और सवको 'मिलकर मुकाविला' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी काव्यमयी भावुकता के साथ इसका ज़ोरो से प्रचार करती है। वह कवीयत्री है, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर जोर देनें का उन्हे अधिकार है। इसमे शक नही कि 'सयुक्त मुकाविला' हमेशा ही वाञ्छनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह मुका-विला हो। इस वाक्य का विश्लेषण किया जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते है कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गो के चोटी के व्यक्तियो का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यत शकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथ-प्रदर्शन करेगे। जैसाकि सवको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते है, इसलिए नतीजा होगा 'सयुक्त अवरोध' अर्थात् सव हलचलो का रुक जाना—'सयुक्त सामने' के बजाय 'सयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना वेवकूफी होगी कि हम लोग दूसरो के साथ सहयोग या समझौता न करेगें। जीवन और राजनीति दोनो ही इतने गूढ है कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "विना समझौता किये या मार्ग वदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोरपन है, और क्रान्तिकारी

धर्म की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाजिमी है, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक परेशान होने की जरूरत नही है। हम समझौता करे या उससे इन्कार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओ को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुयें उनका स्थान कभी न लेने पावे। अगर हम अपने सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ है तो स्थायी समझौते कुछ नुकसान नही पहुंचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपने कमजोर भाइयो की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तो और ध्येयो से पीछे न हट जायें। किसी को गुमराह करना कही ज्यादा बुरा है, बनिस्वत किसी को नाखुश करने के।

मै प्रचलित घटनाओ के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मै तमाशबीन नही बना रहता, बल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफी उत्तेजना के बिना ही मै बेवकूफी से उसमें कूद पडता हूँ। मै अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओ को क्या करने की सलाह दूंगा, यह सब निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामो मे लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने मे रोक देती है। लेकिन अगर मै सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मै कुछ नही जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मै काम कर नही सकता, तब परेशान क्यो होऊँ? जरूर हाँ मै एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मै जेल में हूँ, तबतक तो, मै तत्काल-निर्णय की समस्याओं के चक्कर में फँसने मे बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलो से दूर रहना पडता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओ का शिकार होकर रहना पडता है, कार्य का विषय बनकर नही, भविष्य में कुछ होने की आशा में रह-रहकर इन्तज़ार करना पडता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओ पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जोकि एक अरसे से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या नाता ? कैदियो की एक ही बात में खास बडी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख का खयाल।

नैनी जेल में और यहाँ अलमोडा में भी बहुत-से कैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे मे पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नही सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है, लेकिन बाद को मुझे खयाल आया कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफवाहो की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणो के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था—कुछ लोगो की जेल से मुक्ति या सजा में काफी कमी। इसलिए हरेक कैदी, और खास कर लम्बी अवधिवाले कैदी, आगे आनेवाली 'जुगली' के बारे में बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-सुधार-विधान, पार्लमेण्ट के कानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म की बनिस्वत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज थी।

# उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है, किन्तु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें।

तालमुद

मैं अपनी कहानी की समाप्ति पर पहुँच गया हूँ। अपनी जीवन-यात्रा का, अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण, जैसा कुछ भी यह है, अलमोड़ा जिला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फरवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले आज के ही दिन मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनाई थी, और मैं ख़याल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का ख़याल मुझपर छा जाता है, लेकिन फिर मैं अपने को उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे दिमाग में सदमों को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मैं अभी काफ़ी अर्से तक ज़िन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है।

मेरे यह साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नहीं रहे हैं, कई बरसों के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नहीं दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए हैं, क्योंकि इन बरसों को मैंने, उनके सब उतार-चढ़ाव सहित, अपने हज़ारों देश-भाइयों और बहनों के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका मज़मून वर्णन है। मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ

काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ, और फिर भी, दूसरी इकाइयो की तरह दूसरों से अलग जन-कोलाहल के बीच मे अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट हुए है, और उनके अनुसार अपने अनेक रंग बताये है, लेकिन हमने जो-कुछ किया उसमें बहुत कुछ असलियत थी, बहुत सचाई थी, और उसने नगण्य-प्राणियो को ऊँचा उठा दिया, हमे अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमे मिल नही सकता था। कभी-कभी हमे जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन बिताना, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्त क्लेश से भरा होता।

इन वर्षो में मुझे बहुत-से तोहफो के साथ-साथ एक अनमोल तोहफा यह भी मिला है कि मैं जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, वह अब भी मुझमे है और मेरी हलचलों, उसी तरह पुस्तको के पठन-पठान में रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने में मैंने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हे देने का—जहाँ तक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से स्मृति मे लाना कठिन है, और बाद में आनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नही है। इस तरह मेरे प्रारम्भिक दिनो के वर्णन पर पिछले विचारो का प्रभाव जरूर पडा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, [illegible]

ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नहीं है, कि मैं क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता के भावों को प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि और भी अधिक खतरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानों, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढ़ता के कारण, जिसे कि उन्होंने 'आत्म-सम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। 'आत्मसम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूँगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नहीं हैं, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनों होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद तो बहुत घटनायें घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्करदार जीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुँचे, जब कि मैं पृथिवी पर ही, पृथिवी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनों एक राष्ट्रवासी हैं अब उनमें और मुझमें कोई समानता नहीं रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश-राज्य के जबरदस्त हामी हैं, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक हैं और खुद भी एक देशी रियासत में स्वेच्छाचारिता के चमकदार आभूषण बने हुए हैं। मैं समझता हूँ, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं, लेकिन एक साधारण से मामले में हम सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिलकुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूँ। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल इस

मैं किसी के भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मैं इसी नतीजे पर पहूँचता हूँ कि, नही, मैं वैसा नही करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते है। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर—बन गया हूँ, हर जगह बेमौजू—अपने घर मे कही का भी नही-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तान जैसा कि वह अपने सब बच्चों के हृदय में रहता है, अनेक रूप से मेरे हृदय में भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ, (या सख्या कुछ भी हो) पीढियो के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतियाँ छिपी हुई है। मैं अपने पिछले सस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नही सकता। यह दोनो मेरे अग होगये है, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनो मे मिलने में सहायता करते है, वहाँ साथ ही, न केवल सार्वजनिक कार्यों में बल्कि खुद जीवन में भी एक अध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते है। पश्चिम मे मैं विदेशी हूँ—अजनबी हूँ। मैं उसका हो नही सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मै कहीका निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है, लेकिन, ज्यो-ज्यो हम उसके नजदीक पहुँचते है, कठिनाइयाँ दिखाई देने लगती है, और जैसे-जैसे ऊँचे चढते जाते है, चढाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलो में छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढाई प्रयत्न किये जाने योग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज सघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नही। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है, कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान

होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और दरअसल जिसमें कुछ सचाई है, उसे नजरअन्दाज कर दिया जाता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि किसीके उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूँ कि बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसो मैंने जेल में बिता दिये! अकेले बैठे हुए, अपने विचारो मे डूबे हुए, कितनी ऋतुओ को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त मे विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओ को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने अतीत दिवसो की यही चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन अतीत दिवसो की प्रेतात्माओ को उठते हुए, अपनी दु खद स्मृतियो को साथ लाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करने योग्य था"! और इसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नही है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमें शक नही कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन मे अनेक तबदीलियां करने की कोशिश करूँगा, जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयो में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यो-के-त्यो बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हे बदल नही सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कही अधिक जबरदस्त हैं, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खींचकर उन तक पहुँचाया है।

मेरी सजा का आज पूरा एक बरस हो गया, सजा के दो बरसो में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाकी है, क्योंकि इस बार रियायती दिन न घटेंगे, सादी सजा में इस तरह दिन नहीं घटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि में बढ़ा दिये गये है। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा--मगर उसके बाद ? मैं नहीं जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, यह मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के---'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते है।

---

## कुछ और

बेडनवीलर, स्वार्टस्वाल्ड
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से यूरप इलाज कराने के लिए गई। उसके यूरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना बन्द हो गया, पहाड़ी सड़को पर मेरा हर पखवाड़े आवागमन बन्द हो गया। वह मुझे अब दिखाई न देती थी, और अलमोड़ा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दी। लेकिन अधिक समय के लिए नही, क्योंकि भारत सरकार हमें उसको या उसके विचित्र तरीको को, भूलने नही देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जोकि भूकम्प सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते है, क्वेटा जाने और पीडितो की सहायता करने

की इजाजत नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्य-कर्ता को ही वहां जाने दिया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारों की जमानतें जब्त करली गईं।

जिधर देखिए उधर सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली, में सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डंडों से भरी हो, शायद रहने के लिए उपयुक्त स्थान न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्ता को गिरा देता है, क्योंकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे जलील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊंची नौकरियों, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस वालों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊंचे अफसरों में यह सबसे अधिक पाई जाती है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊंचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित-रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। ब्लैकफारेस्ट (जर्मनी) के बेडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी करदी गई है, और

मैं अपनी रिहाई के साढे पाच महीने पहले छोड दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज़ से यूरप को रवाना हुआ।

यूरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवो की आशकायें और आर्थिक सकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मँडराते रहते हैं, अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहाँ की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्तायें आपस में टकरा रही है और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई हैं, और अपने अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इग्लैड, साम्राज्यवादी सत्ताओ का सिरमौर इग्लैण्ड, शान्ति और राष्ट्रसघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लैक फारेस्ट' मे शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह स्वस्तिक भी नजर नही आता। मैं देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रास के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मै हैरत में हूँ कि उस पार क्या है?

---

# परिशिष्ट—क

[ २६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र ]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल हम खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी हक है। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार भी गरीबों के रक्त-शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मिल आजादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फी सदी गरीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट होजाने से उनकी बुद्धि भी मंद होगई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानो का भर और भी बढ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अग्रेजी कारखानो से आता है। चुगी के महसूल में अग्रेजी माल के साथ साफतौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबो का बोझा हल्का करने में नही, बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीके से निश्चित की गई है कि जिससे देश का करोडो रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अग्रेजो के जमाने में घटा है उतना पहले कभी नही घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नही आई। हमारे बडे-से-बडे आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सिर झुकाना पडता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिये गये है और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये है। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गाँवो के छोटे-छोटे ओहदो और मुशीगीरी से सन्तोष करना पडता है।

"सस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड ही काट दी और हमे जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जजीरो को ही प्यार करने लगे है।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबरदस्ती छीनकर हमे नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबिले की भावना को बडी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलो में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते है और न विदेशी हमलो से देश की रक्षा कर सकते है। इतना ही नही, चोर, डाकू और बदमाशो के हमलो से भी हम

अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नही बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतंत्रता नही मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायेंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञायें देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

## परिशिष्ट — ख

[ यरवदा सेण्ट्रल जेल,पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वारा सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तोंवाला पत्र। ]

प्रिय मित्रगण,

आप लोगों ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पाँच महीनों में देश में जो गजब की जागृति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले

लोगो में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगो ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते है कि न तो वह कष्ट-सहन काफी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश पूरा हो जाय। शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नही है कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय मे खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेजो का इतिहास ऐसे-ऐसे रक्तपूर्ण क्रान्तियो के उदाहरणो से भरा पड़ा है जिनकी प्रशसा के राग गाते हुए अग्रेज लोग कभी नही थकते, और उन्होने हम लोगो को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज को शोभा नही देता। पर जो सरकारी या गैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते है, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नही है। हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, यही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। [illegible] यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ [illegible] की कामना करते है कि अगर [illegible], [illegible]

यह विश्वास दिलाते हैं कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सबको ढूंढकर उनका आसरा लेने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शान्त का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। हमें अभीतक इस बात का कोई आसार नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणायें की हैं और जिनमें से बहुत-सी प्राय अच्छे उद्देश से की गई हैं, उनपर हम विश्वास नहीं करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियों की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये हैं, उनके कारण उन अंग्रेजों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गई है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायें, और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे वे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें, और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और मित्र लोगों के विचार हमारे उन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है, और अधिक

नही तो कम-से-कम इतना परिवर्तन जरूर हो गया है कि जिससे हम लोगो को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालाँकि हम इस समय एक खास तरह के बन्धन मे पडे हुए है, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम मे खुशी से आप लोगो का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पडे हुए है, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न मे हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस हद तक सहायता दे सकते है, वह इस प्रकार है —

(१) हम यह समझते है कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध मे जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय माँग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नही कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कांग्रेस की कार्य-समिति, और जरूरत हो तो महासमिति के नियमित अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सके। पर हम इतना अवश्य कह सकते है कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगो के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दो में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जो उसके निवासियो के प्रति उत्तरदायी हो। उसे देश की रक्षक शक्तियो (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयो पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमें उन ११ बातो का भी समावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थी। (7) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त न हो जाय कि जरूरत हो तो

वह एक ऐसी स्वतन्त्र पंचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अँग्रेजों को जो विशेष पावने और रिआयतें वगैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं हैं, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य हैं या नहीं।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की जरूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे।

(२) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचे और वह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम कांग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफारिश करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अविज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, अर्थात्, केवल आज्ञा-भंग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनों का भंग न किया जाय। पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी वगैरा की दूकानों पर सब तरह शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़े की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरों में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-कानून की दण्ड-सम्बन्धी धारायें काम में नहीं लाई जायेंगी। नमक के सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

(३) (क) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, ज्योंही उसके साथ ही सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक कैदी, जो सजा पा चुके हैं पर जो हिंसा के अपराधी नहीं हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार द्वारा छोड़ दिये जायेंगे।

कानूनो के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियाँ ज़ब्त की गई हैं, वे सब लोगो को वापिस करदी जायँगी। (ग) सजायाफ्ता सत्याग्रहियो से जो जुर्माने वसूल किये गये हैं या जो जमानते ली गई है, उन सबकी रकमें लौटा दी जायँगी। (घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमे गाँवो के कर्मचारी भी शामिल है, जिन्होने अपने पद से स्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुडा दिये गये है, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधारायें दी गई है, उनका व्यवहार असहयोग-काल के सजायाफ्ता लोगो के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, वे सब रद कर दिये जायँगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायँगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई प्रारम्भिक बातो का संतोष-जनक निपटारा हो जायगा।

भवदीय

मोतीलाल नेहरू, मोहनदास करमचन्द गांधी,
सरोजिनी नायडू, वल्लभभाई पटेल,
जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद,
जवाहरलाल नेहरू।

## परिशिष्ट—ग

[ २६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया स्मारक-प्रस्ताव ]

"भारत-माता की उन सन्तानो का, जिन्होंने आजादी की महान् लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट और

कुर्बानी की, अपने उन महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे है, और जो हमें सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनो का मार्ग दिखाते रहे है, उन सैंकडो हजारो बहादुर नवयुवको का, जिन्होने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणो की बलि चढाई, पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का, उन सैंकडो हजारो भाइयो का, जिन्होंने दुश्मन के नृशस लाठी-प्रहारो का मुकाबिला किया और उन्हे सहा, गढवाली रेजीमेन्ट के सैनिको और फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियो का, जिन्होने कि अपनी जाने खतरे में डालकर भी अपनी देश भाइयों पर गोली आदि चलाने से इन्कार कर दिया, गुजरात के उन दबग किसानो का, जिन्होने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशस अत्याचारो का मुकाबिला किया, भारत के अन्य प्रदेशो के उन बहादुर और पीडित किसानो का, जिन्होने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लडाई में पूरा भाग लिया, उन व्यापारियो और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का, जिन्होने कि जबरदस्त नुकसान उठाकर भी राष्ट्रीय सग्राम में, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में, सहायता दी, उन एक लाख स्त्री-पुरुषो का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहांतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं, और खासकर उन साधारण स्वयंसेवकों का, जिन्होंने कि भारतमाता के सच्चे सिपाहियो की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एक-मात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टो और कठिनाइयो के बीच भी अनवरत और शान्तिपूर्वक काम किया, हम [illegible] के निवासी गौरव और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से अभिवादन करते है, और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते है, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के सकट के समय अपने

घरो की शरण छोडकर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना में अपने भाइयो के साथ कधे-से-कधा भिडाकर अगली कतार में खडी रही और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया, और भारत की उस युवकशक्ति और वानर-सेना पर जिसे कि उसकी सुकुमार आयु भी लडाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर कुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते है।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते है कि भारत की सब बडी और छोटी जातियो और वर्णों ने इस महान् सग्राम में हाथ बँटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर अल्पसख्यक जातियो—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते है, जिन्होने अपने साहस और अपनी अनन्य मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे सयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतत्रता प्राप्त करने और उसे कायम रखने तथा उस नवीन स्वतत्रता का भारत के सब समुदाय के लोगो की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणो को अपने सामने रखते हुए हम स्वतत्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते है और जबतक हिन्दुस्तान आजाद नही हो जाता तबतक अपनी लडाई जारी रखने का निश्चय करते है

भूतकाल की झाकी देख और अपने को आदर्श स्त्री-रत्न बनावें। तीन भागो मे। चौथा भाग तैयार हो रहा है। मूल्य ३)

७. अनोखा। (अप्राप्य)

८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान। (जगन्नारायणदेव शर्मा) इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य की महिमा, उसके पालन की विधि, उसके लाभ आदि बातें बहुत अच्छे ढंग से बताई गई है। पुस्तक में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि सद्ग्रन्थो के शुभ वचनो का बहुत अच्छा सग्रह है। मूल्य ।।।=)

९. यूरोप का इतिहास। (रामकिशोर शर्मा) यह राष्ट्रीयता, आत्म-बलिदान तथा आजादी का इतिहास है। हर भारतीय को यह इतिहास जरूर पढना चाहिए। मूल्य [illegible])

१०. समाज-विज्ञान। ( चन्द्रराज भण्डारी ) समाज-रचना, [illegible] विकास तथा निर्माण पर इसमें बहुत अच्छी तरह [illegible] है। समाजशास्त्र पर हिन्दी की मौलिक पुस्तक। मूल्य १।।)

११. खद्दर का संपत्तिशास्त्र। [illegible] The [illegible] of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। इसमें [illegible]

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह। (महात्मा गांधी) सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का खुद गांधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़ें कि किस प्रकार बहादुरी ने इस अस्त्र द्वारा अफ्रीका-वासियो ने अपने अधिकारो की बिना दूसरो को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १॥)

विजयी बारडोली। [ अप्राप्य ] मूल्य २)

अनीति की राह पर। संयम, इंद्रिय-निग्रह तथा ब्रह्मचर्य पर गांधीजी की यह कृति अनुपम और सर्वश्रेष्ठ है। मूल्य ॥=)

७. सीता की अग्नि-परीक्षा। (काली प्रसन्न घोष) लंका-विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। विज्ञान का हवाला देकर, यह बताया गया है कि सीता की अग्नि-परीक्षा की घटना सच्ची है। मूल्य ।=)

८ कन्या शिक्षा। हिन्दी के यशस्वी लेखक स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री ने इसमें बिलकुल सरल ढंग से, शुरू से लेकर विवाह के बाद तक के कन्याओ के जीवन तथा उनके कर्त्तव्यो की चर्चा प्रश्नोत्तर के रूप में बड़े सुन्दर ढंग से की है। कन्याओ के सीखने योग्य सभी बातें इसमें आगई है। मूल्य ।)

१९ कर्मयोग। अश्विनीकुमार दत्त की यह पुस्तक पढ़ने से पाठक 'कर्मयोग' के संसार में प्रवेश पा जाते है और उनको पारमार्थिक सुख का अनुभव होने लगता है। मूल्य ।=)

२०. कलवार की करतूत। रूस के महान् लेखक महात्मा टाल्स्टाय की सरल भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक और शिक्षा-प्रद कहानी। मूल्य =)

२१. व्यावहारिक सभ्यता। बच्चो युवको, यहाँ तक कि अवस्था-प्राप्त लोगो के लिए भी रोज़ के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओ की पोथी। बोधप्रद, शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ॥)

२२. अन्धेरे में उजाला। टाल्सटाय के Light Shines in The Darkness नामक नाटक का अनुवाद। इस नाटक मे टाल्सटाय ने अपने जीवन की छाया अंकित की है। उनके हृद्गत मनोभावो और हृदय-मथन की यह अनुपम कहानी है। मूल्य ॥)

२३. स्वामीजी का बलिदान। (ह० उ०) [ अप्राप्य ] मूल्य ।-)

२४. हमारे ज़माने की गुलामी। [ जब्त . अप्राप्य ] मूल्य ।)

२५. स्त्री और पुरुष। सयम तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्सटाय की यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। स्त्रियो को अपनी इच्छा-पूर्ति का साधन समझनेवाले इसे पढें और समझे कि स्त्री-पुरुषो का सम्बन्ध भोग-विलास का नही बल्कि एक पवित्र उद्देश्य के लिए किया गया एक पवित्र सम्बन्ध है। मूल्य ॥)

२६. सफाई। घर, गाँव तथा शरीर की सफाई के सम्बन्ध में उत्तम पुस्तक। ग्रामीणो के काम की चीज़। मूल्य ।=)

२७ क्या करें ? टाल्सटाय की सुप्रसिद्ध पुस्तक What to do ? का अनुवाद। गरीबो एव पीडितो की समस्यायें और उनका हल। यह पुस्तक नही बल्कि समभावी हृदय का मथन है। मूल्य १॥=)

२८. हाथ की कताई-बुनाई। [ अप्राप्य ] मूल्य ॥-)

२९. आत्मोपदेश। यूनान के प्रसिद्ध विचारक [illegible] के उत्तम और महत्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह। मूल्य ।)

३० यथार्थ आदर्श जीवन। [ अप्राप्य ] मूल्य ।।।–)

३१ जब अंग्रेज नहीं आये थे। इसमें बताया गया है कि भारत की दुर्दशा किस प्रकार अंग्रेजों के यहाँ आने के बाद से शुरू हुई। स्व०-दादाभाई नौरोजी की Poverty and Un-British Rule in India के आधार पर लिखित। मूल्य ।)

३२ गंगा गोविन्दसिंह। [ अप्राप्य ] मूल्य ।।=)

३३ श्री रामचरित्र। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की कहानी। करुण और मधुर। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का जीवन-चरित्र। मूल्य १।)

३४ आश्रम-हरिणी। (वामन मल्हार जोशी) एक पौराणिक गाथा। विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिकों के विचार। मूल्य ।)

३५ हिन्दी-मराठी-कोष। (अप्राप्य)

३६ स्वाधीनता के सिद्धान्त। आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मैक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद। आज़ादी की इच्छावालों की नसों में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरनेवाली पुस्तक। मूल्य ।।)

३७ महान् मातृत्व की ओर। ( नाथूराम शुक्ल ) इस पुस्तक में मातृत्व की जिम्मेदारी, उसकी गुरुता और आदर्श का दिग्दर्शन है। स्त्री-उपयोगी उत्तम और दिलचस्प पुस्तक। मूल्य ।।।=)

३८ शिवाजी की योग्यता। (तामनकर) छत्रपति शिवाजी का चरित्र-निरूपण। उनकी शासन-प्रणाली का तर्कपूर्ण अध्ययन। मूल्य ।=)

३९ तरंगित हृदय। गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्मा के

विचार-तरगो का सुन्दर सग्रह। स्व० स्वामी श्रद्धानन्द के आशीर्वाद सहित। मूल्य ।।)

४०. हॉलैएड की राज्यक्रान्ति [ नरमेध ] अग्रेजी के सुप्रसिद्ध लेखक मोटले की Rise of the Duch Republic के आधार पर श्री चन्द्रभाल जौहरी का लिखा हुआ डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमाचकारी इतिहास। हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाला क्रांतिकारी ग्रथ। मूल्य १।।)

४१. दुखी दुनिया। गरीब और पीडित मानवी दुनिया के करुण चित्र। श्री राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओ पर लिखी कहानियाँ। मधुर, करुण और सुन्दर। मूल्य ।=)

४२. जिन्दा लाश। टाल्सटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। टाल्सटॉय के सब नाटको में यह बडा ही करुण और मर्मस्पर्शी है। मूल्य ।।)

४३. आत्म-कथा। (महात्मा गाधी) ससार के साहित्य का यह एक उज्ज्वल रत्न है। उपनिषदो की भाति पवित्र और उपन्यासों की भाँति रोचक। चरित्र को निर्मल और मन को ऊँचा उठानेवाला। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। मूल्य १।।)

४४. जब अंग्रेज आये। [ जब्त : अप्राप्य ] मूल्य १।=)

४५. जीवन-विकास। डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त को विशद रूप से समझानेवाली हिन्दी में यह एक ही पुस्तक है। मूल्य १।) १।।।

४६. किसानो का बिगुल। [ जब्त : अप्राप्य ] मूल्य =)

४७ फांसी। विक्टर ह्यूगो लिखित Sentence to Death नामक उपन्यास का अनुवाद। फांसी की सजा पाये हुए एक दुखिया के मनोभावो का चित्रण। वेदना और करुण हृदय की झांकी। मूल्य ।=)

४८. अनासक्तियोग। गीता पर महात्मा गांधी की व्याख्या, मूल श्लोक सहित मूल्य केवल ≡)

केवल अनासक्तियोग =), : गीताबोध -)॥

४९ स्वर्ण विहान (हरिकृष्ण प्रेमी) [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मू० ।=)

५० मराठों का उत्थान और पतन। (गोपाल दामोदर तामसकर) मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी भाषा मे भी मराठो का ऐसा सच्चा और बडा इतिहास नही है। ऐसा महाराष्ट्र के अनेक विद्वान् और नेता मानते है। मूल्य २॥)

५१ भाई के पत्र। ( रामनाथ 'सुमन') स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनकी घरेलू एव रोजमर्रा की कठिनाई में पथ-प्रदर्शक; बहनो के हाथो में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। सस्ता सस्करण मूल्य १)

५२. स्वगत। (हरिभाऊ उपाध्याय) चरित्र को गढनेवाले तथा युवको को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उच्च और उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३. युगधर्म। (ह० उ०) [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य १=)

५४ स्त्री समस्या। ( मुकुटबिहारी वर्मा ) नारी-जीवन की जटिल समस्याओं का गम्भीर अध्ययन। स्त्री-आन्दोलन के इतिहास सहित-स्त्रियों की समस्या पर यह अच्छी और सग्रह करने योग्य 'रेफरेन्स' बुक है। मूल्य १॥) सजिल्द २)

५५ विदेशी कपडे का मुकाबिला। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गांधी ने इसमे बतलाया है कि भारत किस प्रकार अपनी जरूरत का पूरा कपडा तैयार कर सकता है और विदेशी कपडे को हिन्दु- मूल्य ॥=)

५६. **चित्रपट** । प्रो० शान्तिप्रसाद वर्मा एम० ए० के
संग्रह । भावनामय, करुण और मधुर ।

५७ **राष्ट्रवाणी** । (गांधीजी) [अप्राप्य]

५८. **इंग्लैण्ड में महात्माजी** । ( महादेव देसाई )
दूसरी गोलमेज परिषद् के समय की इंग्लैंड की य
सरस और मजेदार वर्णन । हिन्दी मे अपने ढग का
वृत्तान्त ।

५९ **रोटी का सवाल** । मशहूर क्रांतिकारी लेखक
की अमर कृति Conquest of Bread का सरल
वाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन ।

६०. **दैवी-सम्पद्** । उत्तम नैतिक एव धार्मिक पुस्तक
मनुष्य को मोक्ष होता है ।' गीता की इस उक्ति क
मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक ।

६१. **जीवन-सूत्र** । अंग्रेजी में थॉमस केम्पिस लिखित
Imitation of Christ का अनुवाद । जीवन
विचारो को सात्त्विक बनानेवाली पोथी । अंग्रेजी
के समान माना जाता है ।

६२. **हमारा कलंक** । अस्पृश्यता निवारण पर महा
एवं लेखो का संग्रह, उनके महान् उपवास की कहा
के आशीर्वाद सहित ।

६३. **बुद्बुद्** । (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शों से जीवन का म
मिलानेवाले युवकों के लिए चिंतनीय पुस्तक ।

६४. **संघर्ष या सहयोग ?** प्रिंस क्रोपाटकिन की
पुस्तक का अनुवाद । इसमें बतलाया है कि

लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है, संघर्ष नहीं, एकता है, लड़ाई नहीं। मूल्य १।)

६५. गांधी-विचार दोहन। (किशोरलाल मशरूवाला) इसमें महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों का बड़ा सुन्दर संकलन और दोहन किया गया है। मूल्य ।।)

६६. एशिया की क्रांति। (सत्यनारायण) [ज़ब्त : अप्राप्य] १।।)

६७. हमारे राष्ट्र-निर्माता। ( रामनाथ 'सुमन' ) लोकमान्य तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्माजी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेण्ट पटेल की जीवनियाँ—उनके संस्मरण, जीवन की झाँकियाँ और उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण। हिन्दी में यह पुस्तक जीवन-चरित्र लिखने का एक नया ही मार्ग उपस्थित करती है। अपने ढंग की एक ही मौलिक पुस्तक। मूल्य २।।) ३)

६८. स्वतंत्रता की ओर। (हरिभाऊ उपाध्याय) इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है, और हम उस लक्ष्य को किस प्रकार और किन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा समाज कैसा हो, हमारा साहित्य कैसा हो, हमारा जीवन कैसा बने, जिससे हम स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते चले जायें। हिन्दी में इस पुस्तक का बड़ा आदर हुआ है और अपने ढंग की एक ही मौलिक पुस्तक मानी जाती है। मूल्य १।।)

६९. आगे बढ़ो। स्वेट मार्डेन के Pushing to the Front का [illegible] अनुवाद। कठिनाई में पड़े युवकों को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली मूल्य ।।)